श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २, ३

गृद्धपिच्छ आचार्य प्रणीत

तत्त्वार्थसूत्र

विवेचन कर्ता
पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक—
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनीघाट, बनारस

प्रकाशक—
श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनी, बनारस।

मूल्य ५)
प्रथम संस्करण
वी० नि० सं० २४७६

मुद्रक—
मेवालाल गुप्त,
बम्बई प्रिंटिंग काटेज
बाँस-फाटक काशी

प्रकाशक के दो शब्द

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला की द्वितीय माला का यह तृतीय मणि है जिसे भाद्रपद शुक्ला ५ की पुण्य वेलामें प्रकाशित करते हुए मैं परम आनन्द का अनुभव करता हूँ।

इसके प्रकाशन में जान या अनजान अवस्था में दूसरों द्वारा जो अड़चनें उत्पन्न की गई हैं उनकी चर्चा करना यहाँ व्यर्थ है। हमें तो खुशी इस बात की है कि उनके रहते हुए भी यह काम किसी न किसी रूप में सम्पन्न किया गया है।

आज हमारे बीच श्रद्धेय गुरुवर्य पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्त-शास्त्री नहीं हैं। ग्रन्थमाला की स्थापना उनकी सत्कृपा का फल है। यदि वे हमारे बीच होते तो उन्हें ग्रन्थमाला की यह प्रगति देखकर कितना आनन्द होता इसकी कल्पना से हृदय भर आता है और आँखें अश्रुओं का स्थान ले लेती हैं।

पूज्य गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी अब पूरी तरह से अपनी वृद्ध अवस्था का अनुभव करने लगे हैं। दीर्घ आयु का उपभोग करते हुए उनका ग्रन्थमाला को चिरकाल तक आशीर्वाद मिलता रहे यही हमारी कामना है।

प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण समय पर न हो सका और दो वर्ष से भी अधिक समय तक यह प्रेसमें पड़ी रही यह दोष हमारा है। यदि हम

दूसरों की सलाह में न उलझे होते तो इसकी यह गति न होती। बम्बई प्रिंटिंग काटेज प्रेसके मालिक श्री मेवालाल जी गुप्त का तो हमें आभार ही मानना चाहिये, क्योंकि उन्हीं की कृपा के फलस्वरूप हम इतने जल्दी इसे प्रकाश में लाने में समर्थ हुए हैं। श्री भाई कन्हैयालाल जी का और प्रेसके दूसरे कर्मचारियों का भी इस काम में हमें पूरा सहयोग मिला है। अतएव हम उनके भी आभारी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन उतना निर्दोष न हो सका जितने की मैं आशा करता था, आशा है पाठक इसके लिये क्षमा करेंगे।

भाद्रपद शुक्ला १५
वी० नि० सं० २४७६

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
संयुक्त मन्त्री
श्री वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनीघाट, बनारस

आत्म निवेदन

तत्त्वार्थसूत्र पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं पर वे मात्र मूल सूत्रों का अन्वयार्थ लिखने तक ही सीमित हैं। मेरा ध्यान इस कमी की ओर गया और इसीलिये मैंने तत्त्वार्थसूत्र पर शंका समाधान के साथ प्रस्तुत विस्तृत विवेचन लिखा है।

यह विवेचन लिखते समय मेरे सामने प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का तत्त्वार्थसूत्र रहा है। इसमें उसका ढाँचा तो मैंने स्वीकार किया ही है, साथ ही कहीं कहीं पण्डितजी के विवेचन को भी आवश्यक परिवर्तन के साथ या शब्दशः मैंने इस विवेचन का अङ्ग बनाया है। पण्डितजी जैन दर्शन के प्रकाण्ड और मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उनकी शैली और भाषा भी मजी हुई और प्रांजल है। इससे मुझे प्रस्तुत विवेचन के लिखने में बड़ी सहायता मिली है।

मेरी इच्छा इसमें जैन दर्शन व धर्म की प्राचीन मान्यताओं को यथावत् संकलन करने की ही रही है। इसके लिये कहीं कहीं मुझे चालू व्याख्याओं में प्राचीन आगमों के आधार से आवश्यक परिवर्तन भी करना पड़ा है। मेरा विश्वास है कि जैनदर्शन जैसे सूक्ष्म विषय के अध्ययन करने में इससे बड़ी सहायता मिलेगी।

एक बात अवश्य है कि सर्वार्थसिद्धि में जो 'पुट्ठं सुणोदि सद्दं' इत्यादि गाथा उद्धृत है उसका ठीक विवेचन मैंने सर्वार्थसिद्धि के अनुवाद में किया है। उसके अनुसार स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ये चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार की ठहरती हैं। किन्तु प्रस्तुत विवेचन में इस बात का निर्देश नहीं कर सका हूँ। इसमें 'अर्थस्य' सूत्र की व्याख्या करते समय सर्वार्थसिद्धि के आधार से जो

'अर्थ' शब्द की परिभाषा दी है वह अधूरी है। वहाँ उक्त चारों इन्द्रियों के विषय को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी मान कर ही उक्त व्याख्या की संगति बिठानी चाहिये।

मैंने इस विवेचन का प्रारम्भिक ढाँचा जयधवला कार्यालय में काम करते हुए तैयार किया था। इसके बाद वर्णी ग्रन्थमाला में काम करते हुए मुझे इसमें बहुत कुछ परिवर्धन और परिवर्तन करना पड़ा है। इससे यह विवेचन उस समय लिखे गये विवेचन से न केवल दूना हो गया है अपितु अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की रूपरेखा में भी परिवर्तन हो गया है।

मेरी इच्छा इसकी विस्तृत प्रस्तावना लिखने की थी, आवश्यक परिशिष्ट भी तैयार करने थे पर इस समय खुरई गुरुकुल की व्यवस्था की ओर चित्त बटा होने के कारण मैं ऐसा नहीं कर सका। तत्काल मूल सूत्रकर्ता के विषय में मैंने जो रूपरेखा उपस्थित की है आशा है उस ओर विद्वानों का लक्ष्य अवश्य जायगा।

इस विवेचन के तैयार करने में मुझे अनेक महानुभावों से सहायता मिली है इसलिये मैं उन सबका तो आभारी हूँ ही, साथ ही मैं प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का विशेषरूप से आभारी हूँ, क्योंकि उन्हीं के तत्त्वार्थसूत्र से मुझे यह प्रेरणा मिली है।

मैं इस प्रयत्न में कितना सफल हुआ हूँ यह कार्य मैं स्वाध्याय प्रेमियों पर छोड़ता हूँ।

भाद्रपद शुक्ला ५
 वी० नि० सं० २४७६ } फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रस्तावना

तत्त्वार्थसूत्र का महत्त्व

तत्त्वार्थसूत्र को कुछ पाठभेद व सूत्रभेद के साथ जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों ने समान रूप से स्वीकार किया है। वैदिकों में गीता का, ईसाइयों में बाइबिल का और मुसलमानों में कुरान का जो महत्त्व है वही महत्त्व जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का माना जाता है। अधिकतर जैन इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं और कुछ अष्टमी चतुर्दशी को। दशलक्षण पर्व में इस पर प्रवचन भी होते हैं जिन्हें आम जनता बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण करती है। जो कोई इसका पाठ करता है उसे एक उपवास का फल* मिलता है ऐसी इसके सम्बन्ध में ख्याति है। संकलन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। इसमें जैन दर्शन की मूलभूत सभी मान्यताओं का सुन्दरता पूर्वक संकलन किया गया है। इसके अन्त में मोक्ष का प्रधानता से विवेचन होने के कारण इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। किन्तु पुराना नाम इसका तत्त्वार्थसूत्र ही है। सभी आचार्यों ने इसका इसी नाम से उल्लेख किया है। अवश्य ही श्वेताम्बर परम्परा में इसका तत्त्वार्थाधिगम यह नाम कहा जाता है पर व्यवहार में वहां भी इसकी तत्त्वार्थसूत्र इस नाम से ही प्रसिद्धि है।

पाठभेद का कारण

तत्त्वार्थसूत्र के मुख्य पाठ दो मिलते हैं—एक दिगम्बर परम्परा मान्य और दूसरा श्वेताम्बर परम्परा मान्य। इन दोनों पाठों में कोई

---

* दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

तात्त्विक भेद नहीं है। क्योंकि जितने भी विवादस्थ सूत्र हैं उन्हें दोनों परम्पराओं ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ नौवें अध्याय के २२ परीषहवाले सूत्र को और इसी अध्याय के केवली के ११ परीषहों का सद्भाव बतलानेवाले सूत्र को दोनों परम्पराएँ स्वीकार करती हैं। इसलिये तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रभेद या पाठभेद का कारण सम्प्रदाय भेद न होकर रुचिभेद या आधारभेद रहा है ऐसा ज्ञात होता है। थोड़ा बहुत यदि मान्यताभेद है भी तो भी उसका मुख्य कारण साम्प्रदायिकता नहीं है इतना स्पष्ट है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के भेद का मुख्य कारण मुनि के वस्त्र का स्वीकार और अस्वीकार ही रहा है। दिगम्बरों की मान्यता है कि पूर्ण स्वावलम्बन की दीक्षा का नाम ही मुनि दीक्षा है, इसलिये वस्त्र को स्वीकार कर कोई भी व्यक्ति साधु नहीं बन सकता। स्त्री के शरीर की रचना ऐसी होती है जिससे वह वस्त्र का त्याग नहीं कर सकती और न एकाकिनी होकर वह विहार ही कर सकती है। इसीसे दिगम्बर परम्परा में उसे साध्वी दीक्षा के अयोग्य माना गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इस व्यवस्था का तात्त्विक पहलू नहीं देखती। इन दोनों परम्पराओं में मतभेद का कारण इतना ही है बाकी की सब बातें गौण हैं। उनका आधार साम्प्रदायिकता नहीं है।

कर्ता विषयक मतभेद

प्रकृत में देखना यह है कि तत्त्वार्थसूत्र किस की रचना है। साधारणतः दोनों परम्पराओं के साहित्य का आलोढन करने से ज्ञात होता है कि इस विषय में मुख्य रूप से चार उल्लेख पाये जाते हैं। प्रथम उल्लेख तत्त्वार्थाधिगम भाष्य का है। इसके अन्त में एक प्रशस्ति दी है जिसमें इसके कर्ता रूप से वाचक उमास्वाति का उल्लेख किया गया है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

'वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २ ॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

यद्यपि इसमें तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र के रचयिता रूप में उमा-स्वातिका उल्लेख किया गया है किन्तु इससे यह ज्ञात नहीं होता कि तत्त्वार्थाधिगम यह संज्ञा किसकी है—मूल सूत्रों की, भाष्य की या दोनों की ?

उक्त प्रशस्ति के चौथे और पाँचवें श्लोक में यह बात कही गई है कि गुरु परम्परा से प्राप्त हुए श्रेष्ठ अर्हत वचन को भली प्रकार धारण कर...इस तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र की रचना की गई है। इस पर से यह 'आर्हत वचन' क्या वस्तु है यह जानने की जिज्ञासा होती है। बहुत सम्भव है कि वाचक उमास्वाति के सामने तत्त्वार्थ विषयक मूल सूत्र रहे हों जिनको आधार मानकर इन्होंने उनका सम्यक् प्रकार से ज्ञान करानेवाला यह तत्त्वार्थाधिगम नामक भाष्य लिखा हो। जो कुछ भी हो,

उक्त कथन से इतना तो स्पष्ट है कि भाष्यकार वाचक उमास्वाति इस विषय में स्वयं मौन हैं। उनकी प्रशस्ति से यह नहीं ज्ञात होता कि उन्होंने स्वयं मूल सूत्रों की रचना की है। और न ही भाष्य के प्रारम्भ में आये हुए श्लोकों से इस बात का पता लगता है। हाँ उनके बाद के दूसरे श्वेताम्बर टीकाकारों ने यह अवश्य स्वीकार किया है कि उमास्वाति ने मूल सूत्र और भाष्य दोनों की रचना स्वयं की है।

२—दूसरा उल्लेख वीरसेन स्वामी की धवला टीका का है जिसमें तत्त्वार्थसूत्र के कर्तारूप से गृद्धपिच्छ आचार्य का उल्लेख किया गया है। काल द्रव्य की चरचा करते हुए वीरसेन स्वामी जीवट्ठाण के काल अनुयोगद्वार (पृ० ३१६ मुद्रित) में लिखते हैं—

'तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते विवर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य इदि दव्वकालो परूविदो।'

वीरसेन स्वामी ने शक सं० ७३८ में धवला टीका समाप्त की थी। ये सिद्धान्त, ज्योतिष, गणित और इतिहास आदि अनेक विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके द्वारा 'गृद्धपिच्छ आचार्य द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें' ऐसा उल्लेख किया जाना साधारण घटना नहीं है। मालूम पड़ता है कि वीरसेन स्वामी के काल तक एकमात्र गृद्धपिच्छ आचार्य तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाते थे। गृद्धपिच्छ को विशेषण मानकर उमास्वाति या उमास्वामी इस नाम को प्रमुखता बहुत काल बाद मिली है।[1] विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक से भी इसी बात का समर्थन होता है

---

1 पिछली मुद्रित आप्तपरीक्षा की स्वोपज्ञ वृत्ति में 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः' पाठ है पर मालूम होता है कि यह किसी टिप्पणी का अंश मूल में सम्मिलित हो गया है। न्यायाचार्य दरबारीलाल जी ने आप्तपरीक्षा का सम्पादन किया है उसमें यह पाठ नहीं है।

क्योंकि उन्होंने 'गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण' इस पद द्वारा स्पष्टत: गृद्धपिच्छाचाय को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता घोषित किया है।

३ तीसरा उल्लेख चन्द्रगिरि पर्वत पर पाये जानेवाले शिलालेखों का है। इनमें से ४०, ४२, ४३, ४७, ५० वें शिलालेखों में गृद्धपिच्छ विशेषण के साथ उमास्वातिका उल्लेख किया है और शिलालेख १०५ व १०८ में उन्हें तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता भी बतलाया है। ये दोनों शिलालेख डा० हीरालाल जी के मतानुसार क्रमशः शक सं० १३२० और शक सं० १३५५ के माने जाते हैं। शिलालेख १०५ का उद्धरण इस प्रकार है—

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥१५॥
तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छद्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यंगनामोहनमण्डनानि ॥१६॥

शिलालेख १०८ में इसी बात को इस प्रकार लिपिबद्ध किया गया है—

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥११॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥ १२ ॥

४ चौथा उल्लेख निम्नलिखित श्लोक के आधार पर है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

इसमें गृद्धपिच्छ से उपलक्षित उमास्वामी मुनीश्वर को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता बतलाया है और इन्हें गणीन्द्र कहा है।

आधुनिक विद्वानों का मत

इस प्रकार ये चार मत हैं जो प्रमुखता से तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। आधुनिक विद्वान् भी इन्हीं के आधार से कुछ न कुछ अपना मत बनाते हैं। अभी तक उन्होंने इस विषय में जो कुछ भी लिखा है उस पर से दो मत फलित होते हैं—

१ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्ता उमास्वाति ने ही तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। इस मत का प्रतिपादन प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी प्रभृति विद्वान् करते हैं।[1] ये इन्हें श्वेताम्बर परम्परा का मानते हैं।

२ तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वाति हैं जो कुन्द कुन्द के शिष्य थे। और तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्ता कोई दूसरे आचार्य हैं। इस मत का प्रतिपादन पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार प्रभृति विद्वान् करते हैं।[2] ये इन्हें दिगम्बर परम्परा का मानते हैं।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भी इस विषय की विस्तृत चर्चा की है। उनका इस विषय का एक लेख स्व० बाबू श्री बहादुरसिंहजी सिंघी की स्मृति में मुए 'भारतीय विद्या' के तीसरे भाग में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रेमीजी ने प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी के मत का समर्थन किया है। यदि इन दोनों विद्वानों में कोई मतभेद है तो एकमात्र इस बात में है कि वे किस सम्प्रदाय के थे। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी इन्हें श्वेताम्बर परम्परा का मानते हैं और प्रेमीजी यापनीय परम्परा का। अब मालूम हुआ है कि प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का मत पुनः बदल गया है और वे भी प्रेमीजी के समान उन्हें यापनीय परम्परा का मानने लगे हैं।

---

१ देखो पं० सुखलालजी के तत्त्वार्थसूत्र का प्रस्तावना।

२ देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित रत्नकरण्ड की प्रस्तावना।

कर्तृत्व विषयक भ्रम का निराकरण

यद्यपि यहाँ मुख्य रूप से यह विचारणीय नहीं है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता किस परम्परा के थे। वे किसी भी परम्परा के रहे हों इसमें हानि नहीं है, क्योंकि सवस्त्र दीक्षा और इससे सम्बन्धित अन्य विषयों को छोड़कर शेष विषय साम्प्रदायिकता से सम्बन्ध नहीं रखते। यहाँ तो हमें प्रमुखता से यह देखना है कि तत्त्वार्थसूत्र के संकलन का मुख्य श्रेय किसे दिया जाय।

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं तदनुसार यदि पूर्वोक्त सभी उल्लेखों को प्रमाण माना जाय तो तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता चार आचार्य ठहरते हैं—गृद्धपिच्छ, वाचक उमास्वाति, गृद्धपिच्छ उमास्वाति और गृद्धपिच्छ उमास्वामी, इसलिये विवेक यह करना है कि इन उल्लेखों में किसे प्रमाण माना जाय।

यह तो स्पष्ट है कि गृद्धपिच्छ विशेषण के साथ उमास्वाति का उल्लेख चन्द्रगिरि पर्वत पर पाये जानेवाले शिलालेखों के सिवा अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया है इसलिये अधिकतर सम्भव तो यही दिखाई देता है कि यह नाम कल्पित हो और यह भी सम्भव है कि इसी प्रकार गृद्धपिच्छ उमास्वामी यह नाम भी कल्पित हो। यह हम जानते हैं कि मेरे ऐसा लिखने से अधिकतर विद्वानों को धक्का लगेगा पर यह अनुशीलन का परिणाम है। इसी से ऐसा लिखना पड़ा है।

दिगम्बर परम्परा में गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाते थे और श्वेताम्बर परम्परा में वाचक उमास्वाति हुए हैं जो उत्तरकाल में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाने लगे थे, इसलिये ये दोनों नाम मिलकर आगे इस भ्रम को जन्म देने में समर्थ हुए कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वाति हैं और स्वाति से स्वामी शब्द बनने में देर नहीं लगी इसलिये किसी किसी ने यह भी घोषणा की कि तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वामी हैं।

हमें ऐसा निर्णय करने में इस कारण से भी सहायता मिली है कि ११ वीं शताब्दि के पहले के किन्हीं दिगम्बर आचार्यों ने इन नामों का उल्लेख नहीं किया है। श्वेताम्बर परम्परा में यद्यपि उमास्वाति यह नाम आया है पर उसका विशेषण वाचक है न कि गृद्धपिच्छ और दिगम्बर परम्परा में ११ वीं शताब्दि के पूर्व मात्र गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख मिलता है, इसलिये गृद्धपिच्छ उमास्वाति या गृद्धपिच्छ उमास्वामी इस नाम के न तो कोई आचार्य हुए और न वे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता ही माने जा सकते हैं।

अब देखना यह है कि आखिर तत्त्वार्थसूत्र की रचना किसने की। पूर्वोक्त आधारों से हमारे सामने ऐसे दो काम शेष रहते हैं जिन्हें तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता माना जाता है—एक गृद्धपिच्छ और दूसरे वाचक उमास्वाति। दिगम्बर आचार्य गृद्धपिच्छ का तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता रूप से उल्लेख करते हैं और श्वेताम्बर आचार्य वाचक उमास्वाति का। यह माना जा सकता है कि दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ रहे हों और श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता वाचक उमास्वाति रहे हों पर यहाँ मुख्य विवाद इस बात का नहीं है मुख्य विवाद इस बात का है कि सर्व प्रथम मूल तत्त्वार्थसूत्र की रचना किसने की गृद्धपिच्छने या वाचक उमास्वाति ने।

इस समय हमारे सामने तत्त्वार्थसूत्र की दोनों परम्पराओं की दृष्टि से दो आद्य टीकाएँ उपस्थित हैं—एक सर्वार्थसिद्धि और दूसरा तत्त्वार्थाधिगम भाष्य। इन दोनों की स्थिति समान है। इन्हें देखकर यह जान सकना कठिन है कि अन्य आचार्य के द्वारा बनाये गये ग्रन्थ पर ये दोनों टीकाकार टीका लिख रहे हैं या स्वयं बनाये गये ग्रन्थ पर ये टीका लिख रहे हैं। एक कर्तृकपने की सिद्धि के लिये 'वक्ष्यामि, निर्देक्ष्यामः' इत्यादि जो प्रमाण तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में

पाये जाते हैं उनकी सर्वार्थसिद्धि में भी कमी नहीं है। एक बात अवश्य है कि मूल सूत्रों की क्रमबार रचना के साथ-साथ इन दोनों टीकाओं की रचना हुई होगी यह इनके देखने से सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत इनके देखने से यही ज्ञात होता है कि पूरे तत्त्वार्थसूत्र को सामने रखकर ये टीकायें लिखी गई हैं। यदि सर्वार्थसिद्धि में एक दो पाठभेद पाये जाते हैं तो ऐसे पाठ भेदों की तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में कमी नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि सर्वार्थसिद्धि में ऐसे पाठभेद का उल्लेख स्पष्टतः किया है और तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में टीका लिखते समय उसे नजरंदाज कर दिया है। उदाहरणार्थ दूसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र के भाष्य में प्रथम तो उत्तम पद को व्याख्या कर दी किन्तु बाद में उसे छोड़ दिया। इसी प्रकार चौथे अध्याय के २६ वें सूत्र में लोकान्तिकों के नाम तो नौ गिनाए पर भाष्य में एक नाम छोड़ दिया। फिर भी आश्चर्य यह है कि उत्तरकाल में वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता माने जाने लगे। हमने इस विषय की गहराई से छानबीन की है। उससे हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार और तत्त्वार्थसूत्रकार एक व्यक्ति नहीं हैं।

यह तो मानी हुई बात है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आगम के गहरे अभ्यासी रहे हैं, इसके बिना इतने प्रांजल और व्यवस्थित ग्रन्थ का निर्माण होना कभी भी सम्भव नहीं है पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के आलोढन से यह पता नहीं लगता कि ये जैनधर्म के सभी विषयों के गहरे अभ्यासी रहे हूगे। उदाहरणार्थ इन्होंने 'उच्चैर्नीचैश्च' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उच्चगोत्र और नीचगोत्र के जो लक्षण दिये हैं वे जैन परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल हैं। जैन परम्परा में गोत्र कर्म जीवों के अमुक प्रकार के परिणामों का निर्वर्तक माना गया है न कि सामाजिक उच्चता और नीचता का निर्वर्तक। जैन कर्मशास्त्र

से आर्थिक पुण्य पाप और सामाजिक उच्चता तथा नीचता का समर्थन नहीं होता यह बात किसी भी कर्मशास्त्र के अभ्यासी से छिपी हुई नहीं है। उसने इनका महत्त्व मात्र आध्यात्मिक दृष्टि से माना है, तभी तो वह उच्चगोत्र और नीचगोत्र इनका समावेश जीवविपाकी कर्मों में करता है। मेरा तो स्पष्ट ख्याल है कि भाष्य की रचना जितनी पुरानी सोची जाती है उतनी पुरानी नहीं है। वह ऐसे समय में ही रचा गया है जब कि भारतवर्ष में जातीयता आकाश को छूने लगी थी और जैनाचार्य भी अपने आध्यात्मिक दर्शन के महत्त्व को भूलकर ब्राह्मण विद्वानों के पिछलग्गू बनने लगे थे।

एक बात और है। दूसरे अध्याय में २१ औदयिक भाव का निर्देश करते हुए 'लिङ्ग' शब्द आया है। वहाँ इसका 'तीन वेद' अर्थ लिया गया है। इसके बाद यह 'लिङ्ग' शब्द दो जगह पुनः आया है—एक तो नौवें अध्याय के 'संयम प्रतिसेवना' इत्यादि सूत्र में और दूसरे दसवें अध्याय के अन्तिम सूत्र में। मेरा ख्याल है कि सूत्र में एक स्थल पर पारिभाषिक जिस शब्द का जो अर्थ परिगृहीत है वही अर्थ अन्यत्र भी लिया जाना चाहिये। किन्तु हम देखते हैं कि तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार इस तथ्य को निभाने में असमर्थ रहे। ऐसी एक दो त्रुटियाँ तद्यपि सर्वार्थसिद्धि में भी देखने को मिलती हैं और इन टीकाओं के आधार से आज तक इन त्रुटियों की पुनरावृत्ति होती आई है। हम भी उनसे बाहर नहीं हैं। पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्ता को सूत्रकार मान लेने पर उनकी यह जबाबदारी विशेषरूप से बढ़ जाती है। किन्तु वे इस जबाबदारी को निभाने में असमर्थ रहे क्योंकि उन्होंने दूसरे अध्याय में 'लिङ्ग' शब्द की जो परिभाषा दी है, जो कि मूल सूत्र से भी फलित होती है उसका वे सर्वत्र निर्वाह नहीं कर सके और नौवें अध्याय के

'संयम प्रतिसेवना—' इत्यादि सूत्र में वे उसका दूसरा ही अर्थ करने लगे जब कि पूर्वोक्त अर्थ करने से ही वहाँ काम चल सकता था।

एक बात और है। यह तो तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के देखने से ही विदित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना भाष्य लिखने के पहले ही हो चुकी थी। और भाष्य इसके बाद लिखा गया था। इसलिये सूत्रों में ऐसा दोष नहीं रहना चाहिये था जिसका अर्थ करने के लिये किसी को भी टीका के शब्द का आश्रय लेना पड़ता। पर हम देखते हैं कि भाष्य मान्य मूल सूत्रों में यह त्रुटि भी विद्यमान है। उदाहरण स्वरूप प्रथम अध्याय का 'यथोक्त निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्' यह सूत्र लिया जा सकता है। इस सूत्र में आये हुये 'यथोक्तनिमित्तः' पद का अर्थ करने के लिये इसी अध्याय के 'द्विविधोऽवधिः' सूत्र के भाष्य की सहायता लेनी पड़ती है, अन्यथा उक्त पद का अर्थ केवल मूल सूत्रों के आधार से स्पष्ट नहीं होता।

इन या ऐसे ही दूसरे प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाचक उमास्वाति मूल सूत्रकार नहीं हैं। बहुत सम्भव है कि गृद्धपिच्छ आचार्य, जिनका कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्तारूप से अनेक दिगम्बर आचार्यों ने उल्लेख किया है, इसके कर्ता रहे हों और उसी मूल तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका व सूत्रों में आवश्यक परिवर्तन करके उसी पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य लिखा गया हो।

मङ्गलाचरण

हमने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' यह मङ्गलाचरण नहीं दिया है, क्योंकि हमारा अब भी यही ख्याल है कि यह आचार्य गृद्धपिच्छ की रचना नहीं है। यह सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में पाया जाता है, इसलिये हमारे ख्याल से यह सर्वार्थसिद्धि वृत्ति का ही अङ्ग माना जाना चाहिये। यद्यपि आचार्य विद्यानन्द इसका

उल्लेख 'शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुः' इस रूप से करते हैं पर इसकी पुष्टि में अभी कोई दूसरा प्रबल प्रमाण नहीं मिला है। यदि यह तत्त्वार्थसूत्र का अविभाज्य अङ्ग होता तो इस पर आचार्य पूज्यपाद और अकलंकदेव अवश्य ही टीका लिखते। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आचार्य विद्यानन्द इसे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का मङ्गलाचरण मानते रहे हैं। यह भी सम्भव है कि सूत्रकार से उनका मतलब तत्त्वार्थसूत्र के पिछले सभी टीकाकारों से रहा हो। जो कुछ भी हो अभी यह प्रश्न विचारणीय है।

इतिहास का विषय जितना श्रम साध्य है उतना ही वह गवेषणात्मक भी है। प्रस्तुत प्रस्तावना मुझे दो तीन दिन में ही लिखनी पड़ी है। यदि सब प्रकार की सुविधा मिल सकी तो इस विषय पर मैं सांगोपांग प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा ऐसी मुझे आशा है।

श्रावण शुक्ला १५
वी० सं० २४७६

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

तत्त्वार्थसूत्र

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥ प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥ निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥ तत्प्रमाणे ॥ १० ॥ आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥ अवग्रहेहाऽवायधारणाः ॥ १५ ॥ बहुबहुविधक्षिप्राऽनिःसृताऽनुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥ अर्थस्य ॥ १७॥ व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥ भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१॥ क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥ ऋजुविपुलमती मनःपर्य्ययः ॥ २३ ॥ विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥ विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्य्ययोः ॥ २५ ॥ मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥ रूपिष्ववधेः

॥ २७ ॥ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥ एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥ सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥ द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥ गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥ जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥ समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥ संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥ पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥ द्विविधानि ॥ १६ ॥ निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥ स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा-

स्तदर्थाः ॥२०॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥ वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥ कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥ संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥ विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥ अविग्रहा जीवस्य ॥ २७॥ विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥ एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥ सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१॥ सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः॥३२॥ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥ देवनारकाणामुपपादः॥३४॥ शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥ औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥३६॥ परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक तैजसात् ॥ ३८ ॥ अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥ अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥ सर्वस्य ॥४२॥ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥ निरुप-भोगमन्त्यम् ॥४४॥ गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥४५ ॥ औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥४६॥ लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥ तैजसमपि ॥४८॥ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥ नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षा-युषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बु-वाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति-पञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥ परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥ संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥ तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिं-शत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥ जम्बूद्वीपलवणो-दादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥ द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व पूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥ तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥ भरतहैमवतहरिविदेहरम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥ तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥ हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥ मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्ममहापद्मतिगिञ्छ-केसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥ दशयोजनावगाहः ॥१६॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृति-कीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥ गङ्गासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरका-न्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥ द्वयो-

र्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥ शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥ चतुर्दश-नदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥ भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥ तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥२५॥ उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥ एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥ तथोत्तराः ॥ ३० ॥ विदेहेषु संख्येयकालाः ॥३१॥ भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥ द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥ पुष्करार्द्धे च ॥३४॥ प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥ आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥ भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥ नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥ तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥ दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥ त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्याव्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥ कायप्रवीचारा

आ ऐशानात् ॥७॥ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥ व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥ ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥ मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥ तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥ वैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥ उपर्युपरि ॥ १८ ॥ सौधर्म्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥ स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्या विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरपरिग्रहाऽभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥ प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥ ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥ विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥ औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्ध हीनमिताः॥ २८॥ सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥ सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥ आरणाच्युतादुर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु

सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥ अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३ ॥ परतः परतः पूर्वापूर्वानन्तरा ॥३४॥ नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥ दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥ भवनेषु च ॥ ३७ ॥ व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥ परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९॥ ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥ तदष्टभागोऽपरा ॥४१ ॥ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अजीवकाया धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥ द्रव्याणि ॥२॥ जीवाश्च ॥ ३ ॥ नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥ रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥ आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥ निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥ आकाशस्यानन्ताः ॥९॥ संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलनाम् ॥१०॥ नाणोः ॥ ११ ॥ लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥ धर्म्माधर्म्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥ असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥ प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥ गतिस्थित्युपग्रहौ धर्म्माधर्म्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥ आकाशस्यावगाहः ॥१८॥ शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥ वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥ शब्द-

बन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥ अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥ भेदसङ्घातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥ भेदादणुः ॥ २७ ॥ भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥ सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥ तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥ अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥ स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥ न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥ गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥ गुणपर्य्ययवद्द्रव्यम् ॥३८॥ कालश्च ॥३९॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥ द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणा ॥ ४१ ॥ तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोध्यायः ॥ ५ ॥

कायवाङ्मनःकर्म्मयोगः ॥ १ ॥ स आस्रवः ॥ २ ॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥ सकषायाकषायोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥ इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥ आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥ निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाद्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥ तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥ दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवना-

न्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥ केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥ बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥ अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥ स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥ निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥ सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥ सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥ तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥ परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥ तद्विपर्य्ययौ नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥ देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च

॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्म्मा-विसंवादाः पञ्च ॥६॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ मैत्रीप्रमोद-कारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥ प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥ असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥ मैथुनमब्रह्म ॥१६॥ मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥ निःशल्यो व्रती ॥१८॥ अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥ अणु-व्रतोऽगारी ॥२०॥ दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवा-सोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च॥२१॥ मार-णान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥ शङ्काकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृ-ष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥ व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥ बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपानानि-रोधाः ॥२५॥ मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहा-रसाकारमंत्रभेदाः ॥ २६ ॥ स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्या-तिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥ परविवाह-करणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभि-निवेशाः ॥ २८ ॥ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृ-

त्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥ कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप-भोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥ योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृ-त्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥ अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥ सचित्तसंबन्ध-सम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥ सचित्तनिक्षेपाधिनपर-व्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥ जीवितमरणाशंसामि-त्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥ विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥ प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥ आद्योज्ञानदर्शना-वरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥ पञ्चनवद्व्यष्टा-विंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥ मतिश्रुता-वधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥ सदसद्वेद्ये ॥८॥ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनव-षोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्य-रतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्या-नप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥ गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्ग निर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥ आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥ विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥ अपरा द्वादशमुहुर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥ शेषाणामंतर्मुहूर्ताः ॥ २० ॥ विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥ अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥ तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥ ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥ उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाऽकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥ अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः

॥ ७ ॥ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ॥९॥ सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥ एकादश जिने ॥११॥ बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनलाभौ ॥ १४ ॥ चरित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥ वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतिः ॥१७॥ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥ नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥ अलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्च्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥ आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥२४॥ वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥ बाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥२६॥ आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥ परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥ आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहाराः ॥३०॥विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥ वेदनायाश्च ॥३२॥ निदानं च ॥ ३३ ॥ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः

॥ ३५ ॥ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥ परे केवलिनः ॥३८॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया निवर्तीनि ॥ ३९ ॥ त्र्यैकयोगकाययोगयोगानाम् ॥४०॥ एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥४१॥ अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥ वितर्कःश्रुतम् ॥४३॥ वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रांतिः ॥ ४४ ॥ सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥ पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥ संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥ औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छंत्यालोकान्तात् ॥५॥ पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धछेदात्तथागतिपरिणामाश्च ॥ ६ ॥ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥ धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥ क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

विषयानुक्रम

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवमां अध्याय

दसवां अध्याय

तत्त्वार्थसूत्र

विवेचन-सहित

❀ नमोऽर्हते भगवते ❀

आचार्य गृद्धपिच्छ रचित—

तत्त्वार्थसूत्र

विवेचन सहित

पहला अध्याय

संसार में जितने जीव हैं वे सब अपना हित चाहते हैं पर यह पराधीनता से छुटकारा पाये बिना सध नहीं सकता। इससे स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि क्या जीव स्वाधीन और पराधीन इस प्रकार दो भागों में बटे हुए हैं? यदि हाँ तो सर्व प्रथम यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि वे कौन से साधन हैं जिनके प्राप्त होने पर जीव स्वाधीन हो सकता है। इस जिज्ञासा को ध्यान में रख कर सूत्रकार सर्व प्रथम स्वाधीन होने के साधनों का निर्देश करते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष (स्वाधीनता) के साधन हैं।

इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का नामोल्लेख किया है। यद्यपि मोक्ष और उसके साधनों के स्वरूप और भेदों का विस्तार से कथन आगे किया जानेवाला है तथापि यहाँ संक्षेप में उनका विवेचन कर देते हैं।

संसारी जीव के कर्ममल और शरीर अनादि काल से सम्बन्ध को प्राप्त हो रहे हैं, इसलिये इनके दूर हो जाने पर जो जीव की स्वाभाविक शुद्ध अवस्था प्रकट होती है उसीका नाम मोक्ष है।

मोक्ष का स्वरूप

जिस गुण के निर्मल होने पर अन्य द्रव्यों से भिन्न ज्ञानादि गुणवाले आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति हो वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के साथ (जीवादि पदार्थों का) होनेवाला यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तथा राग और द्वेष को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष की जो चर्या होती है वह सम्यक्चारित्र है। किं वा राग, द्वेष और योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूपरमण होता है वह सम्यक्चारित्र है।

मोक्षके साधनोंका स्वरूप

उक्त तीन साधन क्रम से पूर्ण होते हैं। सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन पूर्ण होता है तदन्तर सम्यग्ज्ञान और अन्त में सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है। यतः इन तीनों की पूर्णता होने पर ही आत्मा पर द्रव्य से सर्वथा मुक्त होकर पूर्ण विशुद्ध होता है अतः ये तीनों मिल कर मोक्ष के साधन माने हैं। इनमें से एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि साधनों की अपूर्णता ही विवक्षा भेद से साध्य की अपूर्णता है। तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि परिपूर्णरूप में पाये जाते हैं तथापि सम्यक्चारित्र के पूर्ण न होने से मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

मोक्ष की साधनता

शंका—जब कि दसवें गुणस्थान के अन्त में चारित्रमोहनीय का अभाव होकर बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में पूर्ण क्षायिक चारित्र प्राप्त हो जाता है तब फिर तेरहवें गुणस्थान में इसे अपूर्ण क्यों बतलाया गया है?

समाधान—चारित्र की पूर्णता केवल चारित्रमोहनीय के अभाव से

न हो कर योग और कषाय के अभाव से होती है। यतः योग तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक विद्यमान रहता है, अतः तेरहवें गुणस्थान में चारित्र को अपूर्ण बतलाया है।

शंका—यतः चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में चारित्र पूर्ण हो जाता है, अतः उसी समय पूर्ण मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त होता?

समाधान—यद्यपि यह सही है कि सम्यक्चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में हो जाती है तब भी सब कर्मों की निर्जरा न होने से चौदहवें गुणस्थान के प्रथम समय में पूर्ण मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

शंका—यदि ऐसा है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष के साधन नहीं हो सकते?

समाधान—इन तीनों के प्राप्त होने पर ही कर्मों की पूर्ण रूपसे निर्जरा होती है इसलिये ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन कहे हैं।

शंका—वास्तव में केवल सम्यक्चारित्र को ही मोक्ष का साधन कहना चाहिये था, क्योंकि अन्त में उसी के पूर्ण होने पर सब कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त होता है?

समाधान—यह सही है कि अन्त में सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है किन्तु एक तो इन तीनों के निमित्त से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है इसलिये इन तीनों को मोक्ष का साधन कहा है। दूसरे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है और ये दोनों मिलकर सम्यक्चारित्र के कारण हैं, इसलिये भी ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।

शंका—बन्ध के साधनों में अज्ञान या मिथ्याज्ञान को नहीं गिनाया है इसलिये मोक्ष के साधनों में सम्यग्ज्ञान को गिनाना उचित नहीं है?

समाधान—यह हेय है या उपादेय यह विवेक सम्यग्ज्ञान से ही प्राप्त होता है, इसलिये मोक्ष के साधनों में सम्यग्ज्ञान को गिनाया है।

यद्यपि आत्मा का स्वभाव दर्शन, ज्ञान और चारित्र है फिर भी इनके पीछे सम्यक् विशेषण प्रतिपक्ष भावों के निराकरण करने के लिये दिया है। बात यह है कि संसारी आत्मा मोहवश मिथ्यादृष्टि हो रहा है जिससे उसका ज्ञान और चारित्र भी विपरीताभिनिवेश को लिये हुए हो रहा है। चूंकि यह मोक्ष का प्रकरण है, इसलिये यहाँ इन भावों का निराकरण करने के लिये दर्शन, ज्ञान और चारित्र के पीछे सम्यक् विशेषण लगाया है।

सम्यक् विशेषणकी सार्थकता

इन तीनों में से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं। आशय यह है कि ज्ञान में समीचीनता सम्यग्दर्शन के निमित्त से आती है, इसलिये जिस समय दर्शनमोहनीय के उपशम या क्षयोपशम से मिथ्यादर्शन दूर हो कर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उसी समय मिथ्याज्ञान का निराकरण हो कर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे घन पटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी एक साथ व्यक्त होते हैं, इसलिये ये दोनों सहचारी हैं। किन्तु सम्यक् चारित्र का इस विषय में अनियम है। अर्थात् किसी के सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ प्रकट होता है और किसी के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रकट होने के कुछ काल बाद प्रकट होता है। तब भी सम्यक्चारित्र अकेला नहीं रहता यह निश्चित है।

साहचर्य सम्बन्ध

जैसे स्कन्ध, शाखा, प्रतिशाखा, पत्ते, फूल और गुच्छा इन सबके सिवा वृक्ष कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं, इसलिये ये प्रत्येक वृक्षस्वरूप हैं। तथापि प्रत्येक को सर्वथा वृक्षरूप मान लेने पर ये वृक्ष के अंग नहीं ठहरते, इसलिये ये प्रत्येक वृक्षरूप नहीं भी हैं। वैसे ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि अनन्त धर्मों के सिवा आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है इसलिये ये ही प्रत्येक धर्म आत्मा-

साधन विचार

रूप हैं। तथापि प्रत्येक को सर्वथा आत्मारूप मान लेने पर ये आत्मा के धर्म नहीं ठहरते, इसलिये ये प्रत्येक आत्मारूप नहीं भी हैं। इस प्रकार विचार करने पर आत्मा से इन दर्शन आदि का कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद प्राप्त होता है। जब अभेद विवक्षित होता है तब कर्तृ साधन द्वारा दर्शन, ज्ञान और चारित्र शब्द की सिद्धि होती है। यथा जो देखता है वह दर्शन, जो जानता है वह ज्ञान और जो आचरण करता है वह चारित्र। तथा जब आत्मा से दर्शन आदि में भेद विवक्षित होता है तब करण साधन या भावसाधन द्वारा इनकी सिद्धि होती है। यथा—जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन, जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान और जिसके द्वारा चर्या की जाती है वह चारित्र। या देखने का भाव दर्शन, जानने का भाव ज्ञान और चर्यारूप भाव चारित्र।

सूत्र में जो 'मोक्षमार्गः' ऐसा एक वचन दिया है सो इससे यह सूचित होता है कि मोक्ष के तीन मार्ग नहीं हैं किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन का एकत्व मोक्ष का मार्ग है। 'मोक्षमार्ग' का अर्थ है आत्मा की शुद्धि का मार्ग। इन तीनों के प्राप्त हो जाने पर आत्मा द्रव्य कर्म, भाव कर्म, और नोकर्म से सर्वथा रहित हो जाता है इसलिये ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है ऐसा सिद्ध होता है। १।

मोक्षमार्गके एकत्व का समर्थन

सम्यग्दर्शन का लक्षण—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

तत्त्वरूप अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

दर्शन शब्द में दृश् धातु है जिसका अर्थ देखना है। पर मोक्ष मार्ग का प्रकरण होने से यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान करना लिया गया है।

वह धर्म, जिसके होने पर पर से भिन्न स्वमें ही स्व का साक्षात् या आगमानुसार बोध होता है, सम्यग्दर्शन है। आशय यह है कि छद्मस्थ जीवों को आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाला या बिना इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाला जितना भी क्षायोपशमिक ज्ञान है वह सावरण होने से रूपी पदार्थों को ही जान सकता है। यतः आत्मा अरूपी है इसलिये उसका क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा साक्षात्कार न होकर निरावरण ज्ञान के द्वारा ही साक्षात्कार हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि छद्मस्थ जीव आगमानुसार आत्मा का श्रद्धान करते हैं। उनका अमूर्त पदार्थ विषयक समस्त अनुभव आगमाश्रित है प्रत्यक्षज्ञानाश्रित नहीं। यही कारण है कि प्रकृत में 'दर्शन' का अर्थ श्रद्धान किया है।

यह श्रद्धान विविध प्रकार का हो सकता है पर वह सब यहाँ विवक्षित न हो कर ऐसा श्रद्धान ही यहाँ विवक्षित है जो तत्त्वार्थ विषयक हो। इसीसे सूत्रकार ने तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है॥ २॥

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग से अर्थात् उपदेश रूप बाह्य निमित्त के बिना या अधिगम से अर्थात् उपदेश रूप बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है।

यद्यपि निसर्ग का अर्थ स्वभाव है और अधिगम का अर्थ ज्ञान, तथापि प्रकृत में निसर्ग और अधिगम ये दोनों सापेक्ष शब्द होने से एक शब्द का जो अर्थ लिया जायगा दूसरे शब्द का उससे ठीक उलटा अर्थ होगा। यह तो मानी हुई बात है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिमात्र में ज्ञान की अपेक्षा रहती है। बिना तत्त्वज्ञान के सम्यग्दर्शन उत्पन्न

निसर्ग और अधिगम शब्द का अर्थ

नहीं होता, अतः प्रकृत में अधिगम का अर्थ ज्ञान न लेकर परोपदेश लिया है। और जब अधिगम का अर्थ परोपदेश हुआ तो निसर्ग का अर्थ परोपदेश के बिना अपने आप फलित हो जाता है।

निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में हेतुता

जैसे बच्चे को अपनी मातृभाषा सीखने के लिये किसी उपदेशक की आवश्यकता नहीं होती। वह प्रति दिन के व्यवहार से ही उसे स्वयं सीख लेता है, किन्तु अन्य भाषा के सीखने के लिये उसे उपदेशक लगता है। उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन उपदेश के बिना निसर्ग से उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है और जो सम्यग्दर्शन परोपदेश से पैदा होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। यहाँ इतना विशेष समझना कि निसर्गज सम्यदर्शन की उत्पत्ति में तत्त्वज्ञानजन्य पूर्व संस्कार काम करता है और अधिगमज सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में साक्षात् परोपदेश काम करता है।

अन्य साधनोंका समन्वय

आगम में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अनेक निमित्त बतलाये हैं। नरक गति में तीन निमित्त बतलाये हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभव। इनमें से धर्मश्रवण यह निमित्त तीसरे नरक तक ही पाया जाता है, क्योंकि देवों का आना जाना तीसरे नरक तक ही होता है, आगे के नरकों में नहीं। तिर्यंच गति और मनुष्य गति में तीन निमित्त पाये जाते हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन। देवगति में चार निमित्त बतलाये हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवऋद्धिदर्शन। ये चारों निमित्त सहस्रार स्वर्ग तक पाये जाते हैं। आगे देवऋद्धिदर्शन यह निमित्त नहीं पाया जाता। उसमें भी नौ ग्रैवेयकवासी देवों के जातिस्मरण और धर्मश्रवण ये दो निमित्त पाये जाते हैं। नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर के देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं अतएव वहाँ सम्यदर्शन की उत्पत्ति के निमित्त नहीं बतलाये। इनमेंसे

धर्मश्रवण इस निमित्त को छोड़ कर शेष निमित्तों से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दर्शन निसर्गज है, क्योंकि इस सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने में परोपदेश की आवश्यकता नहीं पड़ती और धर्मश्रवण इस निमित्त से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दर्शन अधिगमज है, क्योंकि यह सम्यग्दर्शन परोपदेश से उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जो आज्ञासम्यक्त्व आदि रूप से सम्यग्दर्शन के दस भेद गिनाये हैं सो उनका भी इन दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में विचार कर अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

कालकी अप्रधानता

एक ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक कार्य का काल नियत है उसी समय वह कार्य होता है अन्य काल में नहीं। जो ऐसा मानते हैं वे काल के सिवा अन्य निमित्तों को नहीं मानते। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में जैसे काल एक निमित्त है वैसे अन्य भी निमित्त हैं, अतः कार्य की उत्पत्ति में केवल काल को प्रधान कारण मानना उचित नहीं है।

सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग कारण

अब तक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बाह्य कारणों का विचार किया अब उन कारणों का विचार करते हैं जिनके होने पर सम्यग्दर्शन नियम से उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव है पर वह दर्शनमोहनीयकर्म से घातित हो रहा है। किन्तु जब दर्शनमोहनीयकर्म का अभाव होता है तब आत्मा का वह स्वभाव प्रकट हो जाता है और इसे ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कहते हैं। दर्शनमोहनीयकर्म का यह अभाव तीन प्रकार से होता है उपशम से क्षय से और क्षयोपशम से। जैसे जल में कतकादि द्रव्य के डालने से कीचड़ बैठ जाता है और पानी निर्मल हो जाता है। यद्यपि यहाँ कीचड़ का जल में से अभाव नहीं हुआ, वह वहाँ विद्यमान है, फिर भी वह उस अवस्था में काम नहीं करता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम हो जाने से सम्यग्दर्शन गुण

प्रकट हो जाता है। इसे उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगम में उपशम के दो भेद किये हैं करणोपशम और अकरणोपशम। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा जो उपशम होता है वह करणोपशम है और इसके सिवा शेष उपशम अकरणोपशम कहलाता है। प्रकृत में उपशम से करणोपशम लिया है इसके होने पर औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। जो सम्यग्दर्शन क्षय से होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है। क्षयका अर्थ है कर्म का आत्मा से सर्वथा जुदा हो जाना। यहाँ सम्यग्दर्शन का प्रकरण है, इस लिये जो कर्म सम्यग्दर्शन के प्रतिबन्धक हैं उनका अभाव ही विवक्षित है। जो सम्यग्दर्शन कर्मों के क्षयोपशम से होता है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है। क्षयोपशम का अर्थ है क्षय और उपशम। इसमें सम्यग्दर्शन के प्रतिबन्धक कर्मों के वर्तमान सर्वघाती निषेकों का उदयाभावी क्षय, आगामी काल में उदय में आने वाले सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाती स्पर्धकों का उदय रहता है। सारांश यह है कि यह सम्यग्दर्शन देशघाती स्पर्धकों के उदय की प्रधानता से होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अन्तरंग साधन सम्यग्दर्शन के विरोधी कर्मों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम है यह सिद्ध होता है।

तत्त्वतः सम्यग्दर्शन एक है। ये तीन भेद निमित्त की प्रधानता से किये गये हैं, इसलिये यहाँ उनका उसी रूप से विवेचन किया है ॥३॥

तत्त्वों का नाम निर्देश—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं।

ये जीवादि सात तत्त्व हैं जिनका इस ग्रन्थ में विस्तार से विवेचन किया है। तथापि यहाँ उनके स्वरूप का संक्षेप में निर्देश करते हैं।

जीव का मुख्य स्वभाव चेतना है जो ज्ञानादिक के भेद से अनेक प्रकारकी है। अजीव इससे विपरीत स्वभाववाला है। शुभ और अशुभ कर्मों के आने के द्वाररूप आस्रव तत्त्व है। आत्मा और कर्मों के प्रदेशों का परस्पर मिल जाना बन्ध है। आस्रव का रोकना संवर है। धीरे धीरे कर्मों का जुदा होना निर्जरा है और सब कर्मों का आत्मा से जुदा हो जाना मोक्ष है।

शंका—समयसार आदि ग्रन्थों में पुण्य और पाप को मिला कर नौ पदार्थ कहे गये हैं, इस लिये यहाँ तत्त्व सात न कह कर नौ कहने चाहिये।

समाधान—यह सही है कि समयसार आदि ग्रन्थों में पदार्थ नौ कहे गये हैं तथापि पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव और बन्ध में हो जाता है, इसलिये यहाँ नौ तत्त्व न कहकर तत्त्व सात ही कहे हैं। आशय यह है कि ये पुण्य और पाप आस्रव और बन्ध के ही अवान्तर भेद हैं, इसलिये आस्रव और बन्धका विशेष विवेचन करने से पुण्य और पाप का स्वरूप समझ में आ ही जाता है इसलिये यहाँ इनका अलगसे निर्देश नहीं कया।

शंका—यदि ऐसा है तो आस्रवादि पाँच तत्त्वों का भी अलग से कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये भी जीव और अजीव के भेद हैं ?

समाधान—यद्यपि यह कहना सही है कि आस्रवादि पाँच तत्त्व जीव और अजीव के भेद होने से इनका कथन अलग से नहीं करना चाहिये, तथापि यहाँ मोक्ष का प्रकरण है और उसकी प्राप्ति में इनका ज्ञान कराना आवश्यक है इस लिये इनका अलग से विवेचन किया है। आशय यह है कि प्रस्तुत शास्त्र की रचना आत्महित की दृष्टि से की गई है और सच्चा आत्महित मोक्ष की प्राति हुए बिना सध नहीं सकता, इस लिये मोक्ष की प्राप्ति में मुख्य रूप से जिन वस्तुओं का ज्ञान कराना

आवश्यक है उनका यहाँ तत्त्वरूप से उल्लेख किया है। मुख्य साध्य मोक्ष है इस लिये सात तत्त्वों में मोक्ष का नामोल्लेख किया है। किन्तु इसके प्रधान कारणों को जाने बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इस लिये सात तत्त्वों में मोक्ष के प्रधान कारण रूप से सवर और निर्जरा का नामोल्लेख किया है। मोक्ष संसार पूर्वक होता है और संसार के प्रधान कारण आस्रव और बन्ध है, इस लिये सात तत्त्वों में इनका नामोल्लेख किया है। किन्तु यह सब व्यवस्था जीव और अजीव के संयोग और वियोग पर अवलम्बित है इस लिये इन दोनों का सात तत्त्वों में नामोल्लेख किया है। इस प्रकार आत्महित को चाहनेवाले जिज्ञासु को इन सबको जान लेना आवश्यक है इस लिये तत्त्व सात कहे हैं। मोक्ष का अधिकारी जीव है इस लिये तो जीव तत्त्व कहा गया है। किन्तु जीव की अशुद्ध अवस्था के होने में पुद्गल निमित्त है, इस लिये अजीव तत्त्व कहा गया है। जीव और अजीव का संयोग आस्रवपूर्वक होता है इस लिये आस्रव और बन्ध तत्त्व कहे गये हैं। अब यदि अपनी अशुद्ध अवस्था और पुद्गल की निमित्तता से छुटकारा पाना है तो वह संवर और निर्जरापूर्वक ही प्राप्त हो सकता है इस लिये संवर और निर्जरा तत्त्व कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ संसार के सब पदार्थों को बतलाने की दृष्टि से सात तत्त्वों का विवेचन न करके आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है ॥ ४ ॥

निक्षेपों का नाम निर्देश—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है।

लोक में या आगम में जितना शब्द व्यवहार होता है वह कहीं

किस अपेक्षा से किया जा रहा है इस गुत्थी को सुलझाना ही निक्षेप व्यवस्था का काम है। प्रयोजन के अनुसार एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। महाभारत में

निक्षेप के भेद

'अश्वत्थामा हतः' युधिष्ठिर के इतने कहनेमात्र से युद्ध की दिशा ही बदल गई। 'आज महावीर भगवान का जन्म दिन है' यह सुनते ही सुषुप्त धार्मिक वृत्ति जाग उठती है। वह दिन महान दिन प्रतीत होने लगता है। इससे ज्ञात होता है कि एक ही शब्द प्रसंगानुसार विविध अर्थों का जतानेवाला हो जाता है। इस प्रकार यदि एक शब्द के मुख्य अर्थ देखे जाँय तो वे चार होते हैं। ये ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ को दृष्टि से चार भेद हैं। ऐसे भेद ही न्यास या निक्षेप कहलाते हैं। इनको जान लेने से प्रकृत अर्थ का बोध होता है और अप्रकृत अर्थ का निराकरण। इसी बात को ध्यान में रख कर सूत्रकारने प्रकृत सूत्र में निक्षेप के चार भेद किये हैं। इससे यहाँ सम्यग्दर्शन और जीवाजीवादि का क्या अर्थ इष्ट है यह ज्ञात हो जाता है। वे निक्षेप ये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। १—जिसमें व्युत्पत्ति की प्रधानता नहीं है किन्तु जो माता, पिता या इतर लोगों के संकेत बल से जाना जाता है वह अर्थ नाम निक्षेप का विषय है। जैसे—एक ऐसा आदमी जिसमें पुजारी के योग्य एक भी गुण नहीं हैं पर किसी ने जिसका नाम पुजारी रखा है वह नाम पुजारी है। २—जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र है या जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया है वह स्थापना निक्षेप का विषय है। जैसे किसी पुजारी की मूर्ति या चित्र आदि। ३—जो अर्थ भाव का पूर्व या उत्तर रूप हो वह द्रव्य निक्षेप का विषय है। जैसे—जो वर्त्तमान में पूजा नहीं कर रहा है किन्तु कर चुका है या करेगा वह द्रव्यपुजारी है। जिस अर्थ* में शब्द का व्युत्पत्ति

* नाम दो तरह के होते हैं—यौगिक और रौढ़िक। पुजारी, रसोइया

या प्रवृत्तिनिमित्त वर्तमान में बराबर घटित हो वह भाव निक्षेप का विषय है। जैसे—जो वर्तमान में पूजा करता है वह भाव पुजारी है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि के और जीव अजीव आदि तत्त्वों के भी चार चार निक्षेप किये जा सकते हैं परन्तु यहाँ वे सब भावरूप ही लिये हैं। इनमें से प्रारम्भ के तीन निक्षेप सामान्यरूप होने से द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और भाव पर्याय रूप होने से पर्यायार्थिक नय का विषय है॥ ५॥

तत्त्वों के जानने के उपाय—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

प्रमाण, और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है।

जितना भी समीचीन ज्ञान है वह प्रमाण और नय इन दो भागों में बटा हुआ है। अंश-अंशी या धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु का जो अखण्ड ज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान है तथा धर्म-धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा वस्तु का जो ज्ञान होता है वह नयज्ञान है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चार ज्ञान ऐसे हैं जो धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु को जानते हैं इसलिये ये सबके सब प्रमाण ज्ञान हैं। किन्तु श्रुतज्ञान विचारात्मक होने से उसमें कभी धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है और कभी धर्म-धर्मी का भेद होकर वस्तु का बोध होता है। जब जब धर्म-धर्मी का भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है तब तब वह श्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान

आदि यौगिक शब्द हैं और गाय भैंस आदि रौढ़िक शब्द हैं। यौगिक शब्द जिस अर्थ को कहते हैं उसमें शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त घटित होता है और रौढ़िक शब्द जिस अर्थ को कहते हैं उसमें शब्द का प्रवृत्तिनिमित्ति घटित होता है।

कहलाता है और जब जब उसमें धर्म-धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है तब तब वह नयज्ञान कहलाता है। इसी कारण से नयों को श्रुतज्ञान का भेद बतलाया है। उदाहरणार्थ 'जीव है' ऐसा मनका विकल्प प्रमाणज्ञान है। यद्यपि जीवका व्युत्पत्त्यर्थ 'जो जीता है वह जीव' इस प्रकार होता है तथापि जिस समय 'जीव है' यह विकल्प मनमें आया उस समय उस विकल्पद्वारा 'जो चेतनादि अनन्त गुणों का पिण्ड है' वह पदार्थ समझा गया इस लिये यह ज्ञान प्रमाणज्ञान ही हुआ। तथा नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा नित्य है' ऐसा मन का विकल्प नयज्ञान है क्योंकि यहाँ धर्म-धर्मी का भेद होकर एक धर्म द्वारा धर्मी का बोध हुआ। आशय यह है कि इन्द्रिय और मनकी सहायता से या इन्द्रिय और मनकी सहायता के बिना जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह सबका सब प्रमाणज्ञान है किन्तु उसके बाद उस पदार्थ के विषय में उसकी विविध अवस्थाओं की अपेक्षा क्रमशः जो विविध मानसिक विकल्प होते हैं वे सब नयज्ञान हैं। प्रमाण को जो सकलादेशी और नय को जो विकलादेशी कहा है उसका यही भाव है। इस प्रकार प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है यह निश्चित होता है ॥ ६ ॥

तत्त्वों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ अनुयोगद्वारों का निर्देश—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण स्थिति और विधान से।

तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व से सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान होता है।

यदि किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो या ज्ञान कराना हो तो इसके लिये १—उस वस्तु का नाम क्या है, २—उसका स्वामी कौन

है, ३—किन साधनों से वह बनी है, ४—वह कहाँ रखी रहती है, ५—उसकी काल मर्यादा क्या है और ६—उसके भेद कितने हैं इन छह बातों का ज्ञान करना कराना आवश्यक है। यदि इतनी बातें जान ली जाती हैं तो उस वस्तु का परिपूर्ण ज्ञान समझा जाता है। आगम में ये छह अनुयोगद्वार कहलाते हैं। वहाँ मूल वस्तु को समझने के लिये इन छह बातों का ज्ञान करना आवश्यक बतलाया है। इसके अतिरिक्त विशेष जानकारी के लिये आठ अनुयोगद्वार और बतलाये हैं। प्रस्तुत दो सूत्रों में इन्हीं अनुयोगद्वारों का संग्रह किया गया है।

अधिकतर आगम ग्रन्थों में जीवादि पदार्थों के कथन करने के दो प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम प्रकार तो यह है कि अन्य आधार के बिना वस्तु का स्वरूप, उसका स्वामी, उसके उत्पत्ति के साधन, उसके रहने का आधार, उसकी काल मर्यादा और उसके भेद इन सब बातों का कथन किया जाय और दूसरा प्रकार यह है कि जीवादि पदार्थों के अस्तित्व आदि का कथन सामान्य से या गुणस्थान व गति आदि मार्गणाओं के आधार से किया जाय। सूत्रकार ने प्रस्तुत दोनों सूत्रों में प्ररूपणाओं के इन्हीं दोनों क्रमों का निर्देश किया है। यहाँ उक्त दोनों प्रकार की प्ररूपणाओं को लेकर संक्षेप में सम्यग्दर्शन पर विचार किया जाता है।

१ निर्देश—'तत्त्वश्रद्धा सम्यग्दर्शन है' ऐसा कथन करना निर्देश है। २ स्वामित्व—सामान्य से सम्यग्दर्शन जीव के ही होता है, अजीव के नहीं; क्योंकि वह जीव का धर्म है। ३ साधन—साधन दो प्रकार का है—अन्तरङ्ग और बाह्य। दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये सम्यग्दर्शन के अन्तरंग साधन हैं। इनमें से किसी एक के होने पर सम्यग्दर्शन होता है। तथा जातिस्मरण, धर्मश्रवण, प्रतिमादर्शन, वेदनाभिभव आदि बाह्य साधन हैं। ४ अधिकरण—सम्यग्दर्शन जीव में ही होता है, अन्यत्र नहीं, इसलिये सम्यग्दर्शन

का अधिकरण जीव ही है। ५ स्थिति—औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। संसारी जीव के क्षायिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागर है। यद्यपि क्षायिक सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है पर यहाँ उसकी स्थिति उसके धारक जीव के संसार में रहने की अपेक्षा से बतलाई है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागर है। ६ विधान—सामान्य से सम्यग्दर्शन एक है, निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकारका है। औपशमिक आदि के भेद से तीन प्रकारका है। शब्दों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के संख्यात भेद हैं, श्रद्धान करनेवालों की अपेक्षा असंख्यात भेद हैं और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त भेद हैं।

जैसा कि पहले लिख आये हैं आगम में सत् संख्या आदि आठ प्ररूपणाओं का कथन सामान्य से या गुणस्थान और मार्गणाओं की अपेक्षा से किया जाता है। यहाँ इन सब की अपेक्षा कथन करने से विषय बढ़ जाता है इसलिये सामान्य से निर्देश किया जाता है। विशेष जानकारी के लिये सर्वार्थसिद्धि देखें।

१ सत्—सम्यत्व आत्मा का गुण है इसलिये वह सब जीवों के पाया जाता है पर वह भव्य जीवों में ही प्रकट होता है।

२ संख्या—सम्यग्दृष्टि कितने हैं इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की संख्या बतलाई जाती है। संसार में सम्यग्दृष्टि पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और मुक्त सम्यग्दृष्टि अनन्त हैं।

३ क्षेत्र—सम्यग्दृष्टि जीव लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में पाये जाते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग हुआ। पर केवलिसमुद्धात के समय यह जीव सब लोक को भी व्याप्त कर लेता है, इसलिये सम्यग्दर्शन का सर्वलोक क्षेत्र भी प्राप्त होता है।

४ स्पर्शन—सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का, त्रस नाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग प्रमाण क्षेत्र का और सयोगकेवली की अपेक्षा सर्वलोक क्षेत्र का स्पर्शन किया है।

५ काल—एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का काल सादि-सान्त और सादि-अनन्त दोनों प्रकार का प्राप्त होता है पर नाना जीवों की अपेक्षा वह अनादि-अनन्त है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा पाये जाते हैं।

६ अन्तर—नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध-पुद्गल परिवर्तन प्रमाण है।

७ भाव—सम्यग्दृष्टि यह औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव है।

८ अल्पबहुत्व—औपशमिक सम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं। उनसे संसारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। उन से क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं। उन से मुक्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि अनन्त-गुणे हैं॥ ७–८॥

सम्यग्ज्ञान के भेद—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्॥ ९॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं।

प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद किये हैं। यद्यपि सूत्र में सिर्फ ज्ञान पद है सम्यग्ज्ञान पद नहीं, तथापि सम्यक्त्व का अधिकार होने से यहाँ ज्ञान से सम्यग्ज्ञान ही लिया गया है। इस से यह बात और फलित होती है कि सम्यक्त्व सहचरित जितना भी ज्ञान होता है वह सबका सब सम्यग्ज्ञान रूप ही होता है। सम्यग्ज्ञान का लक्षण ही यह है कि सम्यक्त्व सहित जो ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान।

शंका—तत्त्वतः सम्यग्ज्ञान का लक्षण जो वस्तु को यथावत् जाने वह सम्यग्ज्ञान; ऐसा होना चाहिये। पर प्रकृत में इसका ऐसा लक्षण न करके सम्यक्त्व सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है सो क्यों?

समाधान—व्यवहार में या न्यायशास्त्र में जैसे विषय की दृष्टि से ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय किया जाता है, अर्थात् जो ज्ञान घड़े को घड़ा जानता है वह प्रमाणज्ञान माना जाता है और जो ज्ञान वस्तु को वैसा नहीं जानता है वह अप्रमाण ज्ञान माना जाता है। वैसे ही अध्यात्म शास्त्र में जिसे आत्मविवेक प्राप्त है उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान माना गया है और जिसे आत्मविवेक नहीं प्राप्त है उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान माना गया है। अध्यात्म शास्त्र में बाह्य वस्तु के जानने और न जानने के आधार से सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का विचार नहीं किया जाता, क्योंकि यह ज्ञान ज्ञान के बाह्य साधनों पर अवलम्बित है। पर बाह्य वस्तु के हीनाधिक या विपरीत जानने मात्र से सम्यक्त्वी का अध्यात्मदृष्टि से कुछ भी बिगाड़ नहीं होता; उसका वास्तविक बिगाड़ तो तब हो जब वह आत्मविवेक को ही खो बैठे। पर सम्यक्त्व के रहते हुए ऐसा होता नहीं, वह सदा ही वासनाओं से छुटकारा पाने और आत्मिक उन्नति करने के लिए छटपटाता रहता है। इसी कारण से सम्यक्त्वी के ज्ञान मात्र को सम्यग्ज्ञान कहा है।

ऐसे सम्यग्ज्ञान पाँच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और वह किसी भी प्रकार की अपेक्षा से रहित है, इसलिए केवलज्ञान कहलाता है। किन्तु संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म-बन्धन से बद्ध होने के कारण उसका वह केवलज्ञान घातित हो रहा है और इस घात के परिणामस्वरूप ही ज्ञान के उक्त पाँच भेद हो जाते हैं। इन

ज्ञानों का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय में आगे किया ही है इसलिए यहाँ उनके स्वरूप का निर्देशमात्र करते हैं—

१—इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह मति-ज्ञान है। २—मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर मति-ज्ञानपूर्वक जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। ३—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो रूपी पदार्थ का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। ४—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन की अवस्थाओं का ज्ञान होता है वह मनःपर्ययज्ञान है। ५—तथा जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है वह केवलज्ञान है ॥९॥

प्रमाण चर्चा—

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है।

प्रथम के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अंश-अंशी या धर्म-धर्मीका भेद किये बिना वस्तु का जो ज्ञान होता है वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान का यह सामान्य लक्षण उक्त पाँचों ज्ञानों में पाया जाता है इसलिए वे पाँचों ही ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। तथापि वह प्रमाण एक प्रकार का नहीं है किन्तु परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता

प्रमाण और उसके भेद

से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता के यथायोग्य बल से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। उक्त पाँचों ज्ञान अपनी अपनी योग्यतानुसार प्रमाण के इन दो भेदों में बँटे हुए हैं; मति और श्रुत ये दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होने के कारण परोक्ष प्रमाण कहलाते हैं तथा अवधि, मनपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सिर्फ आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं।

राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मान कर भी मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान व आगम इन ज्ञानों को परोक्ष कहा है परन्तु यहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष का यह लक्षण स्वीकृत नहीं है। यहाँ तो परोक्ष में पर शब्द से इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य साधन लिये हैं तथा प्रत्यक्ष में अक्ष शब्द से आत्मा लिया है, इसलिए इस व्यवस्था के अनुसार मतिज्ञान भी यद्यपि परोक्ष प्रमाण ठहरता है तथापि राजवार्तिक आदि में लौकिक दृष्टि से उसे प्रत्यक्ष कहा है।

अन्य दर्शनों में अक्ष का अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और उसके सिवा शेष ज्ञानों को परोक्ष बतलाया है। किन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के इस लक्षण के अनुसार योगी का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं ठहरता जो उक्त दर्शनकारों को भी इष्ट नहीं है। अतः प्रत्यक्ष और परोक्ष के वे ही लक्षण युक्तियुक्त हैं जो प्रारम्भ में दिये हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये शब्द एकार्थ-वाचक हैं।

प्रस्तुत सूत्र में जो मति, स्मृति आदि शब्द कहे गये हैं ये मतिज्ञान के पर्य्यायवाची नाम हैं या इन शब्दों द्वारा मतिज्ञान के भेद कहे गये हैं ? यह एक शंका है जिसके समुचित उत्तर में ही इस सूत्र की व्याख्या सन्निहित है, इसलिये सर्वप्रथम इसी पर विचार किया जाता है—

आगम ग्रन्थों में ज्ञान के पाँच भेद बतलाते हुए मतिज्ञान इस नाम के स्थान में आभिनिबोधिक ज्ञान यह नाम आया है, किन्तु धीरे धीरे मतिज्ञान शब्द रूढ़ होने लगा। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मतिज्ञान शब्द पाया जाता है। इसके बाद तत्त्वार्थसूत्र में यह नाम आया है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि आगम ग्रन्थों में आभिनिबोधिक ज्ञान का जो अर्थ इष्ट है तत्त्वार्थसूत्र में वही अर्थ मतिज्ञान शब्द से लिया गया है। अब हमें यह देखना है कि आगम में आभिनिबोधिक ज्ञान का क्या अर्थ स्वीकृत है ? वास्तव में देखा जाय तो मूल ग्रन्थों में किसी भी शब्द का लाक्षणिक अर्थ नहीं पाया जाता। तथापि वहाँ जो इस ज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा प्रमुख तीन सौ छत्तीस भेद किये हैं इससे स्पष्ट हो जाता है कि बहुत प्राचीन काल से आभिनिबोधिक ज्ञान का अर्थ 'जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से वर्तमान विषय को जानता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है' ऐसा होता आया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी मतिज्ञान के वे ही तीन सौ छत्तीस भेद गिनाये हैं, अतः इससे जाना जाता है कि यहाँ भी मतिज्ञान का वही अर्थ विवक्षित है जो आगमों में आभिनिबोधिक ज्ञान का लिया गया है। इस प्रकार मतिज्ञान के केवल वर्तमानग्राही

मति आदि पर्याय वाची हैं इसका समर्थन

ठहरने पर उसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञान के अन्तर्भाव न हो सकने से मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन्हें मतिज्ञान के पर्यायवाची ही मानने चाहिये, मतिज्ञान के भेद नहीं। ये मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम ही हैं इसकी पुष्टि षट्खण्डागम के प्रकृति अनुयोगद्वार से भी होती है। वहाँ आभिनिबोधिकज्ञान का निरूपण करने के बाद एक सूत्र आया है जिसका भाव है कि 'अब आभिनिबोधिक ज्ञान की अन्य प्ररूपणा करते हैं।' और इसके बाद वहाँ क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायवाची नाम दिये हैं। प्रकृति अनुयोगद्वार का यह उल्लेख ऐसा है जिससे भी मति आदिक मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम ठहरते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं के निम्न उल्लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है—

(१) सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि यद्यपि इन शब्दों में प्रकृति भेद है तो भी ये रूढि से एक ही अर्थ को जनाते हैं।

(२) राजवार्तिक में भी इसी प्रकार का अभिप्राय दरसाया है।

मतिज्ञान वर्तमान अर्थ को विषय करता है और श्रुतज्ञान त्रिकालवर्ती अर्थ को विषय करता है। इससे भी ज्ञात होता है कि 'मतिः स्मृति.' इस सूत्र में जो स्मृति आदि शब्द आये हैं उनका अर्थ स्मरण ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है कि 'इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन शब्दों में प्रकृति भेद के होने पर भी जैसे एक ही देवराज इन नामों द्वारा पुकारा जाता है वैसे ही मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन शब्दों में यद्यपि प्रकृति भेद है तो भी वे एक ही मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं।' सो इस कथन से भी उक्त अर्थ की ही पुष्टि होती है।

आचार्य अकलंक देव ने लघीयस्त्रय में एक चर्चा उठाई है। प्रश्न

यह है कि नय† किस ज्ञान के भेद हैं ? इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं कि मतिज्ञान वर्तमान अर्थ को विषय करता है और नय त्रिकालगोचर अनेक द्रव्य और पर्यायों को विषय करते हैं इसलिये नय मतिज्ञान के भेद नहीं हैं। इस पर फिर शंका हुई कि यदि मतिज्ञान वर्तमान अर्थ को ही विषय करता है तो वह स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोधरूप कैसे हो सकता है ? इस शंका का उन्होंने जो समाधान किया है उसका भाव यह है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोध रूप जो मनोमति है वह कारणमति से जाने गये अर्थ को ही विषय करती है, इसलिये मतिज्ञान को वर्तमान अर्थग्राही मानने में कोई बाधा नहीं आती। सो इस कथन से ऐसा ज्ञात होता है कि अकलंक देव ने अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप कारणमति से यद्यपि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोध रूप मति में किसी अपेक्षा से भेद स्वीकार कर लिया है फिर भी उन्होंने इनके विषय में भेद नहीं माना है। तत्त्वार्थसूत्र में और उसके टीका ग्रन्थों में मतिज्ञान के जो ३३६ भेद गिनाये हैं उनको देखने से ऐसा ही ज्ञात होता है कि स्मृति आदिको मति से किसी ने भी जुदा नहीं माना है, इसलिये ये मति आदि मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं ऐसा यहाँ जानना चाहिये ॥१३॥

अन्य मत का उल्लेख

मतिज्ञान की प्रवृत्ति के निमित्त—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

वह अर्थात् मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्त से उत्पन्न होता है।

---

† 'न हि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, मतेः साम्प्रतिकार्थग्राहित्वात्। मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताभिनिबोधात्मकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात्।' लघी० वि० श्लो० ६६–६७।

पहले पाँच ज्ञान बतला आये हैं। उनमें से सर्वप्रथम जो मतिज्ञान है वह उपयोगरूप कैसे होता है यह प्रस्तुत सूत्र में बतलाया है। इन्द्रियाँ पाँच हैं-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके निमित्त से तथा अनिन्द्रिय अर्थात् मनके निमित्ति से मतिज्ञान की प्रवृत्ति होती है यह इस सूत्र का भाव है।

शंका—स्पर्शन आदि को इन्द्रिय क्यों कहा ?

समाधान—स्पर्शन आदि को इन्द्रिय कहने के अनेक कारण हैं जिनमें से कुछ ये हैं—एक तो इन्द्रिय में इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। किन्तु जब तक यह आत्मा कर्मों से आवृत रहता है तब तक स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ रहने के कारण इन स्पर्शन आदि के द्वारा उनका ज्ञान होता है इसलिये वे इन्द्रिय कहलातीं हैं। दूसरे इनके द्वारा सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व की पहिचान की जाती है अतः वे इन्द्रिय कहलाती हैं। तीसरे इन्द्र शब्द का अर्थ नामकर्म होने से इनके द्वारा उनकी रचना होती है इसलिये वे इन्द्रिय कहलाती हैं।

शंका—जिन कारणों से स्पर्शन आदि को इन्द्रिय कहा है वे कारण मन में भी तो पाये जाते हैं फिर उसे अनिन्द्रिय क्यों कहा ?

समाधान—इन्द्रियों के समान मन अवस्थित स्वभाववाला न हो कर चंचल है, वह निरन्तर विविध विषयों में भटकता रहता है इस-लिये उसे अनिन्द्रिय कहा है।

शंका—मतिज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन के समान प्रकाश आदि भी तो निमित्त हैं उनका यहाँ संग्रह क्यों नहीं किया ?

समाधान—जैसे इन्द्रिय और मन से मतिज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है वैसे प्रकाश आदि से नहीं, क्योंकि किसी को प्रकाश आदि की आवश्यकता पड़ती है और किसी को नहीं इसलिये प्रकाश

आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में नियत साधन न होने से उनका यहाँ संग्रह नहीं किया ॥ १४ ॥

मतिज्ञान के भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार मतिज्ञान के भेद हैं।

अवग्रह आदि का स्वरूप

ज्यों ही इन्द्रिय विषय को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होती है त्यों ही स्वप्रत्यय होता है जिसे दर्शन कहते हैं और तदनन्तर विषय का ग्रहण होता है जो अवग्रह कहलाता है। जैसे यह मनुष्य है ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। किन्तु यह ज्ञान इतना कमजोर होता है कि इसके बाद संशय हो सकता है, इसलिये संशयापन्न अवस्था को दूर करने के लिये या पिछले ज्ञान को व्यवस्थित करने के लिये जो ईहन अर्थात् विचारणा या गवेषणा होती है वह ईहा है। जैसे जो मैंने देखा है वह मनुष्य ही होना चाहिये ऐसा ज्ञान ईहा है। ईहा के होने पर भी जाना हुआ पदार्थ मनुष्य ही है ऐसे अवधान अर्थात् निर्णय का होना अवाय है। तथा जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलने की योग्यता का उत्पन्न हो जाना ही धारणा है। यह धारणा ही स्मृति आदि ज्ञानों की जननी है। आशय यह है कि जिस पदार्थ का धारणा ज्ञान नहीं होता उसका कालान्तर में स्मरण सम्भव नहीं।

पिछले सूत्र में मतिज्ञान की उत्पत्ति के जो पाँच इन्द्रिय और एक अनिन्द्रिय ये छह निमित्त बतलाये हैं उन सब से ये अवग्रह आदि चारों ज्ञान उत्पन्न होते हैं इसलिये मतिज्ञान के चौबीस भेद हो जाते हैं जो निम्नलिखित कोष्ठक में दरसाये गये हैं—

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	,,	,,	,,	,,
घ्राण	,,	,,	,,	,,
चक्षु	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र	,,	,,	,,	,,
मन	,,	,,	,,	,,

शंका—इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला ज्ञान तो निर्विकल्प है। वे स्पर्श आदि विषयों को जानती तो हैं पर उनमें यह 'ठंडा है गरम नहीं, इसे ठंडा ही होना चाहिये, यह ठंडा ही है' इत्यादि विकल्प नहीं पैदा होते। ये सब विकल्प तो मानसिक परिणाम हैं। किन्तु इन विकल्पोंके बिना मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये भेद बन नहीं सकते, अतः प्रत्येक इन्द्रिय का कार्य अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मानना उचित नहीं ?

समाधान—यह सही है कि उक्त विकल्प मानसिक परिणाम हैं। इन्द्रियाँ तो अभिमुख विषय को ग्रहण करती मात्र हैं उनमें विधि-निषेधरूप जितने भी विकल्प होते हैं वे सब मन से ही होते हैं। तथापि उनमें इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित रहती है इसलिये तद्द्वारा होनेवाले ईहा, अवाय और धारणा रूप कार्य इन्द्रियों के माने गये हैं।

शंका—तब फिर एकेन्द्रियादि जिन जीवों के मन नहीं पाया जाता है उनके प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा अवग्रह आदि चार प्रकार का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान—संज्ञी पंचेन्द्रियों में मतिज्ञान के ये भेद देखकर अन्यत्र उनका उपचार किया जाता है।

शंका—चींटी आदि को अनिष्ट विषय से निवृत्त होते हुए और इष्ट विषय में प्रवृत्ति करते हुए देखा जाता है, इससे ज्ञात होता है कि एकेन्द्रिय आदि जीवों के भी उक्त प्रकार से ज्ञान होता है ?

समाधान—यद्यपि एकेन्द्रिय आदि जीवों के मन नहीं हैं तो भी जिनके जितनी इन्द्रियाँ होती हैं उनमें ऐसी योग्यता होती है जिससे वे अनिष्ट विषय से निवृत्त होकर स्वभावतः इष्ट विषय में प्रवृत्ति करते रहते हैं॥ १५॥

अवग्रह आदि के विषयभूत पदार्थों के भेद—

*** बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥**

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनके प्रतिपक्षभूत पदार्थों के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान होते हैं।

अबतक मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेद और उनके निमित्त बतलाये पर यह नहीं बतलाया कि इन सबकी प्रवृत्ति किनमें होती है। प्रस्तुत सूत्र में यही बतलाया गया है। यहाँ मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थों के बारह भेद किये गये हैं सो ये सब भेद पदार्थ, क्षयोपशम और निमित्त की विविधता के कारण से किये गये जानना चाहिये। पाँच इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाला अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान इन बारह प्रकार के विषयों में प्रवृत्त होता है यह इस सूत्र का भाव है। इस प्रकार मतिज्ञान के कुल भेद २८८

---

* श्वेताम्बर भाष्यमान्य पाठ यों है—'बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम्' देखो पं० सुखलालजी का तत्त्वार्थसूत्र पृ० २५।

होते हैं। किन्तु इनमें व्यञ्जनाग्रह के ४८ भेद सम्मिलित नहीं हैं। वे २८८ भेद ये हैं—

बहुग्राही	छह अवग्रह	छह ईहा	छह अवाय	छह धारणा
अल्पग्राही	"	"	"	"
बहुविधग्राही	"	"	"	"
एकविधग्राही	"	"	"	"
क्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अक्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अनिःसृतग्राही	"	"	"	"
निःसृतग्राही	"	"	"	"
अनुक्तग्राही	"	"	"	"
उक्तग्राही	"	"	"	"
ध्रुवग्राही	"	"	"	"
अध्रुवग्राही	"	"	"	"

अब इन बारह प्रकार के विषयों का क्या अभिप्राय है यह बतलाते हैं—

१ बहु—बहुत। यह संख्या और परिमाण दोनों की अपेक्षा हो सकता है। संख्या की अपेक्षा बहुत—बहुत मनुष्य या बहुत वृक्ष आदि। परिमाण की अपेक्षा बहुत—बहुत दाल या बहुत भात आदि।

२ अल्प—थोड़ा। यह भी संख्या और परिमाण की अपेक्षा दो प्रकारका है। संख्या की अपेक्षा अल्प—थोड़े मनुष्य या थोड़े वृक्ष

आदि। परिमाण की अपेक्षा अल्प—थोड़ा भात या थोड़ी दाल आदि।

३ बहुविध—संख्या या परिमाण प्रत्येक की अपेक्षा बहुत प्रकार के पदार्थ।

४ एकविध—संख्या या परिमाण प्रत्येक की अपेक्षा एक प्रकार के पदार्थ।

बहु तथा अल्प में प्रकार, किस्म या जाति विवक्षित नहीं रहती किन्तु बहुविध और एकविध में ये विवक्षित रहती हैं, यही इनमें अन्तर है।

५ क्षिप्र—पदार्थों का शीघ्रता पूर्वक ज्ञान या अतिवेग से गतिशील पदार्थ। पहले अर्थ में ज्ञान का धर्म पदार्थ में आरोपित किया गया है और दूसरे अर्थ में गति क्रिया की अपेक्षा से पदार्थ को क्षिप्र मान लिया है।

६ अक्षिप्र—क्षिप्र का उलटा।

७—अनिःसृत†—नहीं निकला हुआ। जो पदार्थ पूरा छिपा रहता है वह भी अनिःसृत कहलाता है और जिसका एक हिस्सा छिपा रहता है वह भी अनिःसृत कहलाता है।

८ निःसृत—अनिःसृत का उलटा।

९ अनुक्त‡—अभिप्राय गत पदार्थ या जिसके विषय में कुछ नहीं कहा गया है वह पदार्थ।

---

† श्वेताम्बर ग्रन्थों में 'अनिश्रित' ऐसा पाठ है। तदनुसार ऐसा अर्थ किया है कि लिंगअप्रमित अर्थात् हेतु द्वारा असिद्ध वस्तु अनिश्रित कहलाती है और लिंगप्रमित वस्तु निश्रित कहलाती है। देखो पं० सुखलालजी का तत्त्वार्थसूत्र पृ० २७।

‡ श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसके स्थान में असन्दिग्ध और अनुक्त ऐसे दोनों पाठों का

१० उक्त—कहा गया पदार्थ।

११ ध्रुव—कुछ काल तक एक रूप से ग्रहण करते रहना या चिर-काल तक अवस्थित रहनेवाले पदार्थ। पहले अर्थ में ज्ञान गत धर्म का पदार्थमें आरोप किया गया है और दूसरे अर्थ में व्यञ्जन पर्याय का अवस्थितपना विवक्षित है।

१२ अध्रुव—ध्रुव का उलटा।

इन बारह प्रकार के विषयों का पाँच इन्द्रिय और मन से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान होता है यह अब तक के कथन का तात्पर्य है।

इस विषय में विशेष ज्ञातव्य—

नि:सृत-अनि:सृत विचार

एक देश प्रकट हुए पदार्थ के ज्ञान से पूरे पदार्थ का ज्ञान होना अनि:सृतग्रहण है। अनि:सृत मतिज्ञान का ऐसा अर्थ करने पर वह मतिज्ञान नहीं ठहरेगा, क्योंकि यहाँ एकदेश प्रकट हुए पदार्थ का ज्ञान पूरे पदार्थ के ज्ञान में कारण पड़ा, इसलिये यह पूरे पदार्थ का ज्ञान श्रुत ज्ञान हुआ, अतः अनि:सृत मतिज्ञान का इस प्रकार अर्थ करना चाहिये कि पदार्थ का एकदेश योग्य सन्निकर्ष में अवस्थित होने पर सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान हो जाना अनि:सृत मतिज्ञान है। जैसे हाथी की सूँड सामने आते ही केवल सूंड का ज्ञान न होकर सूँड सहित पूरे हाथी का ज्ञान होना अनि:सृत मतिज्ञान है। तात्पर्य यह है कि पहले प्रकट हिस्से का ज्ञान हो और फिर उसके आधार से अप्रकट अंश का ज्ञान हो यह अर्थ अनि:सृत मतिज्ञान में इष्ट नहीं।

उल्लेख है। वहां असंदिग्ध का अर्थ निश्चित और संदिग्ध का अर्थ अनिश्चित किया है। अनुक्त उक्त का वही अर्थ किया है जो दिगम्बर ग्रन्थों में पाया जाता है। देखो पं० सुखलाल जी का तत्त्वार्थसूत्र टिप्पनी पृ० २८।

इसी प्रकार अनुक्त ग्रहण में भी पहले अन्य निमित्तका ग्रहण हो और फिर उस पर से अभिप्राय गत पदार्थ का ग्रहण हो यह अर्थ इष्ट नहीं, है क्यों कि ऐसा अर्थ करने पर वही दोष आता है जो अनिःसृत मतिज्ञान के विशेष व्याख्यान के समय बतला आये हैं। मुख्यतया अनुक्त का मतलब ऐसे पदार्थ से है जिसके विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है उसको अवग्रह आदि के क्रम से जानना अनुक्त मतिज्ञान है। वीरसेन स्वामी धवला में इसके विषय में लिखते हैं कि विवक्षित इन्द्रिय द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने के समय ही अन्य विषय का ग्रहण हो जाना अनुक्त प्रत्यय है। जैसे जिस समय चक्षु से नमक या मिसरी को जानते हैं उसी समय उसके रस का ज्ञान होना या जिस समय दीपक को देखा उसी समय उसके स्पर्श का ज्ञान होना अनुक्त ज्ञान है।

उक्त-अनुक्त विचार

अब श्रोत्र इन्द्रिय की अपेक्षा १२ प्रकार के उक्तभेद घटित करके बतलाते हैं—

तत, वितत, घन और सुशिर आदि शब्दों को सुन कर एक साथ उनका ज्ञान करना बहुज्ञान है। इनमें से कुछ शब्दों को सुनकर उनका ज्ञान करना अल्पज्ञान है। तत आदि नाना प्रकार के शब्दों को उनकी अनेक जातियों के साथ जानना बहुविध ज्ञान है। एकविध इससे उलटा है। शीघ्रता से शब्द को ग्रहण करना क्षिप्र ज्ञान है या अति शीघ्रता से उच्चारित शब्दों को जान लेना क्षिप्रज्ञान है। अक्षिप्र इससे उलटा है। शब्दों के पूरा उच्चारण न करने पर भी पूरा समझ लेना अनिःसृत ज्ञान है। निःसृत इससे उलटा है। शब्दोच्चारण करने के सन्मुख होने पर अभिप्राय से ही समझ लेना अनुक्तज्ञान है। उक्त इससे उलटा है। कहे गये अर्थ को जैसे प्रथम समय में ग्रहण किया है उसी प्रकार द्वितीयादि समयों में ग्रहण करना ध्रुवज्ञान है। अध्रुव इससे उलटा है। जैसे श्रोत्र इन्द्रिय की

उक्त पदार्थों के ज्ञान का खुलासा

अपेक्षा १२ प्रकार के पदार्थों का ज्ञान घटित करके बतलाया है, वैसे ही शेष इन्द्रिय और मन की अपेक्षा घटित कर लेना चाहिये।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यह बारह प्रकार के पदार्थों का ज्ञान अवग्रह, ईहा अवाय और धारणारूप चार प्रकार का होता है जो कि पाँच इन्द्रिय और मन इन छहों से उत्पन्न होता है। इसी से इसके २८८ भेद किये हैं। इनमें व्यंजनावग्रह के ४८ भेद मिला देने पर मतिज्ञान के कुल भेद ३३६ होते हैं ॥ १६ ॥

मतिज्ञान के भेद

अवग्रह आदि चारों का विषय–

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ के अवग्रह आदि चारों मतिज्ञान होते हैं।

पहले पाँच इन्द्रिय और मन के विषयभूत जो बारह प्रकार के पदार्थ बतला आये हैं वे सब अर्थ कहलाते हैं। उनका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप चारों प्रकार का ज्ञान होता है यह इस सूत्र का भाव है।

सूत्र का आशय

यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी ये इन्द्रियों के विषय अर्थ और व्यंजन इन दो भागों में बट जाते हैं जिससे अवग्रह ज्ञान के भी दो भेद हो जाते हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। ईहादिक के ये दो भेद नहीं प्राप्त होने का कारण यह है कि व्यंजन पदार्थ का केवल अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते।

अवग्रह के दो भेद होने के कारण

अब अर्थ किसे कहते हैं सर्व प्रथम इसका विचार करते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं तथा शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। दूसरी बात यह लिखी है कि जो शब्दादि अर्थ अव्यक्त होते हैं वे व्यंजन कहलाते हैं। इस पर से अर्थ का यह स्वरूप फलित

अर्थ की परिभाषा

होता है कि चक्षु और मन का विषय तो अर्थ कहलाता ही है। शेष चार इन्द्रियों का विषय भी यदि व्यक्त होता है तो वह भी अर्थ कहलाता है। यद्यपि पूज्यपाद स्वामी ने अर्थ के स्वरूप का निर्देश करते समय प्रमुखता से चक्षु इन्द्रिय का ही नाम लिया है जिससे ज्ञात होता है कि पूज्यपाद स्वामी स्वयं एतत्प्रकारक विषय को अर्थ मानते हैं। तथापि उन्होंने व्यंजन का लक्षण लिखते समय शब्दादि विषय के विशेषण रूप से जो अव्यक्त पद का निर्देश किया है सो इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे व्यक्त शब्दादिक को भी अर्थ की कोटि में सम्मिलित करते हैं।

किन्तु वीरसेन स्वामी अर्थ और व्यंजन के उक्त लक्षण से सहमत नहीं हैं। वीरसेन स्वामी चक्षु और मन को केवल अप्राप्यकारी मानते हैं और शेष चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार का मानते हैं।

अर्थ की अन्य परिभाषा

उनका मत है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को छू कर जानती हैं यह तो सर्व-विदित है। किन्तु ये चक्षु और मन के समान अप्राप्त अर्थ को भी विषय करती हैं। इस कारण से उन्होंने अर्थ और व्यंजन की परिभाषा करते हुए केवल अप्राप्त विषय को अर्थ और प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहण को व्यंजन बतलाया है।

यद्यपि यहाँ पर इन्द्रियों के विषय को अर्थ और व्यंजन इस प्रकार दो भागों में बाँट दिया गया है पर यह दोनों प्रकार का विषय सामान्य और विशेष उभयरूप ही होता है।

अर्थ की उभयात्मकता

आशय यह है कि इन्द्रिय और मन न केवल सामान्य को ही विषय करते हैं और न केवल विशेष को ही विषय करते हैं किन्तु सामान्य और विशेष उभयात्मक वस्तु को ही विषय करते हैं।

शंका—जब कि स्पर्शन आदि इन्द्रियों का विषय स्पर्श आदि है

और ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं तब इनका विषय उभयात्मक वस्तु न मानकर पर्याय मानना चाहिये ?

समाधान—इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण तो वस्तु का ही होता है किन्तु उनमें अलग-अलग धर्म को अभिव्यक्त करने की योग्यता होने से प्रत्येक इन्द्रिय का विषय अलग-अलग धर्म कहा जाता है। उदाहरणार्थ—घ्राण इन्द्रिय से गन्ध का संयोग न होकर सुगन्ध या दुर्गन्धवाले परमाणुओं का ही संयोग होता है। किन्तु घ्राण इन्द्रिय में गन्ध को अभिव्यक्त करने के योग्यता होने से इसका विषय गन्ध कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में जानना चाहिये।

शंका—नय ज्ञान से इन्द्रिय ज्ञान में क्या अन्तर है, क्योंकि एक धर्म द्वारा वस्तु को विषय करना नय है और पूर्वोक्त कथन से इन्द्रिय ज्ञान भी इसी प्रकार का प्राप्त होता है। यहाँ भी स्पर्श आदि एक-एक धर्म द्वारा वस्तु का बोध होता है ?

समाधान—नय ज्ञान विश्लेषणात्मक है इन्द्रिय ज्ञान नहीं, यही इन दोनों में अन्तर है।

अन्यमत निरास

अन्य लोग इन्द्रियों के साथ केवल रूपादि गुणों का सन्निकर्ष मानते हैं। किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि रूपादि गुण अमूर्त हैं। उनके साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न होकर रूपादि गुणवाले पदार्थों के साथ ही इन्द्रियों का सन्निकर्ष होता है। यद्यपि 'मैंने रूप देखा, गन्ध सूँघा' ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु यह व्यवहार औपचारिक है। वास्तव में इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण तो अर्थ का ही होता है, परन्तु रूपादिक अर्थ से कथंचित् अभिन्न होते हैं इसलिये अर्थ का ग्रहण होने से इनका भी ग्रहण बन जाता है॥ १७॥

अवग्रह का दूसरा भेद—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

व्यञ्जन का अवग्रही होता है।

किन्तु वह चक्षु और मन से नहीं होता।

पूर्व सूत्र में अर्थ का पारिभाषिक अर्थ बतलाते समय हम व्यंजनका भी पारभाषिक अर्थ बतला आये हैं। जब तक पदार्थ व्यंजन रूप रहता है तब तक उसका अवग्रह ही होता है जो नेत्र और मन से नहीं होता। नेत्र प्राप्तअर्थ को नहीं जानता इसलिये इससे व्यंजनाग्रह नहीं होता।

उक्त सूत्रों का आशय

इसी प्रकार मन भी प्राप्त अर्थ को नहीं जानता इसलिये इससे भी व्यञ्जनाग्रह नहीं होता। यह धवला टीका के अनुसार उक्त सूत्रों का भाव है।

किन्तु पूज्यपाद स्वामी और अकलंक देव प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहण मात्र को व्यंजनावग्रह नहीं मानते। उन्होंने प्राप्त अर्थ को व्यंजनावग्रह का विषय न मान कर अव्यक्त शब्दादिक को ही व्यंजनावग्रह का विषय माना है। उन्होंने लिखा है कि जैसे मिट्टी के नूतन सकोरे पर पानी की एक दो बूँद डालने मात्र से वह गीला नहीं होता। किन्तु पुनः पुनः सींचने पर वह अवश्य ही गीला हो जाता है। इसी प्रकार जब तक स्पर्शन, रसन, घ्राण, और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय स्पृष्ट होकर भी अव्यक्त रहता है तब तक उसका व्यंजनाग्रह ही होता है किन्तु उसके व्यक्त होने पर अर्थावग्रह होता है। उनके मत से प्राप्त अर्थ के अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह में यही अन्तर है। व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है और अव्यक्त ग्रहण का नाम व्यंजनावग्रह।

अन्य मत का निर्देश

शंका—इस मतभेद के रहते हुए अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह का सुनिश्चित लक्षण क्या माना जाय ?

समाधान—दोनों ही लक्षणों के मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका—सो कैसे ?

समाधान—विवक्ष्याभेद से। वीरसेन स्वामी प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहणमात्र को व्यंजनावग्रह रूप से विवक्षित करते हैं और पूज्यपाद स्वामी केवल अव्यक्त प्राप्त अर्थ के ग्रहण को व्यंजनाग्रह मानते हैं।

शंका—कितने ही विद्वान् क्षिप्रग्रहण को अर्थावग्रह और अक्षिप्र ग्रहण को व्यञ्जनावग्रह मानते हैं। सो उनका ऐसा मानना क्या उचित है ?

समाधान—नहीं

शंका—क्यों ?

समाधान—क्यों कि ऐसा मानने पर दोनों ही अवग्रहों के द्वारा बारह प्रकार के पदार्थों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता है।

इसलिये अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह के वे ही लक्षण मानने चाहिये जिनका निर्देश पीछे किया जा चुका है।

शंका—मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के क्रम से ही उत्पन्न होता है या इसमें व्यतिक्रम भी देखा जाता है ?

समाधान—मतिज्ञान अवग्रह ईहा आदि के क्रम से ही होता है। इसमें व्यतिक्रम का होना सम्भव नहीं है।

शंका—पदार्थ का जब भी मति ज्ञान होता है तब अवग्रह आदि चारों का होना क्या आवश्यक है ?

समाधान—नहीं।

शंका—तो फिर क्या व्यवस्था है ?

समाधान—कोई ज्ञान अवग्रह होकर छूट जाता है। किसी पदार्थ के अवग्रह और ईहा दो होते हैं। किसी के अवाय सहित तीन होते हैं

और किसी किसी पदार्थ के धारणा सहित चारों पाये जाते हैं। किन्तु परिपूर्ण ज्ञान अवाय के होने पर ही समझा जाता है।

शंका—'व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है' इतना सूचित करने मात्र से यह ज्ञात हो जाता है कि व्यञ्जन के सिवा शेष सब पदार्थों के अवग्रह आदि चारों होते हैं। फिर 'अर्थस्य' सूत्र की रचना किस लिये की गई है ?

समाधान—बहु आदि अर्थ के भेद हैं यह दिखलाने के लिये 'अर्थस्य' सूत्र की रचना की गई है।

शंका—क्या ये बहु आदि बारह भेद व्यञ्जन के भी प्राप्त होते हैं ?

समाधान—अवश्य प्राप्त होते हैं, क्योंकि पदार्थों को व्यञ्जनरूप इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा से माना गया है। जब स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियां पदार्थों को प्राप्त होकर जानती हैं तब वे पदार्थ प्रारम्भ में व्यञ्जनरूप माने जाते हैं अन्यथा नहीं यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शंका—इस प्रकार मतिज्ञान के कुल भेद कितने हैं ?

समाधान—तीनसौ छत्तीस।

शंका—सो कैसे ?

समाधान—दो सौ अठासी तो पहले ही बतला आये हैं। उनमें व्यञ्जनावग्रह के ४८ भेद मिला देने पर कुल तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते है ॥ १८-१९ ॥

श्रुतज्ञानका स्वरूप और उसके भेद—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। वह दो प्रकार का, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है।

सूत्र में आये हुए पूर्व शब्दका अर्थ कारण है। इसलिये श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है इसका यह मतलब है कि मतिज्ञान के निमित्त से

श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। मतिज्ञान हुए बिना श्रुतज्ञान नहीं हो सकता यह इसका भाव है। फिर भी मतिज्ञान को श्रुतज्ञान का निमित्त कारण मानना चाहिये उपादान कारण नहीं; क्योंकि उसका उपादान कारण तो श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही है।

शंका—मतिज्ञान से श्रुतज्ञान में क्या अन्तर है ?

समाधान—पाँच इन्द्रिय और मन इनमें से किसी एक के निमित्त से किसी भी विद्यमान वस्तुका सर्व प्रथम मतिज्ञान होता है। तदनन्तर इस मतिज्ञान पूर्वक उस जानी हुई वस्तुके विषयमें या उसके सम्बन्धसे अन्य वस्तुके विषय में विशेष चिन्तन चालू होता है जो श्रुतज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य विषयक चाक्षुष मतिज्ञान के होने के बाद उसके सम्बन्ध में मनमें यह मनुष्य है, पूर्व से आया है और पश्चिम को जा रहा है, रंग रूप तथा वेशभूषा से ज्ञात होता है कि यह पंजाबी होना चाहिये आदि विकल्प का होना श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान-अतीत, वर्तमान तथा अनागत इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। मतिज्ञान पांच इन्द्रिय और मन इन छहों के निमित्त से प्रवृत होता है किन्तु श्रुतज्ञान केवल मनके निमित्त से ही प्रवृत्त होता है इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में यही अन्तर है।

शंका—क्या श्रुतज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों से नहीं होती ?

समाधान—जैसे मतिज्ञान की उत्पत्तिमें इन्द्रियां साक्षात् निमित्त होती हैं वैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् निमित्त नहीं होतीं, इसलिये श्रुतज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों से न मानकर मन से ही मानी है। तथापि स्पर्शन आदि इन्द्रियों से मतिज्ञान होने के बाद जो श्रुतज्ञान होता है उसमें परम्परा से वे स्पर्शन आदि इन्द्रियां निमित्त मानी है, इसलिये मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति भी पांच इन्द्रिय और मन से कही जाती है पर यह कथन औपचारिक है।

शंका—मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात न होकर अधिकतर श्रुत ज्ञानपूर्वक भी श्रुतज्ञान देखा जाता है, जैसे घट शब्द का सुनना तदन्तर घट ऐसा मानसिक ज्ञान का होना और फिर घट में पानी भरा जाता है ऐसा घटकार्यका ज्ञान होना ये क्रमसे होनेवाले तीन ज्ञान हैं। इनमें से प्रथम मतिज्ञान और अन्तके दो श्रुतज्ञान हैं, इस प्रकार इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रुतज्ञान से भी श्रुतज्ञान होता है, अतः मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है यह कथन नहीं बनता है ?

समाधान—यावत् श्रुतज्ञानों के प्रारम्भ में मतिज्ञान होता है इस दृष्टि को सामने रखकर ही प्रस्तुत सूत्रमें 'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' यह कहा गया है। अथवा जितने भी श्रुतज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होते हैं उनमें से पूर्व ज्ञानको उपचार से मतिज्ञान मानने पर 'मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है' यह नियम बन जाता है।

शंका—श्रुत का अर्थ आगम या शास्त्र है, इसलिये उसके ज्ञान को ही श्रुतज्ञान मान लेनेमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—श्रुतका मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है वह तो श्रुतज्ञान है ही; किन्तु उसके साथ उस जातिका जो अन्य ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान मानना चाहिये। श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ऐसे जो दो भेद मिलते हैं सो वे इसी आधार से किये गये हैं।

शंका—श्रुत के दो, अनेक और बारह भेद कहे सो कैसे ?

समाधान—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ये श्रुतके दो भेद हैं। इनमें से अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं।

शंका—ये तो भाषात्मक शास्त्रों के नाम हुए श्रुतज्ञान के नहीं, पर

यहाँ श्रुतज्ञान का प्रकरण है, इसलिये यहां भाषात्मक शास्त्रोंके भेद न गिनाकर श्रुतज्ञान के भेद गिनाने थे ?

समाधान—मोक्ष के लिये इन शास्त्रोंका अभ्यास विशेष उपयोगी है, इसलिये कारण में कार्यका उपचार करके भाषात्मक शास्त्रोंको ही श्रुतज्ञान के भेदों में गिना दिया है। अथवा उक्त भाषात्मक शास्त्रों का और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का अन्योन्य सम्बन्ध है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के कितने क्षयोपशम के होने पर उक्त शास्त्रों का कितना ज्ञान प्राप्त होता है यह एक बँधा हुआ क्रम है, अतः इसी बात के दिखलाने के लिए यहाँ शास्त्रों के भेद गिनाये हैं।

शंका—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतमें क्या अन्तर है ?

समाधान—श्रुत के कुल अक्षर १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ माने गये हैं। इनमें मध्यम पद के १६३४८३०७८८८ अक्षरों का भाग देनेपर ११२८३५८०० मध्यम पद और ८०१०८१७५ अक्षर प्राप्त होते हैं। आचारांग आदि बारह अंगों की रचना उक्त मध्यम पदों द्वारा की जाती है इसलिये इनकी अंगप्रविष्ट संज्ञा है और शेष अक्षर अंगोंके बाहर पड़ जाते हैं इसलिए इनकी अंगबाह्य संज्ञा है। यद्यपि इन अंगों और अंगबाह्यों की रचना गणधर करते हैं। तथापि गणधरों के शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा जो शास्त्र रचे जाते हैं उनका समावेश अंगबाह्य श्रुत में ही होता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतमें यही अन्तर है।

शंका—क्या एक पद में (मध्यम पदमें) उक्त अक्षरोंका पाया जाना सम्भव है ?

समाधान—मध्यम पद के ये अक्षर विभक्ति या अर्थ बोध की प्रधानता से नहीं बतलाये गये हैं किन्तु १२ अंगरूप द्रव्यश्रुत में से प्रत्येक के अक्षरों की गणना करनेके लिये मध्यमपदका यह प्रमाण मान लिया गया है।

शंका—बारह अंग कौन से हैं ?

समाधान—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिक दश, प्रश्न व्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह अंग हैं।

शंका—अंग बाह्य कौन से है ?

समाधान—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका ये अंगबाह्य हैं।

शंका—क्या अंगबाह्य के इतने ही भेद हैं ?

समाधान—गणधर द्वारा रचे गये अंगबाह्य श्रुतके इतने ही भेद हैं। किन्तु उनके शिष्यों और प्रशिष्यों द्वारा जिन षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, समयसार आदि शास्त्रों की रचना की गई है वे भी अंगबाह्य कहलाते हैं और वे बहुत हैं।

शंका—षट्खण्डागम और कषायप्राभृत श्रुत की रचना जब कि अंगप्रविष्ट श्रुतके आधार से की गई है ऐसी हालत में इनका समावेश अंगबाह्य श्रुतमें न कर के अंगप्रविष्ट में ही करना चाहिये ?

समाधान—अंगप्रविष्ट श्रुत में आचारांग आदि मूल श्रुत का ही समावेश किया गया है शेष सब श्रुत अंगबाह्य माना गया है। इसी से यहाँ षट्खण्डागम आदि की गणना अंगबाह्य श्रुतमें की गई है।

शंका—क्या वर्तमान में जो विविध लौकिक विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही हैं। उनका अन्तर्भाव श्रुत में होता है ?

समाधान—श्रुत में तो उनका भी अन्तर्भाव होता है। पर परमार्थ में उपयोगी न होने से उन्हें लौकिक श्रुत माना गया है।

शंका—क्या मुमुक्षु को ऐसे श्रुत का अभ्यास करना उचित है ?

समाधान—मुमुक्षु को मुख्यतया ऐसे ही श्रुत का अभ्यास करना

चाहिये जो वीतरागता का पोषक हो। लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये यदि वह अन्य श्रुत का अवलोकन करता है तो ऐसा करना अनुचित नहीं है फिर भी उस अभ्यास को परमार्थ कोटिका नहीं माना जा सकता है। उसमें भी जो कथा, नाटक और उपन्यास आदि राग को बढ़ाते हैं। जिनमें नारी को विलास और काम की मूर्ति रूप से उपस्थित करके नारीत्व का अपमान किया गया है। जिनके पढ़ने से मारकाट की शिक्षा मिलती है। मनुष्य मनुष्यता को भूलकर पशुता पर उतारू होने लगता है उनका वाचना, सुनना सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

शंका—जब कि विविध दर्शन और धर्म के ग्रन्थ भी श्रुत कहलाते हैं तब फिर उनके पठन-पाठन का निषेध क्यों किया जाता है?

समाधान—मोक्ष मार्ग में प्रयोजक नहीं होने से ही उनके पठन-पाठन का निषेध किया जाता है। वैसे ज्ञान को बढ़ाने के लिये और सद्धर्म की सिद्धि के लिये उनका ज्ञान प्राप्त करना अनुचित नहीं है। इससे कौन धर्म समीचीन है और कौन असमीचीन इसका विवेक प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु स्वसमय का अभ्यास करने के बाद ही परसमय का अभ्यास करना चाहिये अन्यथा सत्पथ से च्युत होने का डर बना रहता है॥ २०॥

अवधिज्ञान के भेद और उनके स्वामी—

[1]भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्॥ २१॥

[2]क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्॥ २२॥

---

(१) श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह सूत्र यों है 'तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवाणाम्। इस सूत्र के पहले 'द्विविधोऽवधिः' यह सूत्र और पाया जाता है। यह सर्वार्थसिद्धि में इसी सूत्र की उत्थानिका में निर्दिष्ट है।

(२) श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह सूत्र यों है 'यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।' भाष्यकार ने 'यथोक्तनिमित्तः' का अर्थ अवश्य ही क्षयोपशम निमित्तः' किया है।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकों के होता है।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छः प्रकार का है जो शेष अर्थात् तिर्यंचों और मनुष्यों के होता है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक ये दो भेद हैं। क्षयोपशमनिमित्तक का दूसरा नाम गुणप्रत्यय भी है। जिसके उत्पन्न होने में भव ही निमित्त है अर्थात् जिसकी उत्पत्ति में व्रत नियम आदि कारण नहीं पड़ते किन्तु जो पर्याय विशेष की अपेक्षा जन्म से ही उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। जिस प्रकार पक्षियों को आकाश में उड़ने की शिक्षा नहीं लेनी पड़ती। वे स्वभाव से ही उड़ने लगते हैं। उड़ना उनका पर्यायगत धर्म है। उसी प्रकार भव प्रत्यय अवधि ज्ञान जानना चाहिये। तथापि इसके उत्पन्न होने में इतनी विशेषता है कि यदि भपप्रत्यय अवधिज्ञान का अधिकारी सम्यग्दृष्टि होता है तो वह भव के प्रथम समय से ही उत्पन्न हो जाता है और यदि अधिकारी मिथ्यादृष्टि होता है तो वह पर्याप्त होने के बाद ही उत्पन्न होता है। तथा जो अवधिज्ञान जन्म से नहीं होता किन्तु व्रत नियम आदि के बल से प्राप्त होता है वह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान है।

शंका—क्या भवप्रत्यय अवधिज्ञान में क्षयोपशम नहीं होता ?

समाधान—अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम तो उसमें भी होता है तथापि उसकी उत्पत्ति में भव की प्रधानता है इसलिये उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा है और क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान भव की प्रधानता से नहीं होता। किन्तु अन्य निमित्तों के मिलने पर जब अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है तब होता है इसलिये इसे क्षयोपशमनिमित्तक कहा है। तात्पर्य यह है कि कोई भी अवधिज्ञान क्यों न हो वह क्षयोपशम के बिना तो हो ही नहीं सकता; अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम तो अवधिज्ञान मात्र में अपेक्षित है। वह उसका साधा-

रण कारण है; तो भी कोई अवधिज्ञान भवप्रत्यय और कोई क्षयोपशम निमित्तक कहलाता है यह भेद अन्य निमित्तों की अपेक्षा से किया गया है जिनका निर्देश पहले किया ही है।

इन दो अवधिज्ञानों में से भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवगति के जीवों के और नरकगति के जीवों के होता है। जैसे पक्षियों में जन्म से ही शिक्षा उपदेश के बिना ही आकाश में उड़ने की शक्ति होती है वैसे ही इन दो गतियों के जीवों के बिना प्रयत्न के जन्म से अवधिज्ञान होता है। तथा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। इसके लिये इन्हें खास योग्यता सम्पादित करनी पड़ती है जिसके होने पर ही यह अवधिज्ञान होता है।

यही सबब है कि तिर्यंचों और मनुष्यों में यह सब के नहीं पाया जाता है। यद्यपि मनुष्यों में तीर्थंकर मात्र के और किसी किसी विशिष्ट अन्य मनुष्य के भी जन्म से ही अवधिज्ञान होता है, इन्हें इसके लिये व्रत नियम आदि का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता, पर यह अपवाद है।

सूत्र में क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान के छह भेद बतलाये हैं। वे ये हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

१ जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ साथ चलता है वैसे ही जो ज्ञान उसके उत्पत्ति स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर या उत्पत्ति के भव को छोड़ कर दूसरे भव में चले जाने पर भी बना रहता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है।

२ जैसे उन्मुग्ध पुरुष के प्रश्न के उत्तर में दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं रह जाता है उन्मुग्ध पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता वैसे ही जो अवधिज्ञान उसके उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर कायम नहीं रहता या भवान्तर में साथ नहीं जाता वह अननुगामी अवधिज्ञान है।

३ जैसे अग्नि की चिनगारी छोटी होने पर भी क्रम से बढ़ते हुए सूखे ईंधन आदि दाह्य को पाकर क्रमशः बढ़ती जाती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकाल में अल्प होने पर भी परिणामों की शुद्धि के कारण क्रम से बढ़ता जाता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है।

४ जैसे परिमित दाह्य वस्तुओं में लगी हुई आग नया दाह्य न मिलने से क्रमशः घटती जाती है वैसे ही जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिकाल से लेकर उत्तरोत्तर कमती कमती होता जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान है।

५ जैसे शरीर में तिल मसा आदि चिह्न उत्पत्तिकाल से लेकर मरण तक एक से बने रहते हैं न घटते है न बढ़ते हैं वैसे ही जो अवधिज्ञान मरण तक या केवलज्ञान की उत्पत्ति होने तक एक सा बना रहता है वह अवस्थित अवधिज्ञान है।

६ जल की तरंगों के समान जो अवधिज्ञान कभी घटता है कभी बढ़ता है और कभी अवस्थित रहता है वह अनवस्थित अवधिज्ञान है।

शंका—देव और नारकियों के तो भव के प्रथम समय से ही अवधिज्ञान होता है किन्तु शेष के तपश्चर्या आदि करने पर ही वह प्राप्त होता है सो ऐसा क्यों है ?

समाधान—यह उस उस पर्याय की विशेषता है। जिस प्रकार पक्षियों में जन्म लेने के बाद ही आकाश में उड़ने की शक्ति आ जाती है मनुष्यों में नहीं आती उसी प्रकार अवधिज्ञानकी उत्पत्ति के विषय में जानना चाहिये। अथवा जिस प्रकार चौपाये में उत्पन्न होने के बाद ही पानी में तैरने की योग्यता होती है मनुष्य में नहीं उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिये ॥ २१—२२ ॥

मनःपर्यय ज्ञान के भेद और उनका अन्तर–

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः* ॥ २३ ॥

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

ऋजुमति और विपुलमति ये दो मनःपर्यय ज्ञान हैं।

विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा उनमें अन्तर है।

मनःपर्यय ज्ञान का अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान। आशय यह है कि संज्ञी जीवों के मनमें जितने विकल्प उत्पन्न होते हैं संस्कार रूप से वे उसमें कायम रहते हैं; मनःपर्यय ज्ञान संस्कार रूप से स्थित मन के इन्हीं विकल्पों को जानता है, इसलिये वह मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है।

षट्खण्डागम कर्मप्रकृति अनुयोग द्वार में एक सूत्र आया है जिसका भाव है कि 'मनःपर्ययज्ञानी मन से मानस को ग्रहण करके मनःपर्यय ज्ञान से दूसरे के नाम, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, नगर विनाश, देश विनाश, जनपद विनाश, खेट विनाश, कर्वट विनाश, मंडब विनाश, पत्तन विनाश, द्रोणमुख विनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय और रोग को काल की मर्यादा लिये हुए जानता है। तात्पर्य यह है कि मनःपर्यय ज्ञान इन सबके उत्पाद, स्थिति और विनाश को जानता है।'

इस सूत्र में यद्यपि मनःपर्यय ज्ञान द्वारा संज्ञा और मति आदि के जानने का उल्लेख है तथापि उक्त विविध विषयों को मनःपर्ययज्ञानी मन की पर्याय रूप से ही जानता है अन्य प्रकार से नहीं यह इसका

---

* श्वेताम्बर पाठ 'मन-पर्ययः' के स्थान में 'मनःपर्यायः' है। 'विशुद्धि-क्षेत्र–' इत्यादि सूत्रमें भी ऐसा ही पाठ है।

भाव है। मनःपर्ययज्ञानी पहले मतिज्ञान द्वारा अन्य के मानस को ग्रहण करता है और तदनन्तर मनःपर्यय ज्ञान की अपने विषय में प्रवृत्ति होती है यह जो उक्त सूत्र में निर्देश किया है उससे भी उक्त अभिप्राय की ही पुष्टि होती है।

इसके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं। जो ऋजु मन के द्वारा विचारे गये, ऋजु वचन के द्वारा कहे गये और ऋजु काय के द्वारा किये गये मनोगत विषय को जानता है वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है उसका उसी प्रकार चिन्तवन करनेवाले मन को ऋजुमन कहते हैं। जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है उसका उसी रूप से कथन करनेवाले वचन को ऋजु वचन कहते हैं तथा जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है उसे अभिनय द्वारा उसी प्रकार से दिखलाने वाले काय को ऋजुकाय कहते हैं। इस ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहती है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी पहले मतिज्ञान के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर अनन्तर मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरे के मनमें स्थित उसका नाम, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवन, मरण, इष्ट अर्थ का समागम, अनिष्ट अर्थका वियोग, सुख, दुःख, नगर आदि की समृद्धि या विनाश आदि विषयों को जानता है।

तथा जो ऋजु और अनृजु दोनों प्रकार के मानसिक, वाचनिक और कायिक मनोगत विषय को जानता है वह विपुलमति मनः-पर्ययज्ञान है। इनमें से ऋजुमन, वचन और काय का अर्थ अभी पीछे कह आये हैं। तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मन, वचन और कायके व्यापार को अनृजु मन, वचन और काय कहते हैं। यहाँ आधे चिन्तवन या अचिन्तवन का नाम अन-ध्यवसाय है। दोलायमान चिन्तवन का नाम संशय है और विपरीत चिन्तवन का नाम विपर्यय है। विपुलमति वर्तमान में

चिन्तवन किये गये विषय को तो जानता ही है पर चिन्तवन करके भूले हुए विषय को भी जानता है। जिसका आगे चिन्तवन किया जायगा उसे भी जानता है। यह विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी भी मतिज्ञान से दूसरे के मानस को अथवा मतिज्ञान के विषय को ग्रहण करके अनन्तर ही मनःपर्ययज्ञान से जानता है।

ऋजुमती और विपुलमति इन दोनों में विपुलमति विशुद्धतर है; क्योंकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और अधिक विषय को जानता है। इसके सिवा दोनों में यह भी अन्तर है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् नष्ट भी हो जाता है; क्योंकि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी के मोक्ष जानेका नियम नहीं है। पर विपुलमति नष्ट नहीं होता, वह केवलज्ञान की प्राप्तिपर्यन्त अवश्य बना रहता है॥ २३—२४ ॥

अवधि और मनःपर्यय का अन्तर—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय इनकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें अन्तर है।

पहले अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का वर्णन कर आये हैं पर उससे इन दोनों का अन्तर नहीं ज्ञात होता। जिसका ज्ञात होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः इसी बातको बतलाने के लिये प्रस्तुत सूत्र की रचना हुई है। इन दोनों ज्ञानों में जो क्षयोपशम आदि की अपेक्षा से अन्तर है वह निम्न चार बातों से जाना जाता है—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय। खुलासा इस प्रकार है—१ अवधि ज्ञानके विषय से मनःपर्यय ज्ञानका विषय सूक्ष्म है। २—अवधि ज्ञान का क्षेत्र, अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर असंख्यात लोक प्रमाण तक है और मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र सिर्फ मनुष्य लोकपर्यन्त ही है। ३—अवधि ज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव हो सकते हैं पर मनः

पर्यय ज्ञानके स्वामी वर्धमान-चारित्रवाले और सात प्रकार की ऋद्धियोंमें से कम से कम किसी एक ऋद्धि के धारक संयत ही हो सकते हैं। ४— अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्यायसहित रूपी द्रव्य है और मनःपर्ययज्ञान का विषय उसका अनन्तवां भाग है। इस प्रकार इन दोनों ज्ञानों में विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामीकृत और विषयकृत अन्तर है यह इसका भाव है ॥ २५ ॥

पांचों ज्ञानों के विषय —

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु * ॥ २६ ॥

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त रूपी पदार्थों में होती है।

मनः पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है।

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों में और उनकी सब पर्यायों में होती है।

पांचों ज्ञानों का विषय

प्रस्तुत सूत्रों में पाँचो ज्ञानों के विषय का निर्देश किया है। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सब द्रव्यों को जान सकते हैं पर वे सब पर्यायों को न जानकर उनकी कुछ ही पर्यायों को जान सकते हैं। अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थों को ही जान सकता है अरूपी पदार्थों को नहीं। रूपी पदार्थों से पुद्गल और संसारी जीव लिये गये हैं। मनःपर्ययज्ञान जानता तो रूपी

* श्वेताम्बर सूत्रपाठ 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' ऐसा है।

पदार्थों को ही है पर अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवें भाग में इसकी प्रवृत्ति होती है। और केवलज्ञान का माहात्म्य अचिन्त्य है। वह होता भी निरावरण है इसलिये वह रूपी और अरूपी सभी द्रव्य और उनकी सब पर्यायों को युगपत् जानता है। यह उक्त सूत्रों का भाव है।

शंका—जब कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं तब वे रूपी पदार्थों के सिवा अरूपी पदार्थों को कैसे जान सकते हैं?

समाधान—यद्यपि पांच इन्द्रियों के निमित्त से जो मतिज्ञान और उस पर से जो श्रुतज्ञान होता है वे रूपी पदार्थ को ही जान सकते हैं, पर मन के निमित्त से होनेवाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूपी और अरूपी दोनों प्रकार के पदार्थों को जान सकते हैं; क्यों कि मन उपदेश पूर्वक रूपी और अरूपी सभी प्रकार के पदार्थों का चिन्तवन करके उनकी सत्ता और कार्यों का अनुभव कर सकता है। आशय यह है कि जैसे किसी वस्तु के परोक्ष रहने पर भी यदि अन्य साधनों द्वारा उनका चित्र मानस पटल पर अंकित हो जाय तो वह देखी हुई सी प्रतिभासित होने लगती है वैसे ही यद्यपि अरूपी पदार्थ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सर्वथा परोक्ष हैं तथापि मन से बार बार विचार करने पर उनका अस्तित्व और उनके कार्य अनुभवगम्य हो जाते हैं और इसी से मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति अरूपी पदार्थों में बतलाई है। आशय यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के द्वारा अरूपी पदार्थों का साक्षात् ग्रहण न हो कर मानसिक विकल्पों द्वारा ही उनका ग्रहण होता है। इसी से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूपी और अरूपी पदार्थों को जान सकते हैं यह बतलाया है।

सांख्यदर्शन में आत्मा को चेतन मान कर भी ज्ञान को आत्मा का धर्म नहीं माना है। वह इसे प्रकृति का परिणाम मानता है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन में ज्ञान माना तो गया है जीवनिष्ठ ही पर भेद-वादी होने के कारण वे आत्मा में समवाय सम्बन्ध से इसका सद्भाव

मानते हैं। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मुक्तावस्था में ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु इसके विपरीत एक जैन दर्शन ही ऐसा है जिसने ज्ञान को आत्मा का स्वभाव माना है। इस दर्शन में जीव ज्ञानघनपूर्ण माना गया है। किन्तु अनादि काल से पर द्रव्य के संयोग वश जीव अशुद्ध हो रहा है। जिस कारण से निमित्त भेद से वह ज्ञान पांच भागों में विभक्त हो जाता है। जब तक अशुद्धता रहती है तब तक योग्यता और निमित्तानुसार चार अशुद्ध ज्ञान प्रकट होते हैं और अशुद्धता के हटते ही केवलज्ञान महासूर्य का उदय होता है। इनमें से प्रारम्भ के चार ज्ञान पंगु हैं इसलिए अपनी अपनी सीमा के अनुसार वे पदार्थों को जानते हैं और केवलज्ञान परिपूर्ण है इसलिए पदार्थों को जानने की उसकी कोई सीमा नहीं है। वह त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है। इसी सिद्धांत को ध्यान में रखकर प्रकृत सूत्रों में पाँचों ज्ञानों के विषय का निर्देश किया गया है ॥ २६—२९ ॥

एक साथ एक आत्मा में कमसे कम और अधिक से अधिक कितने ज्ञान सम्भव हैं इसका खुलासा—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥३०॥

एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान विकल्प से होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि एक साथ एक आत्मा में कम से कम कितने और अधिक से अधिक कितने ज्ञान हो सकते हैं। एक साथ किसी आत्मा में एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान हो सकते हैं पर एक साथ पाँचों ज्ञान किसी भी आत्मा में नहीं हो सकते। एक ज्ञान सिर्फ केवलज्ञान होता है, क्योंकि उसकी प्राप्ति सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षय से होती है, इसलिए उस

समय क्षायोपशमिक अन्य ज्ञानों की प्राप्ति सम्भव नहीं। दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, क्योंकि एक तो ये दोनों नियत सहचारी हैं और दूसरे केवलज्ञान के प्राप्त होने के पहले सब संसारी जीवों के इनका पाया जाना निश्चित है। तीन मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं, क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो नियम से होते हैं किन्तु इनके सिवा दो अन्य अपूर्ण ज्ञानों का एक साथ या अकेले होना आवश्यक नहीं है, इसलिए उनमें से अपनी अपनी योग्य सामग्री के मिलने पर कोई एक ज्ञान भी हो सकता है। यदि अवधिज्ञान होता है तो मति, श्रुत और अवधि यह पहला विकल्प बन जाता है और यदि मनःपर्ययज्ञान होता है तो मति, श्रुत और मनःपर्यय यह दूसरा विकल्प बन जाता है। चार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मःनपर्ययज्ञान होते हैं; क्योंकि चारों क्षायोपशमिक ज्ञानों के एक साथ होने में कोई बाधा नहीं है। पर इन चार ज्ञानों के साथ या इनमें से किसी भी ज्ञान के साथ केवलज्ञान के नहीं हो सकने का कारण यह है कि वह पूर्ण ज्ञान है और शेष अपूर्ण ज्ञान हैं, इसलिये अपूर्ण ज्ञानों के साथ पूर्णज्ञान के होनेमें विरोध है।

शंका—प्रस्तुत सूत्र में जो एक से अधिक ज्ञानों का सम्भव एक साथ बतलाया सो किस अपेक्षा से बतलाया है ?

समाधान—क्षयोपशम की अपेक्षा से बतलाया है प्रवृत्तिकी अपेक्षा से नहीं। आशय यह है कि एक साथ एक आत्मा में एकाधिक ज्ञाना- वरण कर्मों का क्षयोपशम तो सम्भव है पर प्रवृत्ति एक काल में एक ज्ञान की ही होती है। जैसे प्रत्येक छद्मस्थ संसारी आत्मा के मति और श्रुत ये दो ज्ञान नियम से पाये जाते हैं तथापि इनमें से जब किसी एक ज्ञान द्वारा आत्मा अपने विषय को जानने में प्रवृत्त होता है तब अन्य ज्ञान के मौजूद रहने पर भी वह उसके द्वारा विषयको

नहीं जान सकता। इसी प्रकार अवधिज्ञान और मनःपर्याय के सद्भाव रहने पर भी जानना चाहिये। आशय यह है कि एक काल में दो, तीन या चार कितने ही ज्ञान रहें आवें पर प्रवृत्ति एक की ही होती है अन्य ज्ञान तब लब्धिरूप में रहते हैं।

शंका—जब कि सामान्य से ज्ञान एक है और वह भी केवलज्ञान तब फिर उसके पांच भेद कैसे हो जाते हैं।

समाधान—जैसे एक मेघपटल सूर्यकिरणों के संयोग से अनेक रंगों को धारण कर लेता है वैसे ही एक ज्ञान के आवरण विशेष की अपेक्षा पाँच भेद हो जाते हैं। जब अपूर्णावस्था रहती है तब यथा संभव मतिज्ञान आदि चार ज्ञान प्रकट होते हैं और जब पूर्णावस्था रहती है तब परिपूर्ण और सुविशुद्ध एक केवलज्ञानमात्र प्रकट रहता है, शेष ज्ञान क्षायोपशमिक होने के कारण लयको प्राप्त हो जाते हैं।

शंका—केवलज्ञानावरण सर्वघाती कर्म है और सर्वघातिका अर्थ है पूरी तरह से शक्ति का घात करना, इसलिये केवलज्ञानावरण के सद्भाव में अन्य ज्ञानों और उनके आवरणों का होना सम्भव ही नहीं; अन्यथा केवलज्ञानावरण सर्वघाति कर्म नहीं ठहरता ?

समाधान—जैसे मतिज्ञान आदि की क्षयोपशम या आवरणों की अपेक्षा से सत्ता मानी है वैसे उनकी स्वरूपसत्ता नहीं मानी है। इससे फलित होता है कि केवलज्ञानावरण सर्वघाति होते हुए भी ज्ञानशक्ति के प्रकाश को सर्वथा नहीं रोक पाता, किन्तु उसके रहते हुए भी अतिमन्दज्ञान प्रकाशमान ही रहता है। और इस प्रकार जो अतिमन्द ज्ञान प्रकाशमान रहता है वही आवरण के भेदों से मति आदि चार भागों में बँट जाता है। इसप्रकार स्वरूप सत्ता की अपेक्षा यद्यपि ज्ञान एक है तो भी आवरण भेद से वह पाँच प्रकार का है यह सिद्ध होता है।

शंका—जैसे सूर्य प्रकाश के समय चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि के प्रकाश

रहते तो हैं पर अभिभूत हो जाने के कारण वे अपना काम नहीं कर पाते वैसे ही केवलज्ञान के समय मतिज्ञान आदि का सद्भाव मान लेने में क्या आपत्ति है ?

समाधान—मतिज्ञान आदि चार ज्ञान क्षायोपशमिक भाव हैं और क्षायोपशमिक भाव अपने अपने आवरण कर्म के सद्भाव में ही होते हैं। यदि केवलज्ञान के समय मतिज्ञान आदि का सद्भाव माना जाता है तो तब उनके आवरण कर्मों का सद्भाव भी मानना पड़ता है। किन्तु तब आवरण कर्मों का सद्भाव है नहीं, इससे सिद्ध है कि केवल ज्ञान के समय मतिज्ञान आदि चार ज्ञान नहीं होते ॥ ३० ॥

मति।आदि तीन ज्ञानों की विपर्ययता और उसमें हेतु—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय अर्थात् अज्ञानरूप भी हैं।

क्योंकि उन्मत्त के समान वास्तविक और अवास्तविक के अन्तर के बिना इच्छानुसार ग्रहण होने से उक्त ज्ञान विपर्यय होते हैं।

जीव की दो अवस्थाएं मानी हैं सम्यक्त्व अवस्था और मिथ्यात्व अवस्था। इनमें से सम्यक्त्व अवस्था में जितने भी ज्ञान होते हैं वे सम्यक्त्व के सहचारी होने से समीचीन कहलाते हैं और मिथ्यात्व अवस्था में जितने भी ज्ञान होते हैं वे मिथ्यात्व के सहचारी होने से असमीचीन कहलाते हैं। पांच ज्ञानों में से मनःपर्यय और केवल ये दो ज्ञान तो सम्यक्त्व अवस्था में ही होते हैं किन्तु शेष तीन ज्ञान उक्त दोनों अवस्थाओं में होते हैं इसलिए ये ज्ञान और अज्ञान दोनों रूप माने गये हैं। यथा—मतिज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधि-ज्ञान, अवधि अज्ञान। अवधि-अज्ञान का दूसरा नाम विभङ्ग-ज्ञान भी है।

शंका—मिथ्यात्व दशा में ज्ञान को अज्ञान या मिथ्याज्ञान तो तब कहना चाहिये जब यह जीव घटादि पदार्थों को विपरीत रूप से ग्रहण करे परन्तु सदा ऐसा होता नहीं। यदि कारणों की निर्मलता, बाह्य प्रकाश और उपदेश आदि के अभाव में होता भी है तो वह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को ही होता है। वैसे साधारण दशा में तो जैसे सम्यग्दृष्टि मतिज्ञान द्वारा घटादि पदार्थों को जानता है वैसे मिथ्यादृष्टि भी मत्यज्ञान द्वारा घटादि पदार्थों का जानता है। जैसे सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए घटादि पदार्थों का विशेष निरूपण करता है वैसे मिथ्यादृष्टि भी श्रुतज्ञान द्वारा उनका विशेष निरूपण करता है। इसी प्रकार जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान द्वारा रूपी पदार्थों को जानता है वैसे मिथ्यादृष्टि भी विभंगज्ञान द्वारा रूपी पदार्थों को जानता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनों के ज्ञानों में अन्तर मान कर एक को ज्ञान और दूसरे को अज्ञान कहना उचित नहीं है ?

समाधान—यह सही है कि जानते तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही हैं पर दोनों के जानने में अन्तर है और वह अन्तर वस्तु स्वरूप के विश्लेषण में है। यह थोड़े ही है कि उन्मत्त पुरुष सदा विपरीत ही जानता रहता है तथापि उसका जाननामात्र सुनिश्चित न होने के कारण जैसे मिथ्या माना जाता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि का ज्ञानमात्र वस्तु स्वरूप की यथार्थता को स्पर्श न करनेवाला होने के कारण मिथ्या ही है। उदाहरणार्थ—प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है तथापि मिथ्यादृष्टि को उसके अनेकान्तात्मक होने में या तो सन्देह बना रहता है या वह उसे अनेकान्तात्मक मानता ही नहीं, इसलिये यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से घट पटादि पदार्थों को मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों ही घटपटादिरूप से जान सकते हैं। तथापि दोनों के वस्तुस्वरूप के चिन्तवन करने के दृष्टिकोण में बड़ा भारी अन्तर है। सम्यग्दृष्टि जैसी वस्तु है वैसा ही विचार करता है और जानता भी वैसा ही है पर

मिथ्यादृष्टि उन्मत्त पुरुष के समान कदाचित सत को सत मानता है, कदाचित् सत को असत् मानता है और कदाचित् असत को भी सत मानता है। यही सबब है कि सम्यग्दृष्टि का ज्ञानमात्र समीचीन और मिथ्यादृष्टि का ज्ञानमात्र असमीचीन माना जाता है।

मिथ्यादृष्टि को सदा ही स्वरूप विपर्यास, कारण विपर्यास और भेदाभेद विपर्यास बना रहता है जिससे उसे मिथ्याज्ञान हुआ करता है। वह पदार्थों के स्वरूप, कारण और भेदाभेद का ठीक तरह से कभी भी निर्णय नहीं कर पाता। अपने मिथ्याज्ञान के दोष से अनेक विरुद्ध मान्यताओं को वह जन्म दिया करता है। विविध एकान्त दर्शन इसी मिथ्याज्ञान के परिणाम हैं। ज्ञान में अतिशय का होना और बात है और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होना और बात है। मिथ्यादृष्टि के भी ऐसा सातिशय ज्ञान देखा जाता है जिससे वह संसार को चकित कर देता है। पर वह ज्ञान मूल में सदोष होने के कारण मिथ्याज्ञान ही माना गया है। ऐसे मिथ्याज्ञान तीन हैं यह इन सूत्रों का भाव है॥ ३१—३२॥

नयके भेद—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः॥ ३३॥

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत ये सात नय हैं।

मूल नयों की संख्या के विषय में निम्न-लिखित परम्पराएँ मिलती हैं—

षट्खंडागम में नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि कसायपाहुड में ये ही पाँच भेद निर्दिष्ट हैं तथापि वहाँ नैगम के संग्रहिक और असंग्रहिक ये दो भेद तथा तीन शब्द नय बतलाये हैं। श्वेताम्बर तत्त्वार्थ भाष्य और भाष्यमान्य सूत्रों की परम्परा कसायपाहुड की परम्परा

का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। उसमें भी मूल नय पाँच माने गये हैं और नैगम के दो तथा शब्द नय के तीन भेद किये गये हैं। तत्त्वार्थभाष्यमें जो नैगम के देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ये दो भेद किये हैं सो वे कसायपाहुड में किये गये नैगम के संग्रहिक और असंग्रहिक इन दो भेदों के अनुरूप ही हैं। सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को नहीं मानते शेष छः नयों को मानते हैं। इनके सिवा सब दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथों में स्पष्टतः सूत्रोक्त सात नयों का ही उल्लेख मिलता है। इस प्रकार विवक्षा भेदसे यद्यपि नयों की संख्या के विषय में अनेक परम्पराएँ मिलती हैं तथापि वे परस्पर एक दूसरे की पूरक ही हैं।

पुराणों में कथा आई है कि भगवान आदिनाथ के साथ सैकड़ों राजा दीक्षित हो गये थे। दीक्षित होने के बाद कुछ काल तक तो वे भगवान का अनुसरण करते रहे। किन्तु अन्त तक वे टिक न सके। जिन दीक्षा तो उन्होंने छोड़ दी पर अनेक कारणों से उनका घर लौट जाना सम्भव न था। उन्होंने वृक्षों के फल मूल आदि खाकर जीवन बिताना प्रारम्भ किया और अपने अपने विचारानुसार अनेक मतों को जन्म दिया। जैन शास्त्रों में जिन तीन सौ त्रेसठ मतों का उल्लेख मिलता है उनका प्रारम्भ यहीं से होता है।

नय निरूपण की पृष्ठभूमि

ये मत क्या हैं? दृष्टिकोणों की विविधता के सिवा इन्हें और क्या कहा जा सकता है। जिन्हें उस समय संसार की क्षण भंगुरता की प्रतीति हुई उन्होंने क्षणिक मत का प्रचार किया। जिन्हें अन्न पानी का कष्ट रहते हुए भी जीवन की स्थिरता का भास हुआ उन्होंने नित्य मत का प्रचार किया।

इस प्रकार ये विचार उद्भूत तो हुए विरोध की भूमिका पर, पर क्या ये विरोधी हैं? नयवाद इसी का उत्तर देता है। नयवाद का अर्थ है विविध दृष्टिकोणों को स्वीकार करके उनका समन्वय करना।

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं जगमें अनेक विचार हैं और उनकी नाना मार्गों से चर्चा भी की जाती है। एक विचार का समर्थक दूसरे विचार के समर्थक की बात नहीं सुनना चाहता। कोई किसी को स्वीकार नहीं करता। आज का हिन्दू मुसलिम दंगा इसी का परिणाम है। देश में हिन्दुस्तान और पाकस्तान ये उपनिवेश भी इसी से बने हैं। एक दूसरे की सत्ता स्वीकार करने की बात न होकर भी मिलकर काम नहीं करना चाहते। ऐसा क्यों है? क्या विचार और आचार में जो भेद दिखाई देता है वह वास्तविक है? दार्शनिक जगत में जड़-चेतन, इहलोक-परलोक, संसार-मुक्त आदि विषयों को लेकर जो पक्षापक्षी चली है उसपर क्या विजय नहीं प्राप्त की जा सकती है? ये या ऐसे ही और अनेक प्रश्न हैं जिनका समाधान नयवाद से किया जा सकता है और सब को एक भूमिका पर लाकर बिठाया जा सकता है।

नयों में पदार्थ और आचार विचार के सम्बन्ध में जो विविध विचार प्रस्फुटित होते हैं उनका वर्गीकरण किया जाता है। मुख्यतया वे एक एक दृष्टिकोण का कथन करते हैं। ये विचार प्रायः एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिए इनमें विरोधसा प्रतीत होता है। इस विरोध को मिटाकर इनका समन्वय करना नयवाद का काम है। इसलिये इसे अपेक्षावाद भी कहते हैं।

फिर भी सम्यग्ज्ञान के पाँच भेदों के साथ इसका कथन न करके अलग से कथन करने का क्या प्रयोजन है? नय यह जब कि श्रुतज्ञान का भेद है तब उसका कथन श्रुतज्ञान के साथ ही करना था। पर ऐसा क्यों नहीं किया गया यह एक प्रश्न है जिसके उत्तर पर इस प्रकरण के स्वतन्त्र रूपसे लिखे जाने की सार्थकता निर्भर है। इसलिए आगे इसी प्रश्न का समाधान किया जाता है—

अलगसे नय निरूपण की सार्थकता

यद्यपि नय का अन्तर्भाव श्रुतज्ञान में होता है तो भी नयका अलग से निरूपण करने का एक प्रमुख कारण है, जो निम्न प्रकार है :—

नय यद्यपि श्रुतज्ञानका भेद है तो भी श्रुतप्रमाणसे नयमें अन्तर है। जो अंश अंशी का भेद किये बिना पदार्थ को समग्र रूप से विचार में लेता है और जो मतिज्ञानपूर्वक होता है वह श्रुतप्रमाण है। किन्तु नय ज्ञान ऐसा नहीं है। वह अंश अंशी का भेद करके अंश द्वारा अंशी का ज्ञान कराता है। इसी से प्रमाणज्ञान सकलादेशी और नयज्ञान विकलादेशी माना गया है। सकलादेश में सकल शब्द से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध होता है। जो ज्ञान सकल अर्थात् अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध कराता है वह सकलादेशी होने से प्रमाण ज्ञान माना गया है। तथा विकलादेश में विकल शब्द से एकान्त का बोध होता है। जो ज्ञान विकल अर्थात् एक धर्म द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु का बोध कराता है वह विकलादेशी होने से नयज्ञान माना गया है। पहले पांचों ज्ञानों का निरूपण प्रमाण की अपेक्षा से किया गया है वहां नयों का विवेचन करना सम्भव नहीं था। यही सबब है कि यहाँ स्वतन्त्र रूप से नयों का विवेचन किया गया है।

शंका—नयों का अन्तर्भाव प्रमाणकोटि में क्यों नहीं किया जाता है?

समाधान—प्रमाण ज्ञान सकलादेशी माना गया है और नय विकलादेशी होते हैं इसलिये प्रमाण कोटि में नयों का अन्तर्भाव नहीं किया जाता है।

शंका—तो क्या नय अप्रमाण होते हैं?

समाधान—समीचीनता की दृष्टि से तो दोनों ही ज्ञान प्रमाण होते हैं। किन्तु प्रमाण का अर्थ सकलादेशी करने पर यह अर्थ नय ज्ञान में घटित नहीं होता, इस लिये उसे प्रमाण कोटि में सम्मिलित

नहीं किया जाता है। उदाहरणार्थ—प्रमाण को शरीर और नयको उसका अवयव कह सकते हैं। यद्यपि शरीर के अवयव शरीर से जुदे नहीं होते हैं फिर भी उनको एकान्त से शरीर मान लेना उचित नहीं है। इस प्रकार शरीर और उसके अवयवों में जो भेद है ठीक वही भेद प्रमाणज्ञान और नयज्ञान में है।

शंका—जब कि नयज्ञान विकलादेशी है तब फिर समीचीनता की दृष्टि से उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

समाधान—आगम में अनेकान्त दो प्रकार का बतलाया है—सम्यगनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। जो एक ही वस्तु में युक्ति और आगम के अविरोध रूप से सप्रतिपक्षभूत अनेक धर्मों का प्रतिपादन करता है वह सम्यगनेकान्त है। तथा वस्तु स्वभाव का विचार न करके वस्तु को अनेक प्रकार की कल्पित करना मिथ्या अनेकान्त है। जिस प्रकार यह अनेकान्त दो प्रकार का बतलाया हैं उसी प्रकार एकान्त भी दो प्रकार का है—सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। जो सापेक्षभाव से एकदेशद्वारा वस्तु का निरूपण करता है वह सम्यक् एकान्त है। तथा जो वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य आदि रूप बतला कर उसमें सप्रतिपक्षभूत अन्य धर्मों का निषेध करता है वह मिथ्या एकान्त है। इनमें से सम्यक् अनेकान्त प्रमाणज्ञान का विषय माना गया है और मिथ्या अनेकान्त अप्रमाण ज्ञान का विषय माना गया है। इसी प्रकार सम्यक् एकान्त नय का विषय माना गया है और मिथ्या एकान्त मिथ्यानय का विषय माना गया है। यतः नयज्ञान अनेकान्त को विषय नहीं करके भी उसका निषेध नहीं करता। प्रत्युत अपने विषय द्वारा उसकी पुष्टि ही करता है इसलिये नयज्ञान भी समीचीनता की दृष्टि से प्रमाण माना गया है।

इस प्रकार यद्यपि प्रमाणज्ञान के पांच भेदों से नयज्ञान का अलग से कथन क्यों किया गया है इसका कारण जान लेते हैं तो भी इसकी

प्राणप्रतिष्ठा का और भी कोई मुख्य प्रयोजन है क्या इसकी भी चर्चा कर लेना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

बात यह है कि वस्तु का विवेचन तो सभी ने किया है। ऐसा एक भी दर्शन नहीं है जिसमें वस्तु की मूलस्पर्शी चर्चा नहीं की गई हो परन्तु उन्होंने अपने उतने ही विवेचन को अन्तिम मान लिया है जिससे एक दर्शन दूसरे दर्शन से सर्वथा जुदा पड़ गया है। यह बात केवल दर्शनों के सम्बन्ध में ही नहीं है उनके माननेवालों की भी यही गति है। इसके परिणामस्वरूप जगत् में अनेक मत मतान्तर खड़े हो गये हैं और वे एक दूसरे की अवगणना भी करने लगे हैं। प्रत्येक विचारक अपने विचारों को परिपूर्ण मानने लगा है। फलतः शोधक दृष्टि का स्थान हठाग्रह ने ले लिया है। जैन ग्रन्थों में एक दृष्टान्त आया है। उसमें बतलाया है कि एक गांव में छह अन्धे रहते थे। उन्होंने कभी हाथी देखा नहीं था। एक बार उस गाँव में हाथी के आने पर वे उसे देखने के लिये गये। अन्धे होने के कारण वे उसे स्पर्श करके ही जान सकते थे। स्पर्श करने पर जिसके हाथ में सूंड़ आई उसने हाथी को मूसर सा मान लिया। जिसके हाथ में पैर आये उसने स्तम्भ सा मान लिया। जिसके हाथ में पेट आया उसने बिटा सा मान लिया। जिसके हाथ में कान आये उसने सूपा सा मान लिया। जिसके हाथ में पूंछ आई उसने बुहारी सा मान लिया और जिसके हाथ में दांत आये उसने लट्ठसा मान लिया। इन अन्धों की जो स्थिति हुई ठीक वही स्थिति विविध दार्शनिकों की हो रही है। जैनदर्शन ने इस सत्य को समझा और इसीलिये उसने विविध विचारों का समीक्षण और समन्वय करने के लिये सम्यग्ज्ञान की प्ररूपणा में नयवाद की प्राणप्रतिष्ठा की है।

नयनिरूपण की प्राणप्रतिष्ठा का कारण

इस दृष्टि से विचार करने पर जैनदर्शन से अन्य दर्शनों में क्या

अन्तर है यह बात सहज ही समझ में आ जाती है। अन्य दर्शन जब कि एक-एक दृष्टिकोण का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं। वैसी हालत में जैनदर्शन का मूल आधार विविध दृष्टिकोणों को अपेक्षा भेद से स्वीकार करके उनका समन्वय करते हुए वैषम्य को दूर करनामात्र है। जैनदर्शन ने सारी समस्याओं को इसी नयवाद के आधार से सुलझाने का प्रयत्न किया है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि यह नयदृष्टि से सर्वथा कल्पित दृष्टिकोणों को भी स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ ईश्वर जगत का कर्ता है इस दृष्टिकोण को वह किसी भी अपेक्षा से नहीं मानता है। वह ऐसा नहीं मानता कि किसी अपेक्षा से ईश्वर जगत का कर्ता है और किसी अपेक्षा से नहीं है। ये विचार कार्यकारण भाव की विडम्बना करनेवाले होने से इन्हें वह स्वीकार ही नहीं करता। वह तो वस्तुस्पर्शी जितने भी विकल्प हैं उन्हें ही अपेक्षाभेद से स्वीकार करता है।

जैनदर्शन से अन्य दर्शनों में अन्तर

इस प्रकार नयनिरूपण की विशेषता का ख्यापन करने के बाद अब नय के सामान्य लक्षण का विचार करते हैं—

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि नय वह मानसिक विकल्प है जो आचार विचार के विश्लेषण करने में प्रवृत्त होता है। इस हिसाब से नय के सामान्य लक्षण की मीमांसा करने पर वह विवक्षित एक धर्मद्वारा वस्तु का सापेक्ष निरूपण करनेवाला विचार ठहरता है। यह लक्षण सभी मूल व उत्तर नयों में पाया जाता है इसलिये इसे नय का सामान्य लक्षण कहा गया है।

नय का सामान्य लक्षण

शंका—प्रमाण सप्तभंगी में भी प्रत्येक भंग वस्तु का सापेक्ष निरूपण करता है इसलिये वह विकलादेश का ही विषय होना चाहिये, सकलादेश का नहीं ?

समाधान—यह ठीक है कि प्रमाण सप्तभंगी में भी विवक्षाभेद से

कथन किया जाता है। किन्तु उसमें रहनेवाला 'स्यात्' पद अनेकान्त को विषय करनेवाला होता है, इसलिए प्रमाण सप्तभंगी का प्रत्येक भंग विकलादेश का विषय नहीं माना जा सकता। आशय यह है कि प्रमाण सप्तभंगी का प्रत्येक भंग अपने अर्थ में पूर्ण होता है उसके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु का 'प्रतिपादन' किया जाता है। इसलिये उसे विकलादेश का विषय मानना उचित नहीं है। किन्तु नय सप्तभंगी के प्रत्येक भंगद्वारा एक एक धर्म का ही उच्चारण किया जाता है और उस भंग में रहनेवाला 'स्यात्' पद विवक्षाभेद को ही सूचित करता है, इसलिये इसे विकलादेश का विषय माना गया है।

दूसरे शब्दों में इस विषय को यों समझाया जा सकता है कि सकलादेश का प्रत्येक भंग एक धर्म द्वारा अशेष वस्तुका निरूपण करता है और विकलादेश का प्रत्येक भंग निरंश वस्तु का गुण भेद से विभाग करके कथन करता है। इसलिये सापेक्ष कथनमात्र विकलादेश नहीं हो सकता है।

संक्षेप में नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे सब उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाले माने गये हैं। प्रति समय बदलते रहते हैं तो भी वे अपने मूल स्वभाव का कभी भी त्याग नहीं करते। यह कौन नहीं जानता कि सोने के कड़े को मिटाकर भले ही मुकुट बना लिया जाय तो भी उसके सोनेपने का कभी भी नाश नहीं होता। यह एक उदाहरण है। तत्त्वतः वस्तुमात्र सामान्य-विशेष उभयात्मक है। सामान्य के तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य ऐसे दो भेद हैं। अनेक पदार्थों में जो समानता देखी जाती है वह तिर्यक् सामान्य है। जैसे सब प्रकार की गायों में रहने-वाला गोत्व यह तिर्यक् सामान्य है और आगे पीछे क्रम से होनेवाली विविध पर्यायों में रहनेवाला अन्वय ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे

नय के मुख्य भेद और उनका स्वरूप

स्थास, कोश आदि क्रम से होनेवाली विविध पर्यायों में मिट्टी का बना रहना ऊर्ध्वता सामान्य है। सामान्य के जिस प्रकार दो भेद हैं इसी प्रकार विशेष के भी दो भेद हैं पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष। जैसे आत्मा में हर्ष-विषाद आदि विविध अवस्थाएँ होती हैं उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में क्रम से होनेवाली पर्यायों को पर्याय विशेष कहते हैं तथा गाय और भैंस दो पदार्थों में जो असमानता पायी जाती है उसी को व्यक्तिरेक विशेष कहते हैं। ये दोनों प्रकार के सामान्य और विशेष पदार्थ गत होने के कारण पदार्थ सामान्य-विशेष उभयात्मक माना गया है। इनमें से सामान्य अंश के द्वारा वस्तु को ग्रहण करनेवाली बुद्धि को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और विशेष अंश के द्वारा ग्रहण करनेवाली बुद्धि को पार्यायार्थिक नय कहते हैं। इस तरह यद्यपि ये नय एक-एक अंश द्वारा वस्तु को ग्रहण करते हैं तो भी दूसरा अंश प्रत्येक नय में अविवक्षित रहता है इतनामात्र इस कथन का तात्पर्य है।

शंका—जब कि व्यतिरेक विशेष व्यवहार नय का विषय है और व्यवहार नय का अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में होता है ऐसी हालत में व्यतिरेक विशेष को पर्यायार्थिक नय का विषय बतलाना कहां तक उचित है?

समाधान—व्यवहार नय का अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में होता है या पर्यायार्थिक नय में यह दृष्टि भेदपर अवलम्बित है। एक दृष्टिके अनुसार कालकृत भेद से पूर्व तक वस्तु में जितना भी भेद होता है। वह सब द्रव्यार्थिक नय का विषय ठहरता है। सर्वार्थसिद्धि व सन्मतितर्क में इसी दृष्टि को प्रमुखता दी गई है। इसलिये इसके अनुसार व्यवहार नय का अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में ही होता है। किन्तु दूसरी दृष्टि के अनुसार व्यवहार नय का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में ही किया जा सकता है द्रव्यार्थिक नय में नहीं, क्यों कि यह दृष्टि भेदमात्र को पर्यायरूपसे स्वीकार करती है। अध्यात्म ग्रन्थों में विशेषतः पंचाध्यायी में इसका बड़ा ही आकर्षक ढंग से विवेचन किया गया है।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप से नयों की चर्चा की अब इनके भेदरूप नैगमादि नयों की चर्चा करते हैं—

नैगमादि नयों का स्वरूप

१ जो विचार शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार और आधेय आदिके आश्रय से होनेवाले उपचार को स्वीकार करता है वह नैगम नय है।

२ जो विचार नाना तत्त्वों को और अनेक व्यक्तियों को किसी एक सामान्य तत्त्वके आधार पर एकरूप में संकलित कर लेता है वह संग्रह नय है।

३ जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित वस्तुओं का प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करता है वह व्यवहार नय है।

४ जो विचार वर्तमान पर्यायमात्र को ग्रहण करता है वह ऋजु-सूत्र नय है।

५ जो विचार शब्द प्रयोगों में आनेवाले दोषों को दूर करके तद्-नुसार अर्थभेद की कल्पना करता है वह शब्द नय है।

६ जो विचार शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद की कल्पना करता है वह समभिरूढ़ नय है।

७ जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटित होने पर ही उस वस्तु को उस रूप में मानता है वह एवंभूत नय है।

अब इन नयों का विशेष खुलासा करते हैं—

शास्त्र में और लोक में अभिप्रायानुसार वचन व्यवहार नाना प्रकार का होता है और उससे इष्ट अर्थ का ज्ञान भी हो जाता है।

नैगम नय

इसमें से बहुत कुछ वचन व्यवहार तो शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार और आधेय आदि के आश्रय से किया जाता है जो कि अधिकतर उपचार प्रधान होता है। फिर भी उससे श्रोता वक्ता के अभिप्राय को सम्यक् प्रकार जान

लेता है। समस्त लौकिक व शास्त्रीय व्यवहार इसी आधार पर चलता है। यद्यपि इस व्यवहार की जड़ उपचार में निहित है तथापि इससे मूल प्रयोजन के ज्ञान करने में पूरी सहायता मिलती है इस-लिये ऐसे उपचार को समीचीन नय का विषय माना गया है। यह समीचीन नय ही नैगम नय है जो ऐसे उपचार को विषय करता है। जैसा कि पहले लिख आये हैं यह उपचार नाना प्रकार से होता है। कभी शब्द के निमित्त से होता है। जैसे, 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' यहां पर अश्वत्थामा नामक हाथी के मर जाने पर दूसरे को भ्रम में डालने के लिए अश्वत्थामा शब्द का अश्वत्थामा नामक पुरुष में उपचार किया गया है। कभी शील के निमित्त से होता है। जैसे, किसी मनुष्य का स्वभाव अति क्रोधी देखकर उसे सिंह कहना। कभी कर्म के निमित्त से होता है। जैसे, किसी को राक्षस का कर्म करते हुए देख कर राक्षस कहना। कभी कार्य के निमित्त से होता है। जैसे, अन्न का प्राण धारण रूप कार्य देखकर अन्न को प्राण कहना। कभी कारण के निमित्त से होता है। जैसे, सोने के हार को कारण की मुख्यता से सोना कहना। कभी आधार के निमित्त से होता है। जैसे, स्वभावतः किसी को ऊँचा स्थान बैठने के लिये मिल जाने से उसे वहाँ का राजा कहना। कभी आधेय के निमित्तसे होता है। जैसे किसी व्यक्ति के जोशीले भाषण देनेपर कहना कि आज तो व्यास पीठ खूब गरज रहा है। आदि।

इस व इसी प्रकार के दूसरे वचन व्यवहार की प्रवृत्ति में मुख्यतः संकल्प कार्य करता है। इसी से अन्यत्र इस नय को संकल्प मात्र का ग्रहण करनेवाला बतलाया है।

आगम में इस नय के अनेक भेद मिलते हैं। यथा द्रव्यार्थिक नैगम, पर्यायार्थिक नैगम, द्रव्यपर्यायार्थिक नैगम। सो वे सब भेद तभी घटित होते हैं जब इसका विषय उपचार मान लिया जाता है।

जग में जड़ चेतन जितने पदार्थ हैं वे सब सद्रूप हैं इसी से उनमें सत् सत् ऐसा ज्ञान और सत् सत् ऐसी वचन प्रवृत्ति होती है, अतः सद्रूप इस सामान्य तत्त्व पर दृष्टि रख कर ऐसा विचार करना कि सम्पूर्ण जगत सद्रूप है संग्रहनय है। जब ऐसा विचार आता है तब जड़ चेतन के जितने भी अवान्तर भेद होते हैं उन्हें ध्यान में नहीं लिया जाता और उन सब को सद्रूप से एक मान कर चलना पड़ता है। यह परम संग्रहनय है। संग्रह किये गये तरतमरूप सामान्य तत्त्व के अनुसार इसके अनेक उदाहरण हो सकते हैं। इसी से इसके पर संग्रह और अपर संग्रह ऐसे दो भेद किये गये हैं। पर संग्रह एक ही है। किन्तु अपर संग्रह के लोक में जितनी जातियाँ सम्भव हैं उतने भेद हो जाते हैं। यहां इतना विशेष समझना चाहिये कि नैयायिक वैशेषिकों ने पर और अपर नाम का व्यापक और नित्य जैसा स्वतंत्र सामान्य माना है ऐसा सामान्य जैन दर्शन नहीं मानता। इसमें सत दो प्रकार का माना गया है स्वरूपसत और सादृश्य सत। जो प्रत्येक व्यक्ति के स्वरूपास्तित्व का सूचक है वह स्वरूपसत है और जो सदृश परिणाम नाना व्यक्तियों में पाया जाता है वह सादृश्य-सत है। यहां संग्रहनय का प्रयोजक मुख्यतः यह सादृश्यसत ही है। यह जितना बड़ा या छोटा विवक्षित होता है संग्रह नय भी उतना ही बड़ा या छोटा हो जाता है। आशय यह है कि जो विचार सदृश परि-णाम के आश्रय से नाना वस्तुओं में एकत्व की कल्पना करा कर प्रवृत्त होते हैं वे सब संग्रह नय की श्रेणि में आ जाते हैं।

संग्रहनय

इस प्रकार यद्यपि संग्रहनय के द्वारा यथायोग्य अशेष वस्तुओं का वर्गीकरण कर लिया जाता है। मनुष्य कहने से सभी मनुष्यों का संग्रह हो जाता है। तथापि जब उनका विशेष रूप से बोध कराना होता है या व्यवहार में उनका अलग अलग रूप से उपयोग करना होता है तब उनका विधि पूर्वक विभाग

व्यवहारनय

किया जाता है। जिस विधि से संग्रह किया जाता है उसी विधि से उनका विभाग किया जाता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य कहने से हिन्दुस्तानी, जापानी, चीनी, अमेरिकन आदि सभी मनुष्यों का जिस क्रम से संग्रह किया जाय उसी क्रम से उनका विभाग करने रूप विचार व्यवहार नय कहलाता है। लोक में या शास्त्र में इस नय की इसी रूप से प्रवृत्ति होती है। इससे इसके भी अनेक भेद हो जाते हैं। एकीकरण की दृष्टि से जितने संग्रह नय प्राप्त होते हैं विभागीकरण की अपेक्षा उतने ही व्यवहार नय प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि पदार्थों के विधि पूर्वक विभाग करने रूप जितने विचार पाये जाते हैं वे सब व्यवहार नय की श्रेणि में आते हैं।

ऊपर जो तीन नय बतलाये हैं वे प्रत्येक पदार्थ की विविध अवस्थाओं की ओर नहीं देखते। उन्हें नहीं पता कि वर्तमान में उसका क्या रूप है। पर्याय भेद तो उनमें सर्वथा अविवक्षित ही रहता है। किन्तु विचार पर्याय की ओर जाँय ही नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार वे विविध पदार्थों का उनकी विविध अवस्थाओं की विवक्षा किये बिना वर्गीकरण और विभाग करते हैं उसी प्रकार वे उन पदार्थों की विविध अवस्थाओं का भी विचार करते हैं। किन्तु विविध अवस्थाओं का सम्मेलन द्रव्य कोटि में आता है पर्याय कोटि में नहीं। वास्तव में द्रव्य की एक पर्याय ही पर्याय कोटि में आती है क्योंकि पर्याय एक क्षणवर्ती होती है। उसमें भी वर्तमान का नाम ही पर्याय है क्योंकि अतीत विनष्ट और अनागत अनुत्पन्न होने से उनमें पर्याय व्यवहार नहीं हो सकता। इसी से ऋजुसूत्र नय का विषय वर्तमान पर्याय मात्र बतलाया है। आशय यह है कि यह नय विद्यमान अवस्था रूप से ही वस्तु को स्वीकार करता है द्रव्य उसमें सर्वथा अविवक्षित रहता है अतः पर्याय सम्बन्धी जितने भी विचार प्राप्त होते हैं वे सब ऋजुसूत्र नय की श्रेणि में आते हैं।

ऋजुसूत्रनय

यों तो द्रव्य और पर्याय के सम्बन्ध में जितने विचार होते हैं उनका वर्गीकरण उपर्युक्त चार नयों में ही हो जाता है। जिनका वर्गीकरण स्वतन्त्र नय द्वारा किया जाय ऐसे विचार ही शेष नहीं रहते। तथापि विचारों को प्रकट करने और इष्ट पदार्थ का ज्ञान कराने का शब्द प्रधान साधन है। इसलिये इसकी प्रमुखता से जितना भी विचार किया जाता है वह सब शब्द समभिरूढ और एवम्भूत नय की कोटि में आता है। अब तक शब्द प्रयोग की विविधता होने पर भी अर्थ में भेद नहीं स्वीकार किया गया था। किन्तु ये नय शब्दनिष्ठ तारतम्य के अनुसार अर्थभेद को स्वीकार करके प्रवृत्त होते हैं। शब्द नय लिंग, संख्या, काल, कारक और उपसर्गादिक के भेद से अर्थ में भेद करता है। वह मानता है कि जब ये सब अलग अलग हैं तब फिर इनके द्वारा कहा जानेवाला अर्थ भी अलग अलग ही होना चाहिये। इसी से शब्द नय लिंग और कालादिक के भेद से अर्थ में भी भेद मान कर चलता है।

शब्द नय

उदाहरणार्थ—इसी ग्रन्थ में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र आया है। इस सूत्र में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' पद बहु वचनान्त और नपुंसक लिङ्ग है। तथा 'मोक्षमार्गः' पद एक वचनान्त और पुल्लिंग है। सो यह नय इस प्रकार के प्रयोगों में उन द्वारा कहे गये अर्थ को भी अलग अलग मानता है। वह मानता है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' पद द्वारा कहा गया अर्थ अन्य है और 'मोक्षमार्गः' पद द्वारा कहा गया अर्थ अन्य है। लिंग भेद और सङ्ख्या भेद होने के कारण ये दोनों पद एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते ऐसी इसकी मान्यता है। यह लिंग और संख्या भेद से अर्थ भेद का उदाहरण है।

'आज हम आप को यहां देख रहे हैं और कल चौक में देखा था' यह वाक्य यद्यपि एक व्यक्ति के विषय में कहा गया है तथापि शब्द

नय इस वाक्य द्वारा कहे गये व्यक्ति को एक नहीं मानता। वह मानता है कि कल चौक में देखे गये व्यक्ति से आज जिसे देख रहे हैं वह भिन्न है। यह काल भेद से अर्थ भेद का उदाहरण है।

जब हम बातचीत के सिलसिले में किसी एक व्यक्ति के लिए 'आप' और 'तुम' दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं तो यह नय 'आप' शब्द द्वारा कहे गये व्यक्ति को अन्य मानता है और 'तुम' शब्द द्वारा कहे गये व्यक्ति को अन्य। यह पुरुष भेद से अर्थ भेद का उदाहरण है।

इसी प्रकार यह नय कारक, साधन और उपसर्ग आदि के भेद से अर्थ भेद करता है।

इस तरह शब्द प्रयोगों में जो लिंगादि भेद दिखलाई देता है और उससे जो अर्थ भेद किया जाता है वह सब शब्द नय की श्रेणी में आता है।

पर यह भेद यहीं तक सीमित नहीं रहता है किन्तु वह इससे भी आगे बढ़ जाता है। आगे यह विचार उठता है कि जब काल, कारक, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से अर्थ में भेद किया जाता है तब फिर जहां अनेक शब्दों का एक अर्थ लिया जाता है वहाँ वास्तव में उन शब्दों का एक अर्थ नहीं हो सकता। और इसलिये प्रत्येक शब्द का जुदा जुदा अर्थ होना चाहिये। इन्द्र शब्द का जुदा अर्थ होना चाहिये और शक्र शब्द का जुदा। इसी प्रकार जितने भी एकार्थक शब्द माने गये हैं उन सब के जुदे जुदे अर्थ होने चाहिये। यद्यपि कहीं एक शब्द के अनेक अर्थ किये जाते हैं पर जिस प्रकार अनेक शब्दों का एक अर्थ नहीं हो सकता उसी प्रकार एक शब्द के अनेक अर्थ भी नहीं हो सकते। इस प्रकार शब्द भेद के अनुसार अर्थ भेद करनेवाला विचार समभिरूढ़ नय कहलाता है। ऐसे समस्त विचार इस नय की श्रेणी में आते हैं।

समभिरूढ़ नय

क्या यह भेद यही पर समाप्त हो जाता है या इसके आगे भी

जाता है यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर एवम्भूत नय देता है। इसके अनुसार प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ घटित होने पर ही उस शब्द का वह अर्थ लिया जाता है। समभिरूढ़ नय जहाँ शब्द भेद के अनुसार अर्थ भेद करता है वहाँ एवम्भूत नय व्युत्पत्त्यर्थ के घटित होने पर ही शब्द भेद के अनुसार अर्थ भेद करता है। यह मानता है कि जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ तद्रूप क्रिया से परिणत समय में ही उस शब्द का वह अर्थ हो सकता है अन्य समय में नहीं।

एवम्भूत नय

उदाहरणार्थ—पूजा करते समय ही किसी को पुजारी कहना उचित है अन्य समय में नहीं। वही व्यक्ति जब रसोई बनाने लगता है या सेवा करने लगता है तब इस नय के अनुसार उसे पुजारी नहीं कहा जा सकता। उस समय वह रसोइया या सेवक ही कहा जायगा। इस प्रकार उक्त प्रकार के जितने भी विचार हैं वे सब एवम्भूत नय की श्रेणि में आते हैं।

ये सात नय हैं जो उत्तरोत्तर अल्प विषयवाले हैं। अर्थात् नैगम नय के विषय से संग्रह नय का विषय अल्प है और संग्रह नय के विषय से व्यवहार नयका विषय अल्प है आदि। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि संग्रह नय की अपेक्षा नैगम का, व्यवहार की अपेक्षा संग्रह का और ऋजुसूत्र आदि की अपेक्षा व्यवहार आदि का विषय महान् है। अर्थात् नैगम नय का समग्र विषय संग्रह नय का अविषय है। संग्रह नय का समग्र विषय व्यवहार नय का अविषय है आदि। इन सातों नयों में से नैगम नय द्रव्य और पर्याय को गौण मुख्य भाव से विषय करता है इसलिए संग्रह नय के विषय से नैगमनय का विषय महान् है और नैगम नय के विषय से संग्रह नय का विषय अल्प है। संग्रहनय ऊर्ध्वता सामान्य को और तिर्यक् सामान्य को विषय करता है इसलिये

पूर्व पूर्व नयों के विषय की महानता और उत्तर उत्तर नयोंके विषय की अल्पता का समर्थन

व्यवहार नय से संग्रह नय का विषय महान् है और संग्रह नयसे व्यवहार नय का विषय अल्प है। व्यवहार नय ऊर्ध्वता सामान्य को, भेद द्वारा तिर्यक् सामान्य को और व्यतिरेक विशेष को विषय करता है इसलिये ऋजुसूत्र नय के विषय से व्यवहार नयका विषय महान् है और व्यवहार नय के विषय से ऋजुसूत्र नयका विषय अल्प है। ऋजुसूत्र नय पर्याय विशेष को विषय करता है इसलिए शब्द नय के विषय से ऋजुसूत्र नय का विषय महान् है और ऋजुसूत्र नय के विषय से शब्द नय का विषय अल्प है। शब्द नय लिंगादिक के भेद से शब्द द्वारा पर्याय विशेष को विषय करता है, इसलिए शब्द नयके विषय से ऋजुसूत्र नयका विषय महान् है और ऋजुसूत्र नय के विषय से शब्द नय का विषय अल्प है। समभिरूढ़ नय पर्यायवाची शब्दों के भेद से पर्याय विशेष को विषय करता है इसलिये समभिरूढ़ नय के विषय से शब्द नय का विषय महान् है और शब्द नय के विषय से समभिरूढ़ नय का विषय अल्प है। एवम्भूत नव व्युत्पत्ति अर्थ के घटित होनेपर ही विवक्षित शब्द द्वारा उसके वाच्य को विषय करता है इसलिए एवम्भूत नय के विषय से समभिरूढ़ नय का विषय महान् है और समभिरूढ़ नय के विषय से एवम्भूत नय का विषय अल्प है।

सातों नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भागों में बँटे हुए हैं

जैसा कि पहले बतला आये हैं ये सातों ही नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भागों में बटे हुए हैं। प्रारम्भ के तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार नय पर्यायार्थिक। नैगम नय यद्यपि गौण मुख्य भाव से द्रव्य और पर्याय दोनों को ग्रहण करता है फिर भी वह इनको उपचार से ही विषय करता है इसलिए यह द्रव्यार्थिक नय का भेद माना गया है। संग्रह नय तो द्रव्यार्थिक है ही। व्यवहार नयके विषय में ऊर्ध्वता सामान्य की अपेक्षा भेद नहीं किया जाता

इसलिये इसका अन्तर्भाव भी द्रव्यार्थिक नय में ही होता है। माना कि व्यवहार नय व्यतिरेक विशेष को भी विषय करता है पर व्यतिरेक विशेष दो सापेक्ष होता है, इसलिए इतने मात्र से इसे पर्यायार्थिक नय का भेद नहीं माना जा सकता।

आगे के चार नय पर्यायार्थिक हैं क्योंकि ऋजुसूत्र नय पर्याय विशेष को विषय करता है इसलिये वह तो पर्यायार्थिक है ही। शेष तीन नय भी पर्याय को ही विषय करते हैं इसलिये वे भी पर्यायार्थिक ही हैं। प्रकृत में द्रव्य का अर्थ सामान्य और पर्याय का अर्थ विशेष है। प्रारम्भ के तीन नय द्रव्य को विषय करते हैं इसलिये वे द्रव्यार्थिक कहलाते हैं और शेष चार नय पर्याय को विषय करनेवाले होने से पर्यायार्थिक कहलाते हैं।

परस्परसापेक्षता

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे सर्वथा निरपेक्ष हैं। यद्यपि ये प्रत्येक नय अपने अपने विषय को ही ग्रहण करते हैं फिर भी उनका प्रयोजन अपने से भिन्न दूसरे नय के विषय का निराकरण करना नहीं है। किन्तु गुण प्रधान भाव से ये परस्पर सापेक्ष होकर ही सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक तन्तु स्वतन्त्र रह कर पटकार्य को करने में असमर्थ है किन्तु उनके मिल जाने पर पटकार्य की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार प्रत्येक नय स्वतन्त्र रह कर अपने कार्य को पैदा करने में असमर्थ है किन्तु परस्पर सापेक्ष भाव से वे सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करते हैं यह उक्त कथन का तात्पर्य है॥ ३३॥

दूसरा अध्याय

पहले अध्याय में सम्यग्दर्शन के विषयरूप से सात पदार्थों का नाम निर्देश कर आये हैं जिनका आगे के अध्यायों में विशेष रूपसे विचार करना है। उनमें से सर्वप्रथम चौथे अध्याय तक जीव तत्त्व का विवेचन करते हैं—

पांच भाव, उनके भेद और उदाहरण—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

* ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

† गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

‡ जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

---

* श्वेतांबर पाठ 'ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयः' इत्यादि है।

† श्वेतांबर पाठ-'सिद्ध' के स्थान में-'सिद्धत्व' है।

‡ श्वेताम्वर पाठ 'त्वादीनि' है।

औपशमिक, क्षायिक और मिश्र तथा औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व—स्वरूप हैं।

उनके क्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं।

ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ क्षायिक भाव हैं।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पांच लब्धियां, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये अठारह मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक भाव हैं।

चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग—वेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धभाव और और छह लेश्या ये इक्कीस औदयिक भाव हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

सभी आस्तिक दर्शनों ने आत्मा को स्वीकार किया है पर उसके स्वरूप के विषय में सब दर्शन एक मत नहीं हैं। सांख्य और वेदान्त आत्मा को कूटस्थ नित्य मानकर उसे परिणाम रहित मानते हैं। सांख्य ने ज्ञानादि को प्रकृति का परिणाम माना है। वैशेषिक और नैयायिकों ने भी आत्मा को एकान्त नित्य माना है। इसके विपरीत बौद्धोंने आत्मा को सर्वथा क्षणिक अर्थात् निरन्वय परिणामों का प्रवाहमात्र माना है। पर जैन दर्शन आत्मा को न तो सर्वथा नित्य ही मानता है और न सर्वथा क्षणिक ही। उसके मतमें आत्मा परिणामी नित्य माना गया है। वह सर्वदा एक रूप नहीं रहता इसलिये तो परिणामी है और अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता इसलिये नित्य है। इससे यह फलित हुआ कि यह आत्मा अपने स्वभाव को न छोड़कर सर्वदा परिणमनशील है।

आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं संसारावस्था और मुक्तावस्था। इन दोनों प्रकार की अवस्थाओंमें आत्मा की जो विविध पर्याय होती हैं उन सबको समसित करके यहाँ पाँच भागों में विभाजित किया गया है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। ये ही आत्मा के स्वतत्त्व हैं, क्योंकि ये आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। इन्हें भाव भी कहते हैं।

१ औपशमिक भाव—जिस भावके होने में कर्म का उपशम निमित्त है वह औपशमिक भाव है। कर्म की अवस्था विशेपका नाम उपशम है। जैसे कतकादि द्रव्य के निमित्त से जल में से मल एक ओर हट जाता है वैसे ही परिणाम विशेष के कारण विवक्षित काल के कर्मनिषेकों का अन्तर होकर उस कर्म का उपशम हो जाता है जिससे उस काल के भीतर आत्माका निर्मल भाव प्रकट होता है। यतः यह भाव कर्म के उपशम से होता है इसलिए इसे औपशमिक भाव कहते हैं।

२ क्षायिक भाव—जिस भाव के होने में कर्म का क्षय निमित्त है वह क्षायिक भाव है। जैसे जलमें से मलके निकाल देने पर जल सर्वथा स्वच्छ हो जाता है वैसे ही आत्मा से लगे हुए कर्म के सर्वथा दूर हो जाने पर आत्मा का निर्मल भाव प्रकट होता है। यतः यह भाव कर्म के सर्वथा क्षय से होता है इसलिये इसे क्षायिक भाव कहते हैं।

३ क्षायोपशमिक भाव—जिस भाव के होने में कर्म का क्षयोपशम निमित्त है वह क्षायोपशमिक भाव है। जैसे जल में से कुछ मल के निकल जाने पर और कुछ के बने रहने पर जल में मल की क्षीणाक्षीण वृत्ति देखी जाती है जिससे जल पूरा निर्मल न होकर समल बना रहता है। वैसे ही आत्मा से लगे हुए कर्म के क्षयोपशम के होने पर जो भाव प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

४ औदयिक भाव—जिस भाव के होने में कर्म का उदय निमित्त है वह औदयिक भाव है।

५ पारिणामिक भाव—जो कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय के बिना द्रव्य के परिणाममात्र से होता है वह पारिणामिक भाव है। आशय यह है कि बाह्यनिमित्त के बिना द्रव्य के स्वाभाविक परिणमन से जो भाव प्रकट होता है वह पारिणामिक भाव है।

संसारी या मुक्त आत्मा की जितनी भी पर्याय होती हैं वे सब इन पांच भावों में अन्तर्भूत हो जाती हैं इसलिये भाव पांच ही होते हैं अधिक नहीं। इन्हें स्वतत्त्व इसलिये कहा कि ये जीव के सिवा अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते। यद्यपि मल के दब जाने से या निकल जाने से जल की स्वच्छता औपशमिक या क्षायिक है। तथा इसी प्रकार जलादि जड़ द्रव्यों में अन्य भाव भी घटित किये जा सकते हैं, इसलिये इन भावों को जीव के स्वतत्त्व नहीं कहना चाहिये। तथापि प्रकृत में औपशमिक आदि का जो अर्थ विवक्षित है वह जीव द्रव्य को छोड़ कर अन्यत्र नहीं पाया जाता इसलिये इन भावों को जीव के स्वतत्त्व कहने में कोई आपत्ति नहीं।

स्वतत्त्व विचार

यद्यपि भाव पांच होते हैं पर प्रत्येक जीव के पांचों भाव पाये जाने का कोई नियम नहीं है। संसारी जीवों में से किसी के तीन, किसी के चार और किसी के पांच भाव होते हैं। तीसरे गुणस्थान तक के सब संसारी जीवों के क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये तीन ही भाव होते हैं। चार भाव औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व या क्षायिक चारित्र के प्राप्त होने पर होते हैं और पांच भाव क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशम श्रेणि पर आरोहण करने पर होते हैं। संसारी जीवों के केवल एक या दो भाव नहीं होते। किन्तु सब मुक्त जीवों के क्षायिक और पारिणामिक ये दो ही भाव होते हैं। वहाँ कर्म का सम्बन्ध नहीं होने से औदयिक, औप-

किसके कितने भाव होते हैं

शमिक और क्षायोपशमिक भाव सम्भव नहीं हैं। इस प्रकार सब जीवों की अपेक्षा कुल भाव पांच ही होते हैं यह सिद्ध हुआ ॥ १ ॥

इस सूत्र में इन पांच भावों के अवान्तर भेद गिनाये हैं जो सब मिल कर त्रेपन होते हैं ॥ २ ॥

औपशमिक भाव के भेद

कर्मों की दस अवस्थाओं में एक उपशान्त अवस्था भी है। जिन कर्म परमाणुओं की उदीरणा सम्भव नहीं अर्थात् जो उदीरणा के अयोग्य होते हैं वे उपशान्त कहलाते हैं। यह अवस्था आठों कर्मों में सम्भव है। प्रकृत में इस उपशान्त अवस्था से प्रयोजन नहीं है। किन्तु अधःकरण आदि परिणाम विशेषों से जो मोहनीय कर्म का उपशम होता है प्रकृत में उससे प्रयोजन है। मोहनीय के दो भेद हैं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। इनमें से दर्शन मोहनीय के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है और चारित्र मोहनीय के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है। मोहनीय कर्म को छोड़ कर अन्य कर्मों का अन्तरकरण उपशम नहीं होता, इसलिये औपशमिक भाव के सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही भेद बतलाये हैं ॥ ३ ॥

क्षायिक भाव के भेद

पहले क्षायिक भाव के नौ भेद गिना आये हैं—केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र। इनमें से ज्ञानावरण के क्षय से केवल ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से केवल दर्शन, पांच प्रकार के अन्तराय के क्षय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियां, दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र प्रकट होते हैं।

शंका-केवलज्ञान को केवलज्ञानावरण कर्म आवृत्त करता है फिर यहां ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान है जिसे केवलज्ञानावरण आवृत किये हुए है। तथापि वह पूरा आवृत नहीं हो पाता। अति मन्द ज्ञान प्रकट ही बना रहता है जिसे मतिज्ञानावरण आदि कर्म आवृत करते है। इससे स्पष्ट है कि केवलज्ञान को प्रकट न होने देना ज्ञानावरण के पांचों भेदों का कार्य है। केवलज्ञानावरण केवलज्ञान को साक्षात् रोकता है और मतिज्ञानावरण आदि परंपरा से। इसलिये यहां ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है यह कहा है।

शंका—केवलदर्शन को केवलदर्शनावरण कर्म आवृत करता है फिर यहाँ दर्शनावरण कर्म के क्षय से केवलदर्शन प्रकट होता है ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—आत्मा का स्वभाव केवलदर्शन है जिसे केवलदर्शनावरण आवृत किये हुए है। तथापि वह पूरा आवृत नहीं हो पाता। अति मन्द दर्शन प्रकट ही बना रहता है जिसे चक्षुदर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण कर्म रोकता है। इससे स्पष्ट है कि केवलदर्शन को प्रकट न होने देना चक्षुदर्शनावरण आदि चारों आवरणों का कार्य है। केवलदर्शनावरण केवलदर्शन को साक्षात् रोकता है और शेष आवरण परंपरा से। इसलिये यहां दर्शनावरण कर्म के क्षय से केवलदर्शन प्रकट होता है यह कहा है।

शंका—क्या क्षायिक दान से अभय दान, क्षायिक लाभ से औदारिक शरीर की स्थिति में कारणभूत अनन्त शुभ परमाणु, क्षायिक भोग से कुसुमवृष्टि आदि और क्षायिक उपभोग से सिंहासन, चामर तथा छत्रत्रय आदि प्राप्त होते हैं ?

समाधान—ये क्षायिकदान आदि आत्मा के अनुजीवी भाव हैं। बाह्य सामग्री का प्राप्त कराना इनका कार्य नहीं है।

शंका—तो फिर अन्यत्र क्षायिक दान आदि का कार्य अभयदान आदि क्यों कहा ?

समाधान—उपचार से।

शंका—उपचार का कारण क्या है ?

समाधान—इन क्षायिक दान आदि के सद्भाव में ये अभय-दान आदि कार्य होते हैं, इस लिये उपचार से अभयदानादि इनके कार्य कहे गये हैं ?

शंका—तो फिर ये अभयदानादि किसके कार्य हैं ?

समाधान—ये अभयदानादि कार्य शरीर नामकर्म और तीर्थंकर आदि नाम कर्म के उदय में होते हैं इसलिये ये इनके निमित्त कारण कहे जाते हैं। वैसे तो शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं का ग्रहण योग से होता है और कुसुमवृष्टि आदि कार्य भक्तिवश आए हुए देवादिक करते हैं इस लिए ये ही इन कार्यों के निमित्त कारण हैं।

शंका—अघातिया कर्मों के क्षय से भी क्षायिक भाव प्रकट होते हैं, उन्हें क्षायिक भावों में क्यों नहीं गिनाया ?

समाधान—अघातिया कर्मों के क्षय से प्रकट होनेवाले भाव आत्मा के अनुजीवी अर्थात् असाधारण भाव नहीं होते किन्तु वे प्रतिजीवी होते हैं अर्थात् उनका सद्भाव अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है और यहाँ प्रकरण आत्मा के असाधारण भावों के बतलाने का है, इस लिये उन्हें यहाँ नहीं गिनाया ॥ ४ ॥

क्षायोपशमिक भाव के भेद

जिन अवान्तर कर्मों में देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार के कर्म परमाणु पाये जाते हैं क्षयोपशम उन्हीं कर्मों का होता है। नौ नोकषायों में केवल देशघाति कर्म परमाणु पाए जाते हैं इस लिए उनका क्षयोपशम नहीं होता। केवल ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों में केवल सर्वघाति परमाणु पाए जाते हैं इस लिए उनका भी क्षयोपशम नहीं होता। यद्यपि प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाति ही हैं किन्तु इन्हें अपेक्षाकृत देशघाति मान लिया जाता है, इस लिए अनन्तानु-

बन्धी आदि का क्षयोपशम बन जाता है। अघातिया कर्मों में तो देशघाति और सर्वघाति यह विकल्प ही सम्भव नहीं इस लिए उनके क्षयोपशम का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो क्षयोपशम का सामान्य योग्यता का विवेचन किया। अब यह बतलाते हैं कि किन किन कर्मों के क्षयोपशम से कौन कौन से भाव प्रकट होते हैं।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनः पर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान प्रकट होते हैं। मति अज्ञानावरण, श्रुत अज्ञानावरण और विभंग ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान प्रकट होते हैं। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन प्रकट होते हैं। पाँच प्रकार के अन्तराय के क्षयोपशम से पाँच लब्धियाँ प्रकट होती हैं। सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार की कषाय के उदयाभावीक्षय और सदवस्थारूप उपशम से तथा चार संज्वलन में से किसी एक के और नौ नोकषाय के यथा सम्भव उदय होने पर क्षायोपशमिक सर्वविरतिरूप चारित्र प्रकट होता है। तथा अनन्तानुबन्धी आदि आठ प्रकार की कषाय के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम से तथा प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय के और नौ नोकषाय के यथा सम्भव उदय होने पर क्षायोपशमिक संयमासंयम भाव प्रकट होता है। इस प्रकार ये अठारह प्रकार के ही क्षायोपशमिक भाव हैं।

शंका—संज्ञित्व, सम्यग्मिथ्यात्व और योग भी क्षायोपशमिक भाव हैं उनका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया !

समाधान—संज्ञीपना ज्ञान की अवस्था विशेष है, इस लिये उसे अलग से ग्रहण नहीं किया। सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व का एक

भेद है, इसलिये सम्यक्त्व के ग्रहण करने से ही सम्यग्मिथ्यात्वका ग्रहण हो जाता है। योग का सम्बन्ध वीर्यलब्धि से है इस लिये उसे भी अलग से नहीं कहा।

इस प्रकार क्षायोपशमिक भाव अठारह ही होते हैं यह सिद्ध हुआ ॥ ५ ॥

गति नामकर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतियां होती हैं। कषाय मोहनीय के उदय से क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय होते हैं। वेद नोकषाय के उदय से स्त्री, पुरुष और नपुन्सक ये तीन वेद होते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से एक मिथ्यादर्शन होता है। ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान भाव होता है। चारित्रमोहनीय के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से एक असंयत भाव होता है। किसी भी कर्म के उदय से असिद्ध भाव होता है। कृष्ण आदि छहों लेश्याएं कषाय के उदय से रंजित योगप्रवृत्ति रूप हैं। इसलिये गति आदि इक्कीस भाव औदयिक हैं।

औदयिकभाव के भेद

शंका—दर्शनावरण के उदय से अदर्शन भाव भी होता है उसको अलग से क्यों नहीं गिनाया ?

समाधान—सूत्र में आये हुए मिथ्यादर्शन पद से अदर्शन भाव का ग्रहण हो जाता है इसलिये उसे अलग से नहीं गिनाया। तथा निद्रा और निद्रा-निद्रा आदि का भी इसी में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये, क्यों कि ये भी अदर्शन के भेद हैं।

शंका—हास्य आदि के उदय से हास्य आदि औदयिक भाव भी होते हैं, उनको तो अलग से गिनाना चाहिये था ?

समाधान—माना कि हास्य आदि स्वतन्त्र औदयिक भाव हैं, तब भी लिङ्ग के ग्रहण करने से इनका ग्रहण हो जाता है, क्यों कि ये भाव लिंग के सहचारी हैं।

शंका—अघातिया कर्मों के उदय से भी जाति आदि औदयिक भाव होते हैं उन्हें यहां अलग से क्यों नहीं गिनाया ?

समाधान—अघातिया कर्मों के उदय से होने वाले जितने औदयिक भाव हैं उन सब का 'गति' उपलक्षण है। इसके ग्रहण करने से उन सब का ग्रहण जान लेना चाहिये, इसलिये अघातिया कर्मों के उदय से होने वाले जाति आदि अन्य भावों को अलग से नहीं गिनाया।

शंका—उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थान में लेश्या का विधान तो किया है पर वहां कषाय का उदय नहीं पाया जाता, अतः लेश्यामात्र को औदयिक कहना उचित नहीं है ?

समाधान—पूर्वभावप्रज्ञापन नय की अपेक्षा वहाँ औदयिकपने का उपचार किया जाता है, इसलिये लेश्यामात्र को औदयिक मानने में कोई आपत्ति नहीं।

इस प्रकार मुख्यरूप से औदयिक भाव इक्कीस ही होते हैं यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

पारिणामिक भाव के भेद

पारिणामिक भाव तीन हैं, जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। इन म जीवत्व का अर्थ चैतन्य है यह शक्ति आत्मा की स्वाभाविक है, इसमें कर्म के उदयादि की अपेक्षा नहीं पड़ती इसलिये पारिणामिक है। यही बात भव्यत्व और अभव्यत्व के विषय में जानना चाहिये। जिस आत्मा में रत्नत्रय के प्रकट होने की योग्यता है वह भव्य है और जिसमें इस प्रकार की योग्यता नहीं है वह अभव्य है।

शंका—जीव में अस्तित्व, अन्यत्व नित्यत्व और प्रदेशवत्व आदि बहुत से पारिणामिक भाव हैं जो कर्म के उदयादि की अपेक्षा से नहीं होते, फिर उन्हें यहाँ क्यों नहीं गिनाया ?

समाधान—यद्यपि ये अस्तित्व आदिक पारिणामिक भाव हैं परन्तु ये केवल जीव में ही नहीं पाये जाते। जीव द्रव्य को छोड़ कर

अन्य द्रव्यों में भी ये पाये जाते हैं और यहाँ प्रकरण जीव के असाधारण भाव दिखलाने का है इसलिये इन्हें अलग से नहीं गिनाया।

इस प्रकार पारिणामिक भाव तीन हैं यह निश्चित होता है।

शंका—आगम में सान्निपातिक भाव भी बतलाये हैं, इसलिये उनका यहां संग्रह क्यों नहीं किया ?

समाधान—सान्निपातिक भाव स्वतंत्र नहीं हैं वे पूर्वोक्त पाँच भावों के संयोग से निष्पन्न किये जाते हैं, इसलिये उन्हें अलग से नहीं गिनाया।

इस प्रकार मूलभाव पाँच और उनके कुल त्रेपन भेद हैं यह सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

जीव का लक्षण—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

उपयोग यह जीव का लक्षण है।

जो विवक्षित वस्तु को अन्य वस्तुओं से जुदा करे उसे लक्षण कहते हैं। इसके आत्मभूत और अनात्मभूत ऐसे दो भेद हैं। अग्नि की उष्णता यह आत्मभूत लक्षण है और दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड यह अनात्मभूत लक्षण है। प्रकृत में अन्य द्रव्यों से जीव द्रव्य का विश्लेषण करना है। यह देखना है कि वह कौन सी विशेषता है जिससे जीव स्वतंत्र द्रव्य माना जाता है। प्रस्तुत सूत्रमें यही बात बतलाई गई है। उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है। यह जीव को छोड़ कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। यद्यपि जीव में अरस, अरूप, अगन्ध, सम्यक्त्व आदि और भी अनेक धर्म हैं पर एक तो उनमें से बहुत से धर्म असाधारण नहीं हैं जैसे अरस, अरूप और अगन्ध आदि। ये जीव के सिवा धर्म आदि अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। दूसरे जो सम्यक्त्व आदि आत्मा के असाधारण धर्म हैं वे

आत्मा की पहचान में लिंग नहीं हो सकते, इसलिये यहाँ मुख्यता से उपयोग को जीव का लक्षण कहा है। जड़ चेतन का विभाग मुख्यतया उपयोग के ऊपर अवलम्बित है। जिसमें उपयोग पाया जाता है वह चेतन है और जिसमें यह नहीं पाया जाता वह अचेतन है—जड़ है। इसलिये यहाँ उपयोग को जीव का लक्षण बतलाया है।

शंका—उपयोग क्या वस्तु है ?

समाधान—ज्ञान दर्शनरूप व्यापार ही उपयोग है।

शंका—यह आत्मा में ही पाया जाता है, अचेतन में नहीं सो क्यों ?

समाधान—उपयोग का कारण चेतना शक्ति है वह जिसमें है उसी में उपयोग पाया जाता है, अन्य में नहीं।

शंका—सांख्य दर्शन में ज्ञान को चेतनारूप न मान कर प्रकृति का धर्म माना है, इसलिये जिसमें चेतना शक्ति है उसी में उपयोग है यह कहना नहीं बनता ?

समाधान—यदि ज्ञान प्रकृति का परिणाम होता तो प्रकृति के सब भेद प्रभेदों में वह पाया जाना चाहिये था, पर ऐसा नहीं है इससे ज्ञात होता है कि उपयोग का अन्वय चेतना के साथ है प्रकृति के साथ नहीं।

शंका—चार्वाक ने आत्मा को भूत चतुष्टय का परिणाम माना है उसका कहना है कि जैसे कोद्रव आदि द्रव्य को सड़ाने पर उसमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है वैसे भूत चतुष्टय के समुचित मिश्रण से चैतन्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, अतः आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य मानना उचित नहीं है ?

समाधान—प्रत्येक कार्य अपने अनुकूल कारण से ही पैदा होता है। यतः भूतचतुष्टय में चेतना शक्ति नहीं पाई जाती अतः उससे चैतन्य का प्रादुर्भाव मानना उचित नहीं है। अब रही मादक शक्ति

की बात सो धत्तूरा, गांजा आदि में तो वह स्पष्ट ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार शेष जड़ पदार्थों में भी वह कमी अधिक प्रमाण में पाई जाती है अतः चैतन्य की उत्पत्ति के लिये इसे दृष्टान्त रूप में उपस्थित करना उचित नहीं है।

शंका—आत्मा में और गुणों के रहते हुए उपयोग को ही लक्षण क्यों कहा ?

समाधान—यद्यपि यह सही है कि आत्मा अनंत गुण—पर्यायों का पिण्ड है पर उन सब में उपयोग मुख्य है, क्यों कि इसके द्वारा जीव की पहिचान की जा सकती है, इसलिये उपयोग को ही जीव का लक्षण कहा है।

शंका—स्वरूप और लक्षण में क्या अन्तर है ?

समाधान—प्रत्येक पदार्थ में जितने गुण और उनकी पर्यायें पाई जाती हैं वे सब मिल कर उसका स्वरूप है और जिससे उस पदार्थ की पहिचान की जाती है वह लक्षण है, यही इन दोनों में अन्तर है।

शंका—पहले जो जीव के स्वतत्त्व कह आये हैं उन्हें यदि जीव का लक्षण मान लिया जाता तो अलग से लक्षण के लिखने की आवश्यकता न रहती ?

समाधान—पहले जो स्वतत्त्व बतलाये हैं उनमें से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार भाव तो नैमित्तिक हैं। औपशमिक और क्षायिक भाव तो जीव में तभी उत्पन्न होते हैं जब इन भावों के विरोधी कर्मों का उपशम और क्षय होता है। यतः ये भाव सदा नहीं पाये जाते अतः इन्हें जीव का लक्षण नहीं कहा। यही बात क्षायोपशमिक और औदयिक भावों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। ये भाव भी सदा जीव के नहीं पाये जाते। अब रहा पारिणामिक भाव सो उसके तीन भेद हैं जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। सो इनमें से यद्यपि भव्यत्व और अभव्यत्व अनिमित्तक भाव

हैं तो भी लक्षण ऐसा भाव हो सकता है जिससे पहिचान की जा सके। ये भाव ऐसे नहीं जिनके निमित्त से जीव की पहिचान की जा सके। अब रहा जीवत्व भाव सो यह चैतन्य का पर्यायवाची है और चेतना के ज्ञान और दर्शन ये दो भेद हैं। यही सबब है कि यहाँ उपयोग को जीव का लक्षण कहा है ॥ ८ ॥

उपयोग के भेद—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः । ९ ।

वह उपयोग दो प्रकार का है तथा आठ प्रकार का और चार प्रकार का है।

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है जो सब आत्माओं में शक्ति की अपेक्षा समानरूप से पाया जाता है। तथापि उपयोग सब आत्माओं में एकसा नहीं होता। जिसे बाह्य और आभ्यन्तर जैसी सामग्री मिलती है उसके अनुसार यह होता है। इस प्रकार सब आत्माओं में न्यूनाधिक रूप से सम्भव इस उपयोग के संक्षेप में कुल कितने भेद हो सकते हैं यह बात इस सूत्र में बतलाई है—

उपयोग के मुख्य भेद दो हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। घट पट आदि बाह्य पदार्थों का जानना ज्ञान है और बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने के लिये आत्मा का स्वप्रत्ययरूप प्रयत्न का होना दर्शन है। एक ऐसी मान्यता है कि सामान्यविशेषात्मक पदार्थ के सामान्य अंश को ग्रहण करनेवाला दर्शन है और विशेष अंश को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है। किन्तु विचार करने पर यह मान्यता समीचीन नहीं प्रतीत होती, क्योंकि पदार्थ के सामान्य और विशेष ये दोनों अविभक्त अंश है उनमें से एक काल में एक का स्वतन्त्ररूप से ग्रहण नहीं हो सकता। हम जो उनमें पार्थक्य कल्पित करते हैं वह तर्कद्वारा ही ऐसा करते हैं। वस्तु का ग्रहण होते समय तो उभयरूप ही वस्तु का ग्रहण होता है इसलिये ज्ञान और दर्शन के

उपयोग के दो भेद और उनका विषय

विषय में यह मानना युक्त नहीं कि जो विशेषको ग्रहण करे वह ज्ञान है और जो सामान्यको ग्रहण करे वह दर्शन है। किन्तु यह मानना ही युक्त है कि बाह्य पदार्थ को ग्रहण करना ज्ञानोपयोग का कार्य है और उसके लिये आत्मा का स्वप्रत्ययरूप प्रयत्न का होना दर्शनोपयोग का कार्य है।

आगम में ज्ञानोपयोगको साकारोपयोग और दर्शनोपयोग को अनाकारोपयोग भी कहा है। सो यहाँ पर आकार का अर्थ उपयोग से पृथकभूत कर्म लेना चाहिये। आशय यह है कि जिस उपयोग का विषय उससे भिन्न पदार्थ होता है वह साकारोपयोग है और जिस उपयोग का विषय उससे भिन्न पदार्थ नहीं पाया जाता है वह अनाकारोपयोग है। दर्शनोपयोग में 'यह घट है पट नहीं' स प्रकार बाह्य पदार्थगत व्यतिरेक प्रत्यय भी नहीं होता और 'यह भी घट है यह भी घट है' इस प्रकार बाह्य पदार्थगत अन्वय प्रत्यय भी नहीं होता, इसलिये वह बाह्य पदार्थ को नहीं ग्रहण करता यही निश्चित होता है।

अन्य प्रकार से उपयोग के दो भेद

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभङ्गज्ञान। यहाँ पर ज्ञान और अज्ञान का अन्तर सम्यक्त्व के सद्भाव और असद्भाव कृत है। सम्यक्त्व के सद्भाव में सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहे जाते हैं और सम्यक्त्व के अभाव में ही ज्ञान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद

शंका—यदि ऐसा है तो फिर मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के प्रतिपक्षी अज्ञानों को क्यों नहीं गिनाया?

समाधान—इन दोनों ज्ञानों के प्रतिपक्षी अज्ञान नहीं होते, क्योंकि ये सम्यक्त्व के अभाव में होते ही नहीं। मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थान से और केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान से होता है।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षु इन्द्रिय से जो दर्शन होता है वह चक्षुर्दर्शन है।

दर्शनोपयोग के चार भेद

चक्षु के सिवा अन्य इन्द्रिय और मनसे जो दर्शन होता है वह अचक्षुर्दर्शन है। अवधिज्ञान के पहले जो दर्शन होता है वह अवधिदर्शन है और केवलज्ञान के साथ जो दर्शन होता है वह केवलदर्शन है।

शंका—अवधिदर्शन के समान मनःपर्ययदर्शन क्यों नहीं कहा?

समाधान—मनःपर्ययज्ञान के पहले अचक्षु दर्शन होता है इसलिये मनःपर्ययदर्शन नहीं कहा।

शंका—विभंगज्ञान के पहले कौन सा दर्शन होता है?

समाधान—विभंगज्ञान के पहले अवधिदर्शन होता है।

शंका—तो फिर अवधिदर्शन को चौथे गुणस्थान से क्यों बतलाया है?

समाधान—वह कथन अवधिज्ञान की प्रधानता से किया है।

शंका—उक्त बारह प्रकार के उपयोगों में से कितने उपयोग पूर्ण हैं और कितने अपूर्ण?

समाधान—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग पूर्ण हैं और शेष उपयोग अपूर्ण।

शंका—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के नाश हो जाने पर स्वतन्त्र दो उपयोग मानने का क्या कारण है?

समाधान—ज्ञान और दर्शन ये आत्मा के स्वतन्त्र दो धर्म हैं और इनके कार्य भी अलग अलग हैं, इसलिये आवरण कर्म के नष्ट हो जाने पर भी स्वतन्त्र रूप से दो उपयोग माने हैं॥ ९॥

जीवों के भेद—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त।

आगम में जीवों की संख्या अनन्त बतलाई है। वे सब जीव मुख्य रूप से दो विभागों में बटे हुए हैं—संसारी और मुक्त। जिनके संसार पाया जाता है वे संसारी हैं और जो संसार से रहित हैं वे मुक्त हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से संसार पांच प्रकार का है। संसारी जीव परवश हो निरन्तर इस पांच प्रकार के संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। सम्यग्दर्शन होने के पूर्व तक इनका यह क्रम चालू रहता है, इसी से प्रथम प्रकार के जीव संसारी कहलाते हैं। किन्तु दूसरे प्रकार के जीवों का यह संसार सर्वथा छूट जाता है इसलिये उन्हें मुक्त कहते हैं। इस प्रकार जीवों के मुख्यतः संसारी और मुक्त ये दो ही भेद हैं यह सिद्ध होता है॥ १०॥

संसारी जीवों के भेद-प्रभेद—

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः * ॥ १३ ॥

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ‡ ॥ १४ ॥

मन वाले और मन रहित ये संसारी जीव हैं।

तथा वे संसारी जीव त्रस और स्थावर हैं।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच स्थावर हैं।

द्वीन्द्रिय आदि त्रस हैं।

यहां संसारी जीवों के दो प्रकार से विभाग किये गये हैं। पहला विभाग मन के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से किया गया है

---

* श्वेताम्बर मान्य सूत्र 'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः' ऐसा है।

‡ श्वेताम्बर मान्य सूत्र 'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' ऐसा है।

और दूसरा विभाग त्रसत्व और स्थावरत्व की अपेक्षा से किया गया है।

आशय यह है कि जितने भी संसारी जीव हैं वे मनवाले और मनरहित इन दो विभागों में तथा त्रस और स्थावर इन दो भागों में बटे हुए हैं।

शंका—मन क्या वस्तु है ?

समाधान—जिससे विचार किया जा सके वह मन है। यह वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। यह एक प्रकार की आत्मा की विशुद्धि है इसलिये इसे भावमन कहते हैं। तथा इससे विचार करने में सहायक होनेवाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणु भी मन कहलाते हैं। यह मन आंगोपांग नामकर्म के उदय से होता है। यतः यह द्रव्यरूप है इसलिये इसे द्रव्यमन कहते हैं।

शंका—क्या अमनस्क जीवों के किसी प्रकार का मन होता है ?

समाधान—अमनस्क जीवों के किसी प्रकार का भी मन नहीं होता।

शंका—यदि ऐसा है तो अमनस्क जीव इष्ट विषय में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषय से निवृत्ति कैसे करते हैं ?

समाधान—क्या इष्ट है और क्या अनिष्ट इसका विचार करना मन का कार्य भले ही रहा आओ पर इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति यह केवल मन का कार्य नहीं है। यही सबब है कि मन के नहीं रहते हुए भी अमनस्क जीव उस उस इन्द्रिय के सम्बन्ध से इष्ट विषय में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषय से निवृत्ति कर लेते हैं। जो विषय जिस इन्द्रिय को असह्य होता है उससे बचना यह उस उस इन्द्रिय का काम है।

शंका—त्रस और स्थावर इन भेदों का कारण क्या है ?

समाधान—त्रस नामकर्म और स्थावर नामकर्म इन भेदों का

कारण है। आशय यह कि त्रस नामकर्म के उदय से जीव त्रस कहलाते हैं और स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर कहलाते हैं।

शंका—जो हल डुल सकें वे त्रस हैं और जो इस प्रकार की क्रिया से रहित हैं वे स्थावर हैं, यदि त्रस और स्थावर का यह अर्थ किया जाय तो क्या आपत्ति है?

समाधान—यदि त्रस और स्थावर का उक्त अर्थ किया जावे तो जो त्रस गर्भ में है मूर्च्छित हैं, सुषुप्त हैं, बेहोश हैं और अण्ड अवस्था में हैं जो कि हल डुल नहीं सकते उन्हें अत्रसत्व का प्रसंग प्राप्त होगा और जो वायु आदि गमनशील हैं उन्हें अस्थावरत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु ऐसा मानने पर आगम से विरोध आता है अतः जिनके त्रस नामकर्म का उदय है वे त्रस हैं और जिनके स्थावर नामकर्म का उदय है वे स्थावर हैं, त्रस और स्थावर का यही अर्थ मानना संगत है।

शंका—दसवें सूत्र में सब जीवों के संसारी और मुक्त ये दो भेद किये हैं और ग्यारहवें सूत्र में समनस्क अमनस्क ये दो भेद गिनाये हैं, अतः सब संसारी जीव समनस्क और मुक्त जीव अमनस्क होते हैं ग्यारहवें सूत्र का यह अर्थ करने में क्या आपत्ति है?

समाधान—ग्यारहवें सूत्र का उक्त अर्थ युक्त नहीं क्यों कि समनस्क और अमनस्क ये भेद संसारी जीवों के ही हैं। मुक्त जीव तो इन दोनों विकल्पों से रहित हैं।

शंका—ग्यारहवें सूत्रमें संसारी जीवों के भेद गिनाये हैं यह कैसे जाना?

समाधान—बारहवें सूत्र में जो 'संसारिणः' पद पड़ा है वह मध्य दीपक है जिससे यह ज्ञात होता है कि समनस्क और अमनस्क ये संसारी जीवों के भेद हैं तथा त्रस और स्थावर ये भी संसारी जीवों के भेद हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो ग्यारहवें और बारहवें सूत्र में क्रम से

सम्बन्ध कर लेना चाहिये। जिससे यह अर्थ निकल आयगा कि सभी त्रस समनस्क होते हैं और सभी स्थावर अमनस्क ?

समाधान—ऐसा सम्बन्ध करना भी युक्त नहीं, क्यों कि सभी त्रस समनस्क न होकर कुछ ही त्रस समनस्क होते हैं और शेष अमनस्क होते हैं। स्थावरों में तो सबके सब अमनस्क ही होते हैं। इसलिये इन सूत्रों में संसारियों के स्वतंत्र रूप से भेद गिनाये हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

तेरहवें और चौदहवें सूत्र में क्रमसे स्थावर और त्रस के भेद गिनाये हैं। स्थावर के पाँच भेदों का नाम निर्देश तो सूत्र में ही कर दिया है। इनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही पाई जाती है इस लिये ये एकेन्द्रिय भी कहलाते हैं। त्रस के मुख्य भेद चार हैं द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ हैं वे द्वीन्द्रिय हैं। जिनके इन दो के साथ घ्राण इन्द्रिय है वे त्रीन्द्रिय हैं। जिनके इन तीन के साथ चक्षु इन्द्रिय है वे चतुरिन्द्रिय हैं और जिनके इन चार के साथ श्रोत्र इन्द्रिय है वे पंचेन्द्रिय हैं।

स्थावर जीव पाँच प्रकार के हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। यों तो पृथिवी आदि पाँचों सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के होते हैं। पर यहाँ जीवका प्रकरण होने से सजीव पृथिवी आदि का ही ग्रहण किया है। जो जीव विग्रह गति में स्थित हैं किन्तु जिन्हें पृथिवी आदिरूप शरीर की प्राप्ति नहीं हुई है उनका भी यहाँ संग्रह कर लिया गया है, क्यों कि पृथिवी आदि नाम कर्म का उदय उनके भी पाया जाता है। इसी प्रकार त्रस जीवों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

इन्द्रियों की संख्या, भेद-प्रभेद, नाम निर्देश और विषय—

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

†स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः * ॥ २० ॥

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

इन्द्रिया पांच हैं।

वे प्रत्येक दो दो प्रकार की हैं।

निर्वृत्ति और उपकरण ये द्रव्येन्द्रिय हैं।

लब्धि और उपयोग ये भावेन्द्रिय हैं।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियों के नाम हैं।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रम से उनके विषय हैं।

श्रुत अनिन्द्रिय अर्थात् मन का विषय है।

पहले १४ वें सूत्र में 'द्वीन्द्रियादयः' यह पद लिख आये हैं इससे इन्द्रियों की संख्या बतलाना आवश्यक समझकर उनकी संख्या का निर्देश किया है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं।

शंका—इन्द्रिय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिससे ज्ञान और दर्शन का लाभ हो सके या जिससे आत्मा के अस्तित्व की सूचना मिले उसे इन्द्रिय कहते हैं।

शंका—इन्द्रियाँ पाँच ही हैं यह बात नहीं है, क्योंकि पाँच कर्मेन्द्रियों के सम्मिलित कर देने पर इन्द्रियों की संख्या दस हो जाती है ?

समाधान—माना कि सांख्य आदि मतों में वाक्, पाणि, पाद,

(†) श्वेताम्बर परम्परा में इस सूत्र के पूर्व 'उपयोगः स्पर्शादिषु' सूत्र अधिक है।

(*) 'तदर्थाः' के स्थान में श्वेताम्बर पाठ 'तेषामर्थाः' है।

पायु-गुदा और उपस्थ-लिङ्ग अर्थात् जननेन्द्रिय को भी इन्द्रिय बतलाया है परन्तु वे कर्मेन्द्रियां हैं। और यहां उपयोग का अधिकार होने से केवल ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण किया है जो पाँच से अधिक नहीं हैं, इसलिये सूत्र में इन्द्रियां पांच हैं यह कहा है।

शंका—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का अभिप्राय क्या है ?

समाधान—जिनसे ज्ञान होता है वे ज्ञानेन्द्रिय हैं और जो बोलना, चलना, उठाना, धरना, नीहार करना आदि कर्मों की साधन हैं वे कर्मेन्द्रिय हैं॥ १५॥

उक्त पांचों इन्द्रियों के द्रव्य और भावरूप से दो दो भेद हैं। इन्द्रियाकार पुद्गल और आत्म प्रदेशों की रचना द्रव्येन्द्रिय है और क्षयोपशम विशेष से होनेवाला आत्मा का ज्ञान दर्शन रूप परिणाम भावेन्द्रिय है॥ १६॥

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति का अर्थ रचना है। इसलिये निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय का अर्थ हुआ इन्द्रियाकार रचना। यह बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। बाह्य निर्वृत्ति से इन्द्रियाकार पुद्गल रचना ली गई है और आभ्यन्तर निर्वृत्ति से इन्द्रियाकार आत्मप्रदेश लिये गये हैं। यद्यपि प्रतिनियत इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम सर्वांग होता है तथापि आंगोपांग नामकर्म के उदय से जहां पुद्गल प्रचयरूप जिस द्रव्येन्द्रिय की रचना होती है वहीं के आत्मप्रदेशों में उस उस इन्द्रिय के कार्य करने की क्षमता होती है। उपकरण का अर्थ है उपकार का प्रयोजक साधन। यह भी बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है! नेत्र इन्द्रिय में कृष्ण और शुक्ल मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है और अक्षिपत्र आदि बाह्य उपकरण है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों में भी जानना चाहिये॥ १७॥

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग। मतिज्ञानावरण

तथा चक्षुदर्शनावरण और अचक्षु दर्शनावरण का क्षयोपशम होकर जो आत्मा में ज्ञान और दर्शन रूप शक्ति उत्पन्न होती है वह लब्धि इन्द्रिय है। यह आत्मा के सब प्रदेशों में पाई जाती है, क्यों कि क्षयोपशम सर्वांग होता है। तथा लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीनों के होने पर जो विषयों में प्रवृत्ति होती है वह उपयोगेन्द्रिय है।

शंका—उपयोग इन्द्रिय न होकर इन्द्रिय का फल है फिर उसे इन्द्रिय कैसे कहा ?

समाधान—यद्यपि उपयोग इन्द्रिय का कार्य है पर यहां उपचार से अर्थात् कार्य में कारण का आरोप करके उपयोग को भी इन्द्रिय कहा है। अथवा इन्द्रिय का मुख्य अर्थ उपयोग है, इसलिये उपयोग को इन्द्रिय कहा है।

शंका-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय किस क्रम से उत्पन्न होती हैं ?

समाधान—जिस जीव के जिस जाति नामकर्म का उदय होता है उसके उसी के अनुसार इन्द्रियावरण का क्षयोपशम और आंगोपांग नामकर्म का उदय होकर उतनी द्रव्येन्द्रियां और भावेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। उसमें भी लब्धिरूप भावेन्द्रिय भव के प्रथम समय से उत्पन्न हो जाती है और द्रव्येन्द्रिय की रचना शरीर ग्रहण के प्रथम समय से प्रारम्भ होती है। तथा जब द्रव्येन्द्रिय पूर्ण हो जाती है तब उपयोग भावेन्द्रिय होती है। इस प्रकार यह द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की उत्पत्ति का क्रम है॥१८॥

पांचों इन्द्रियों के नाम क्रमशः स्पर्शनेन्द्रिय—त्वचा, रसनेन्द्रिय-जिह्वा, घ्राणेन्द्रिय—नासिका, चक्षुरिन्द्रिय—नेत्र और श्रोत्रेन्द्रिय—कान हैं। इन पांचों इन्द्रियों के निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग रूप चार चार भेद हैं। इनमें से प्रारम्भ के दो द्रव्येन्द्रिय रूप हैं और अन्त के दो भावेन्द्रिय रूप।

शंका—क्या यह सम्भव है कि किसी जीव के उस जाति की द्रव्येन्द्रिय तो उत्पन्न हो पर उसी जाति की भावेन्द्रिय उत्पन्न न हो ?

समाधान—नहीं।

शंका—क्यों ?

समाधान—क्यों कि द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की उत्पत्ति जाति नामकर्म के उदयानुसार होती है। यतः जो जीव जिस जाति में उत्पन्न होता है उसके उस जाति के अनुकूल इन्द्रियावरण का क्षयोपशम होता है और उसी जाति के आंगोपांग का उदय होता है, इसलिये प्रत्येक संसारी जीव के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय एक समान पाई जाती हैं।

शंका—जो जन्म से अन्धे बहिरे होते हैं उनके चक्षु या श्रोत्र द्रव्येन्द्रिय तो पाई नहीं जाती, तो क्या उनके उस जाति की भावेन्द्रिय भी नहीं होती।

समाधान—यह बात नहीं है कि जो जन्म से अन्धे या बहिरे होते हैं उनके चक्षु या श्रोत्र द्रव्येन्द्रिय नहीं होती। होती तो अवश्य हैं पर किसी निमित्त से बिगड़ जाती हैं। इतने मात्र से उनके उस जाति की भावेन्द्रिय का अभाव नहीं कहा जा सकता है।

शंका—वेदवैषम्य के समान इन्द्रिय वैषम्य क्यों नहीं पाया जाता ?

समाधान—एक वेदवाले जीव के एक साथ अनेक द्रव्य वेदों की प्राप्ति सम्भव होने से वेदवैषम्य होता है, यह बात इन्द्रियों के विषय में लागू नहीं है अतः इन्द्रियवैषम्य सम्भव नहीं।

शंका—एक वेदवाले जीव के एक साथ अनेक द्रव्य वेदों की प्राप्ति क्यों सम्भव है ?

समाधान—कर्मभूमि में शरीर के उपादान नियमित नहीं। यहाँ जिस गर्भ में पहले द्रव्यपुरुषका उपादान रहा वहाँ दूसरी बार द्रव्यस्त्री या द्रव्यनपुंसक का उपादान आ मिलता है। किसी गर्भ से एक बालक पैदा होता है और किसी गर्भ से दो या दो से अधिक बालक या बालकाएँ या बालक बालकाएँ मिल कर पैदा होते हैं इस लिये यहाँ

भाववेद के अनुसार द्रव्यवेद की प्राप्ति का नियम नहीं बनता। जैसे द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का नियमन करनेवाला जाति नामकर्म है वैसे यहाँ ऐसा कोई कर्म नहीं जो द्रव्यवेद और भाववेद का नियमन करे। जिस प्रकार एक एक जाति से एक एक इन्द्रिय बँधी हुई है उसी प्रकार एक एक जाति से एक एक वेद भी बँधा होता तो निश्चित था कि वेदवैषम्य न होता। एक ही मनुष्य जाति के रहते हुए जैसे पाँचों इन्द्रियों की प्राप्तिका नियम है वहाँ कोई विकल्प नहीं उसी प्रकार यदि वेद का नियम होता विकल्प न होता तो वेदसाम्य ही होता। यतः जाति एक है और वेद कोई भी प्राप्त हो सकता है उसमें भी द्रव्यवेद और भाववेद का नियामक कोई कर्म नहीं, इसलिये वेदवैषम्य बन जाता है। जो अवस्था शरीर की है वही अवस्था द्रव्यवेद की जानना चाहिये। मनुष्य स्त्रीवेदी हो, पुरुषवेदी या नपुंसकवेदी उसके छह संस्थानों में से किसी एक संस्थान का और छह संहननों में से किसी एक संहनन का उदय होता है। वेद इसमें बाधक नहीं। यही बात द्रव्यवेद की है। मनुष्य स्त्रीवेदी हो, पुरुषवेदी हो या नपुंसकवेदी उसके मनुष्य जातीय किसी भी आंगोपांग का उदय हो सकता है वेद इसमें बाधक नहीं। इस प्रकार एक वेदवाले जीव के अनेक द्रव्य वेदों की प्राप्ति सम्भव होने से वेदवैषम्य होता है।

शंका—यह वेदवैषम्य किस किस गति में प्राप्त होता है ?

समाधान—मनुष्यगति और तिर्यंचगति में।

शंका—क्या मनुष्यगति और तिर्यंचगत्ति में सबके इसकी प्राप्ति सम्भव है ?

समाधान—नहीं।

शंका—तो किन मनुष्य और तिर्यंचों के इसकी प्राप्ति सम्भव है ?

समाधान— कर्मभूमि के गर्भज मनुष्य और तिर्यंचों के, क्योंकि वेदवैषम्य के जो कारण बतलाये हैं वे सब इन्हीं के पाये जाते हैं।

शंका—देवगति में वेदवैषम्य की प्राप्ति क्यों सम्भव नहीं ?

समाधान—देवों और देवियों के उत्पत्ति स्थान अलग-अलग हैं उनमें कभी मिश्रण नहीं होता। देव अपने उत्पत्ति स्थानों में जाकर उत्पन्न होते हैं और देवियाँ अपने उत्पत्ति स्थानों में जाकर उत्पन्न होती हैं। उत्पत्ति स्थानों के समान उनकी आहार वर्गणाएँ भी जुदी जुदी हैं। अर्थात् देवों के उत्पत्ति स्थानों में उनके शरीर के योग्य ही आहार वर्गणाएँ पाई जाती हैं, और देवियों के उत्पत्तिस्थानों में उनके शरीर के योग्य ही आहार वर्गणाएँ पाई जाती हैं। इनके आंगोपांग नामकर्म का उदय भी तदनुकूल होता है। यही सबब है कि देवगति में वेद वैषम्य नहीं होता।

शंका—देवगति में वेदवैषम्य के कारण न होने से वहाँ इसका नहीं मानना ठीक है पर भोगभूमि की अवस्था तो देवगति से भिन्न है, अतः वहाँ इसके मान लेने में क्या आपत्ति है ?

समाधान—भोगभूमि के प्राकृतिक नियमानुसार वहाँ प्रत्येक गर्भ स्थान में नर और मादा दोनों के शरीर के अलग-अलग उपादान एक साथ संचित होते हैं, इसलिये देवगति के समान नियमितपना होने के कारण वहाँ भी वेदवैषम्य का पाया जाना सम्भव नहीं है।

शंका—सर्वत्र वेद के अनुसार आंगोपांग नामकर्म का उदय क्यों नहीं होता ?

समाधान—वेद के उदय के निमित्त अन्य हैं और आंगोपांग के उदय के निमित्त अन्य। वेद का उदय भव के प्रथम समय में होता है और आंगोपांग का उदय शरीर ग्रहण के प्रथम समय में होता है। इसलिये जहाँ दोनों की अनुकूलता सम्भव है वहाँ तो वेदसाम्य बन जाता है। किन्तु जहाँ यह अनुकूलता सम्भव नहीं है वहाँ नहीं बनता। यही सबब है कि सर्वत्र वेद के अनुसार आंगोपांग नामकर्म का उदय नहीं होता।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि जैसे वेद-वैषम्य प्राप्त होता है वैसे इन्द्रियवैषम्य नहीं प्राप्त होता ॥ १९ ॥

संसार में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं। जिनमें, स्पर्श, रस गन्ध और वर्ण आदि धर्म पाये जाते हैं वे मूर्त हैं और शेष अमूर्त। यह पहले बतलाया जा चुका है कि मन के सिवा शेष क्षायोपशमिक ज्ञानों का विषय मूर्त पदार्थ ही है। यतः पाँचों इन्द्रियज्ञान क्षायोपशमिक हैं अतः उनका विषय मूर्त पदार्थ हो है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है, रसना इन्द्रिय का विषय रस है, घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध है, चक्षुइन्द्रियका विषय वर्ण है और श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द है। इस प्रकार यद्यपि पाँचों इन्द्रियों के विषय पाँच बतलाये हैं तथापि इनको सर्वथा भिन्न नहीं मानना चाहिये किन्तु ये एक ही पुद्गल द्रव्य की भिन्न भिन्न पर्याय हैं। उदाहरणार्थ एक मिसरी की डली है उसे पाँचों इन्द्रियाँ अपने अपने विषय द्वारा जानती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय छूकर उसका स्पर्श बतलाती है, रसनेन्द्रिय चख कर उसका मीठा रस बतलाती है, घ्राणेन्द्रिय सूँघ कर उसका गंध बतलाती है, नेत्रेन्द्रिय देख कर उसका सफेद रूप बतलाती है और कर्णेन्द्रिय तोड़ने पर होनेवाले उसके शब्द को बतलाती है। ये स्पर्शादिक पुद्गल द्रव्य के धर्म हैं इस लिये उसे व्याप्त कर रहते हैं, क्यों कि अनेक गुणोंका समुदाय ही द्रव्य है इस लिये प्रत्येक गुण द्रव्य में सर्वत्र पाया जाता है। जैसे खिचड़ी में से दाल अलग की जा सकती है और चावल अलग वैसे एक द्रव्य के विविध गुणों को अलग नहीं किया जा सकता है। हाँ बुद्धि द्वारा वे पृथक पृथक जाने जा सकते हैं अवश्य। पाँचों इन्द्रियाँ यही काम करती हैं। इन्द्रियों की शक्ति अलग अलग होने से वे पृथक् पृथक् रूप से जानती हैं, इस लिये एक इन्द्रियका विषय दूसरी इन्द्रिय में संक्रान्त नहीं होता। इन्द्रियों के इन पाँचों विषयों मे से स्पर्श आदि चार गुणपर्याय हैं और शब्द व्यंजन पर्याय।

शंका—यदि ये स्पर्शादिक एक साथ रहते हैं तो किसी किसी वस्तु में ये सब न पाये जाकर एक या दो क्यों पाये जाते हैं। यथा वायु में एक स्पर्श ही पाया जाता है। जिस वायु में गन्ध पाई जाती है वह फूल के संसर्ग से पाई जाती है। तथा सूर्य की प्रभा में रूप और स्पर्श ही पाया जाता है आदि?

समाधान—यद्यपि प्रत्येक पुद्गल में स्पर्शादिक सब धर्म रहते हैं पर जो पर्याय अभिव्यक्त होती है उसी को इन्द्रिय ग्रहण कर सकती है। जिसमें स्पर्शादि सभी धर्म अभिव्यक्त रहते हैं उसमें उन सबका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण हो जाता है और जिसमें एक या दो धर्म अभिव्यक्त रहते हैं उसमें उन एक या दो धर्मों का ही इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है शेष धर्म अभिव्यक्त न होने के कारण उनका ग्रहण नहीं होता ॥ २० ॥

उक्त पाँचों इन्द्रियों के सिवा एक अनिन्द्रिय भी है जिसे मन कहते हैं। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियोंका विषय नियमित है उस प्रकार मनका विषय नियमित नहीं है। वह वर्तमान के समान अतीत और भविष्य के विषय को भी जानता है। अतीत की सब या कुछ घटनाओंका जो स्मरण होता है वह मन द्वारा ही। इसी प्रकार भविष्य की घटनाओं का जो अनुमान करते हैं वह भी मन द्वारा ही। इस लिये मनका विषय विशाल है। तथापि मनका कार्य विचार करना है। इन्द्रियाँ जिन पदार्थों को ग्रहण करती हैं मन उनका भी विचार करता है और जिन पदार्थों को नहीं ग्रहण करती हैं उनका भी विचार करता है। फिर भी जिन पदार्थों को इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं करतीं उनमें से वह उन्हीं पदार्थों को ग्रहण करता है जिनको अनुमान से जाना जा सकता है या जिनको श्रुत से जान लिया है। इस प्रकार मन का मुख्य कार्य विचार करना है और यह विचार ही श्रुत है। इसी से श्रुत अनिन्द्रिय का विषय कहा गया है।

शंका—क्या मन मूर्त के समान अमूर्त पदार्थ को भी जानता है?

समाधान—मनका मुख्य कार्य विचार करना है और यह विचार मूर्त तथा अमूर्त सबका किया जा सकता है। इसी से मनका विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार का पदार्थ माना है। वस्तुत इन्द्रियों द्वारा जिन पदार्थों का साक्षात्कार नहीं होता उनका मन अनुमानज्ञान या आगमज्ञान से ही चिन्तवन करता है।

शंका—पहले मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद गिनाये हैं उनमें मन सम्बन्धी मतिज्ञान के भेद भी सम्मिलित हैं। किन्तु यहाँ मनका विषय श्रुत ही बतलाया गया है सो यह बात कैसे बन सकती है ?

समाधान—यद्यपि मनसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों होते हैं तथापि श्रुत मुख्यतया मनका ही विषय है यह समझ कर 'श्रुत मनका विषय है' ऐसा कहा है। जो विचार इन्द्रियज्ञान आदि निमित्त के बिना इकदम उत्पन्न होता है और जब तक इसके निमित्त से अन्य विचार धारा चालू नहीं होती तब तक वह मतिज्ञान है। किन्तु इस प्राथमिक विचार के बाद विचारों की जितनी भी धाराएँ प्रवृत्त होती हैं वे सब श्रुतज्ञान हैं। आशय यह है कि पाँच इन्द्रियों से केवल मतिज्ञान होता है और मन से मति श्रुत ये दोनों ज्ञान होते हैं। इसमें भी मति की अपेक्षा श्रुत की प्रधानता है इसलिये यहाँ श्रुत मन का विषय कहा है॥ २१॥

इन्द्रियों के स्वामी—

वनस्पत्यन्तानामेकम्*॥ २२॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि॥ २३॥

संज्ञिनः समनस्काः॥ २४॥

वनस्पति तक के जीवों के एक इन्द्रिय है।

---

* श्वेताम्बर पाठ 'वाय्वन्तानामेकम्' ऐसा है।

कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य बगैरह के एक एक इन्द्रिय अधिक होती है।

मनवाले जीव संज्ञी होते हैं।

पहले संसारी जीवों के स्थावर व त्रस ये दो भेद बतला आये हैं। उनमें से किसके कितनी इन्द्रियाँ होती हैं यहाँ यह बतलाया है। पहले जो स्थावर के पृथिवीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच भेद बतलाये हैं सो इन पाँचों के तो एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है क्योंकि ये पाँचों प्रकार के जीव केवल स्पर्श करके ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी से यहाँ वनस्पति तक के जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय कही है।

शंका—पृथिवीकायिक आदि पाँच स्थावर काय जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही क्यों होती है?

समाधान—पृथिवीकायिक आदि जीवों के एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म का ही उदय होता है जिससे उनके स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्म का ही क्षयोपशम होता है शेष इन्द्रियावरण कर्म का नहीं। इसीसे उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

शंका पृथिवी आदि में जीव है यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—पृथिवी में वृद्धि होती है जल, अग्नि और वायु में क्रिया होती है, अग्निको फूक देने पर बुझ जाती है और वनस्पति में वृद्धि, संकोच तथा विकोच देखा जाता है। ये सब बातें जड़ में सम्भव नहीं, इससे ज्ञात होता है कि पृथिवी आदि में जीव है॥ २२॥

त्रसों के चार भेद बतलाये हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। यहाँ अनुक्रम से इन्हीं जीवों के प्रकार बतलाने के लिये कृमि आदि शब्द निबद्ध किये हैं। कृमि आदि जाति के जीवों के दो इन्द्रियाँ होती हैं एक स्पर्शन और दूसरी रसन। पिपीलिका अर्थात् चींटी आदि जाति के जीवों के तीन इन्द्रियाँ होती हैं—पूर्वोक्त दो और

घ्राण। भ्रमर आदि जाति के जीवों के चार इन्द्रियाँ होती हैं— पूर्वोक्त तीन और चक्षु। मनुष्य आदि के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं—पूर्वोक्त चार और श्रोत्र। यहाँ मनुष्यों के सिवा पशु, पक्षी, देव और नारकी लेना चाहिये, क्यों कि इन सबके पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

शंका—पहले इन्द्रियोंके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इस प्रकार दो भेद कर आये हैं सो यहाँ यह संख्या किसकी अपेक्षा से बतलाई है?

समाधान—यह संख्या इन्द्रिय सामान्य की अपेक्षा से बतलाई है। उसमें भी भावेन्द्रिय मुख्य है, क्योंकि एक तो विग्रहगति में भावेन्द्रियाँ ही पाई जाती हैं और दूसरे द्रव्येन्द्रियाँ भावेन्द्रियों के अनुसार होती हैं।

शंका—द्रव्येन्द्रियाँ भावेन्द्रियों के अनुसार क्यों होती हैं?

समाधन—भावेन्द्रियाँ जाति नामकर्म के अनुसार होती हैं और जो जीव जिस जाति में जन्म लेता है उसके उसी जाति के शरीर और आंगोपांग प्राप्त होते हैं, इससे निश्चित होता है कि द्रव्येन्द्रियाँ भावेन्द्रियों के अनुसार होती हैं।

शंका—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मनुष्यों के भावेन्द्रियाँ तो नहीं रहतीं तब भी वे वहाँ पंचेन्द्रिय कहे जाते हैं, इससे ज्ञात होता है कि एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि व्यवहार द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा से होता है?

समाधान—वास्तव में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि व्यवहार एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति आदि नामकर्म के उदय से होता है। तेरहवें और चौदहवें गुण स्थान में मनुष्यों में जो पञ्चेन्द्रिय व्यवहार होता है वह भी पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय की अपेक्षा से होता है। इस लिये एकेन्द्रिय आदि व्यवहार द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा से होता है यह बात नहीं है। तथापि जाति नामकर्म के उदयका अन्वय मुख्यतया भावेन्द्रियों के साथ पाया जाता है इस लिये पहले एकन्द्रिय आदि व्यवहार को भावेन्द्रियों की अपेक्षा से लिखा है॥ २३॥

पृथिवीकायिक से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के तो संज्ञा होती ही नहीं, पञ्चेन्द्रियों के होती है पर सबके नहीं। नारकी, मनुष्य और देव ये तो पञ्चेन्द्रिय ही होते हैं तथा संज्ञा भी इन सबके पाई जाती है। अब रहे तिर्यञ्च सो इनमें चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंचों के तो संज्ञा होती ही नहीं। इनके सिवा जो पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं वे दो प्रकार के हैं कुछ संज्ञावाले और कुछ संज्ञा रहित। इस प्रकार पञ्चेन्द्रियों में सब नारकी, सब मनुष्य और सब देव ये नियम से संज्ञावाले हैं किन्तु तिर्यञ्चों में कुछ संज्ञावाले हैं और कुछ संज्ञा रहित हैं।

शंका—किसके संज्ञा है और किसके नहीं यह कैसे जाना जाता है?

समाधान—जिनके मन होता है उनके संज्ञा होती है और जिनके मन नहीं होता उनके संज्ञा भी नहीं होती।

शंका—जो जीव मनवाले नहीं हैं आहार आदि की संज्ञा तो उनके भी पाई जाती है, इस लिये यह कहना नहीं बनता कि जिनके मन होता है उनके ही संज्ञा होती है?

समाधान—यहाँ संज्ञा से आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप वृत्ति नहीं ली है यह तो कमी अधिक एकेन्द्रिय आदि सब संसारी जीवों के पाई जाती है। किन्तु यहाँ संज्ञा से वह विचारधारा ली है जिससे जीव को हिताहित का विवेक और गुणदोष के विचार की स्फूर्ति मिलती है। इस प्रकार की संज्ञा मनवाले जीवों के ही पाई जाती है इसीलिये यहाँ संज्ञा और मनका साहचर्य सम्बन्ध बतलाया है।

शंका—हितकी प्राप्ति और अहित का त्याग तो चींटी आदि के भी देखा जाता है इस लिये मनवाले जीवों को ही संज्ञी कहना नहीं बनता?

समाधान—हित की प्राप्ति और अहित का त्याग केवल मनका कार्य नहीं। मनका कार्य तो विचार करना है जो चींटी आदि के नहीं

पाया जाता। यहाँ संज्ञा का यही अर्थ लिया है जो मनवाले जीवों के ही सम्भव है इस लिये मनवाले जीवों को ही संज्ञी कहा है॥ २४॥

अन्तराल गतिसम्बन्धी विशेष जानकारी के लिये योग आदि विशेष बातों का वर्णन—

विग्रहगतौ कर्मयोगः॥ २५॥

अनुश्रेणि गतिः॥ २६॥

अविग्रहा जीवस्य† ॥ २७॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः॥ २८॥

एकसमयाऽविग्रहा॥ २९॥

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः‡ ॥ ३०॥

विग्रहगति में कार्मण काययोग होता है।

गति आकाश को श्रेणि के अनुसार होती है।

मुक्त जीवकी गति विग्रहरहित होती है।

संसारी जीवकी गति विग्रहवाली और विग्रहरहित होती है। उसमें विग्रहवाली गति चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती है।

एक समयवाली गति विग्रहरहित होती है।

एक, दो या तीन समय तक जीव अनाहारक होता है।

संसार जीव और पुद्गल के मेल से बना है। प्रति समय जीव नवीन परमाणुओंका ग्रहण करता है और जीर्ण परमाणुओं को छोड़ता रहता है। यह परमाणुओं को ग्रहण करने की क्रिया योग के निमित्त से होती है जिससे जीव हलन चलन-रूप क्रिया करने में समर्थ होता है। योग के तीन भेद हैं—मनोयोग,

योग के भेद

† श्वेताम्बर पाठ 'एक समयोऽविग्रहः' है।

‡ श्वेताम्बर पाठ 'एकं द्वौ वाऽनाहारकः' है।

वचनयोग और काययोग। इनमें से मनोयोग और वचनयोग क्रम से मनः पर्याप्ति और वचनपर्याप्ति के पूर्ण होने पर ही होते हैं। काययोग के सात भेद हैं—औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग। इनमें से औदारिक काययोग, वैक्रियिक काययोग और आहारक काययोग ये तीन योग भी पर्याप्त अवस्था में ही सम्भव हैं। औदारिक मिश्रकाययोग वैक्रियिक मिश्रकाययोग और आहारक मिश्रकाययोग ये तीनों अपने अपने शरीर ग्रहण के पहले समय से लेकर जब तक जीव अपर्याप्त रहता है तब तक होते हैं। इसमें भी औदारिक मिश्र काययोग केवली जिनके कपाट समुद्धात के दोनों समयों में भी होता है। कार्मण काययोग विग्रहगति में और केवली जिनके प्रतर समुद्धात के दोनों समयों में और लोकपूरण समुद्घात के समय में होता है। यहां जब जीव पूर्व शरीर का त्याग करके न्यूतन शरीर को ग्रहण करने के लिये गति करता है किन्तु यदि वह गति मोड़ेवाली होती है तो वहां जीव की परिस्पन्दरूप क्रिया में कौन सी वर्गणाएं निमित्त पड़ती हैं यह प्रश्न है। पूर्व शरीर का त्याग हो जाने से उसके निमित्त से प्राप्त होनेवाली वर्गणाएं तो निमित्तरूप हो नहीं सकतीं, क्योंकि उस समय उनका सद्भाव नहीं। भाषावर्गणाएं और मनोवर्गणाएं भी निमित्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि उस समय उनका ग्रहण नहीं होता। हां अन्तराल में कार्मण शरीर भी रहता है और कार्मणवर्गणाओं का ग्रहण भी होता है, इसलिये वहाँ जीव के आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द में कार्मणवर्गणाएं निमित्तरूप होती हैं ऐसा जानना चाहिये।

शंका—क्या यह सही है कि जो जीव ऋजुगति से जन्मता है वह पूर्व शरीरजन्य वेग से न्यूतन शरीर को प्राप्त होता है?

समाधान—नहीं।

शंका—तो फिर जो जीव ऋजुगति से न्यूतन शरीर को ग्रहण करता है उसके मध्य में कौन सा योग होता है ?

समाधान—ऐसा जीव पूर्व शरीर के त्याग के बाद अनन्तर समय में शरीर को ग्रहण कर लेता है इसलिये इसके जिस न्यूतन शरीर का ग्रहण होता है वही योग होता है किन्तु वह कार्मण वर्गणाओं के निमित्त से आत्मा में हलन चलन क्रिया पैदा करता है इसलिये उसे मिश्रसंज्ञा प्राप्त होती है। अर्थात् ऐसे जीव के या तो औदारिक मिश्र काययोग या वैक्रियिक मिश्र काययोग होता है ॥ २५ ॥

जीव और पुद्गल ये दो ही पदार्थ गतिशील हैं। इन दोनों में गमन-क्रिया की शक्ति है। निमित्त मिलने पर ये गमन करने लगते हैं।

गति का नियम

यद्यपि सब संसारी जीवों की और विविध पुद्गलों की गति का कोई नियम नहीं है। उनकी वक्र, चक्राकार या सरल हर प्रकार की गति होती रहती है। पर जो जीव एक पर्याय को त्याग कर दूसरी पर्याय को प्राप्त होने के लिये गमन करता है उसकी गति और पुद्गलों की लोकान्त प्रापिणी गति सरल ही होती है। सरल गति का यह मतलब है कि उक्त जीव या पुद्गल आकाश के जिन प्रदेशों पर स्थित हों, वहां से गति करते हुए वे उन्हीं प्रदेशों की सरल रेखा के अनुसार ऊपर नीचे या तिरछे गमन करते हैं। इसी को अनुश्रेणि गति कहते हैं। श्रेणि पंक्ति को कहते हैं। अनु का अर्थ है अनुसार। इसलिये अनुश्रेणि गति का अर्थ हुआ पंक्ति के अनुसार गति। इस प्रकार इस सूत्र द्वारा गति क्रिया का नियम किया गया है ॥ २६ ॥

गति दो प्रकार की है ऋजु और वक्र। जिसमें प्राप्य स्थान सरल

गति के भेद व मुक्तजीव की गति

रेखा में हो वह ऋजु गति है और जिसमें पूर्व स्थान से नये स्थान को प्राप्त करने के लिये सरल रेखा का भंग करना पड़े वह वक्र गति है। ये दोनों प्रकार की गतियां जीव और पुद्गल दोनों के होती हैं यह पहले बतला आये

हैं। अब यहाँ मुक्त जीव के कौन सी गति होती है यह बतलाया है। ऐसा नियम है कि मनुष्य सदा ढाई द्वीप और दो समुद्रों में पाये जाते हैं। ढाई द्वीप के बाहर इनका गमन नहीं होता। इस लिये मुक्ति लाभ इसी क्षेत्र से करते हैं। किन्तु जब यह जीव मुक्त होता है तो ऊपर लोकाग्र में चला जाता है। जिसे सिद्ध लोक कहते हैं। यह ठीक मनुष्य लोक के बराबर है न न्यून है और न अधिक, इस लिये मनुष्य लोक में जीव जहाँ मुक्त होता है वहाँ से वह सिद्धलोक के लिये सरल रेखा में चला जाता है। इस प्रकार प्रकृत सूत्रद्वारा मुक्तजीव की गति का नियम किया गया है।

शंका—'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्र में जीव से मुच्यमान जीव लेना कि मुक्त जीव।

समाधान—कर्मों से छूटने के अनन्तर समय में जीव ऊर्ध्वगमन करता है इसलिये 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्र में जीव से मुच्यमान जीव न लेकर मुक्त जीव लेना चाहिये, क्योंकि उस समय जीव कर्मों से मुक्त रहता है ॥ २७ ॥

यों मुक्त जीवों की गति का विचार करके अब संसारी जीवों की गति का विचार करते हैं।

संसारी जीवों का उत्पत्ति स्थान सरल रेखा में भी होता है और वक्ररेखा में भी। जैसे आनुपूर्वी कर्म का उदय होता है उसके अनुसार उन्हें उत्पत्तिस्थान प्राप्त होता है। इसलिये संसारी जीवों की ऋजु गति भी होती है और विग्रहगति भी। यदि उनका उत्पत्ति स्थान सरल रेखा में होता है तो ऋजुगति होती है और यदि उत्पत्तिस्थान सरल रेखा को भंग करके होता है तो विग्रह गति होती है। ऋजुगति का दूसरा नाम इषुगति भी है। इषु बाण का नाम है। धनुष से बाण के छोड़ने पर वह सरल जाता है। इस प्रकार जो गति सरल होती है उसे इषुगति कहते हैं।

संसारी जीवों की गति

तथा विग्रहगति के पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका ये तीन भेद हैं। पाणि पर रखा हुआ मुक्ता एक मोड़ा लेकर जमीनपर गिरता है। इसी प्रकार जिसमें एक मोड़ा लेना पड़े वह पाणिमुक्ता गति है। लाङ्गल हल का नाम है। इसमें दो मोड़ा होते हैं। इसी प्रकार जिसमें दो मोड़ा लेना पड़ें वह लाङ्गलिका गति है तथा जिसमें गोमूत्र के समान अनेक अर्थात् तीन मोड़ा लेना पड़ें वह गोमूत्रिका गति है। यहाँ अनेक का अर्थ तीन लिया है, क्यों कि जीव को पूर्व शरीर का त्याग करके नवीन शरीर को प्राप्त होने में तीन से अधिक मोड़े नहीं लेने पड़ते हैं। सबसे वक्ररेखा में स्थित निष्कुट क्षेत्र बतलाया है किन्तु वहाँ उत्पन्न होने के लिये भी अधिक से अधिक तीन मोड़ ही लेने पड़ते हैं।

अन्तराल गतिका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चार समय है। ऋजुगति में एक समय, पाणिमुक्ता गति में दो समय, लाङ्गलिका गति में तीन समय और गोमूत्रिका गति में चार समय लगते हैं। आशय यह है कि मोड़ा के अनुसार समय बढ़ते जाते हैं। ऋजुगति में उत्पत्ति स्थान तक पहुँचने में एक समय लगता है और विग्रहगति में प्रत्येक मोड़ा तक पहुँचने में एक समय लगता है इसलिये यदि एक मोड़ा है तो दो समय लगते हैं। दो मोड़ा हैं तो तीन समय लगते हैं और तीन मोड़ा हैं तो चार समय लगते हैं। इससे यह फलित हुआ कि मोड़ाओं में अधिक से अधिक तीन समय लगते हैं। और जो गति मोड़ा रहित होती है उसमें एक समय लगता है॥ २८-२९॥

अनाहारक का काल

मुक्त जीव कर्म और नो कर्म से सर्वथा मुक्त होता है इस लिये वह तो आहार लेता ही नहीं, यह स्पष्ट है। किन्तु संसारी जीव प्रति समय आहार लेता है क्यों कि इसके बिना औदारिक आदि शरीर टिक नहीं सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि अन्तराल में जब इस जीव के औदारिक शरीर नहीं

रहता या वैक्रियिक शरीर नहीं रहता तब भी क्या यह जीव आहार ग्रहण करता है? इसी प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। सूत्र में बतलाया है कि एक समय, दो समय और तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है। यहाँ आहार से मतलब औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण करना है। संसारी जीव के इस प्रकार आहार ग्रहण करने की क्रिया अन्तराल गति में एक समय, दो समय या तीन समय तक बन्द रहती है। जो जीव ऋजुगति से जन्म लेते हैं वे अनाहारक नहीं होते, क्यों कि ऋजुगतिवाले जीव जिस समय में पूर्व शरीर छोड़ते हैं उस समय उस छोड़े हुए शरीर का आहार लेते हैं और उससे अनन्तर समय में नवीन शरीर का आहार लेते हैं। इनके भिन्न दो शरीरों के दो आहारों के बीच में अन्तर नहीं पड़ता, इसलिये ये अनाहारक नहीं होते। परन्तु दो समय की एक विग्रहवाली. तीन समय की दो विग्रहवाली और चार समय की तीन विग्रहवाली गतिमें अनाहारक अवस्था पाई जाती है। इन तीनों गतियों में अन्तिम समय आहार का है और शेष एक, दो और तीन समय अनाहार के हैं। दो समय की एक विग्रहवाली गति में दूसरे समय में यह जीव नवीन शरीर को ग्रहण कर लेता है इस लिये वह आहार का है किन्तु प्रथम समय में पूर्व शरीरका त्याग हो जाने से उसके भी आहार का नहीं है और नवीन शरीर का ग्रहण न होने से उसके आहारका भी नहीं है, इस लिये उस समय अनाहारक रहता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह जीव प्रथम समय में किसी भी प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं को नहीं ग्रहण करता। कार्मणवर्गणाओं का तो वहाँ भी ग्रहण होता है। पर कार्मण वर्गणाओं का समावेश आहार में नहीं है; यह इसलिये कि केवल इन्हीं वर्गणाओं को ग्रहण करते हुए जीव अधिक काल तक ठहर नहीं सकता। जब कि केवल आहार वर्गणाओं को

ग्रहण करते हुए मनुष्य जीव आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि काल तक ठहरे रहते हैं। इन्हें आहार वर्गणा यह संज्ञा भी इसी से पड़ी है। तीन समयवाली तीसरी गति में और चार समयवाली चौथी गति में इसी प्रकार जानना चाहिये। अर्थात् इन दोनों गतियों में क्रम से दो और तीन समय जीव अनाहारक रहता है और तीसरे तथा चौथे समय में आहारक हो जाता है। कारण दो समय वाली दूसरी गति में बतला आये हैं।

शंका—विग्रहगति में कार्मण काययोग तो होता ही है फिर वहाँ आहार वर्गणाओं का ग्रहण क्यों नहीं होता ?

समाधान—वहाँ औदारिक आदि शरीर नामकर्म का उदय नहीं होता और शरीर ग्रहण के निमित्त भी नहीं पाये जाते इसलिये योग के रहते हुए भी आहार वर्गणाओं का ग्रहण नहीं होता ॥ ३० ॥

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी

***सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥**

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः† ॥ ३३ ॥

देवनारकाणामुपपादः‡ ॥ ३४ ॥

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से जन्म तीन प्रकार का है।

इसकी सचित्त, शीत और संवृत; तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये नौ योनियाँ हैं।

---

* श्वेताम्बर पाठ 'सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता' ऐसा है।

† श्वेताम्बर पाठ 'जराय्वण्डपोतजानां गर्भः' ऐसा है।

‡ श्वेताम्बर पाठ 'नारकदेवानामुपपातः' ऐसा है।

जरायुज, अण्डज और पोत प्राणियों का गर्भ जन्म होता है।

शेष सबका सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

पूर्व शरीर का त्याग कर नये शरीर का ग्रहण करना जन्म है। जब जीव की भुज्यमान आयु समाप्त हो जाती है तो वह नये भव को धारण करता है जिससे उसे जन्म लेना पड़ता है।

जन्म के भेद

यहां इसी जन्म के भेद बतलाये हैं जो तीन हैं— सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद। माता पिता की अपेक्षा किये बिना उत्पत्ति स्थान में औदारिक परमाणुओं को शरीर रूप परिणमाते हुए उत्पन्न होना सम्मूर्छन जन्म है। उत्पत्ति स्थान में स्थित माता-पिता के शुक्र और शोणित को शरीर रूप से परिणमाते हुए उत्पन्न होना गर्भ जन्म है। तथा उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रियिक पुद्गलों को शरीर रूप से परिणमाते हुए उत्पन्न होना उपपाद जन्म है। इस प्रकार जन्म के भेद तीन हैं अधिक नहीं ॥ ३१ ॥

जिस आधार में जीव जन्म लेता है उसे योनि कहते हैं। यहाँ आते ही जीव न्यूतन शरीर के लिये ग्रहण किये गये पुद्गलों में अनुप्रविष्ट हो जाता है। और फिर उस शरीर की क्रमशः वृद्धि और पुष्टि होने लगती है। इस योनि के नौ भेद हैं—

योनि के भेद

सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत।

जो योनि जीव प्रदेशों से अधिष्ठित हो वह सचित्त योनि है। जो योनि जीवप्रदेशों से अधिष्ठित न हो वह अचित्त योनि है। जो योनि कुछ भाग में जीव प्रदेशों से अधिष्ठित हो और कुछ भाग में जीव प्रदेशों से अधिष्ठित न हो वह मिश्र योनि है। जिस योनि का स्पर्श शीत हो वह शीत योनि है। जिस योनि का स्पर्श उष्ण हो वह उष्ण योनि है। जिस योनि का कुछ भाग शीत हो और कुछ भाग उष्ण हो वह शीतोष्ण योनि है। जो योनि ढकी हो वह संवृत योनि है। जो

योनि खुली हो वह विवृत योनि है तथा जो योनि कुछ ढकी हो और कुछ खुली हो वह संवृतविवृत योनि है।

किस योनि में कौन जीव जन्म लेते हैं इसका खुलासा—

जीव	योनि
देव और नारकी	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच	मिश्र—सचित्ताचित्त
शेष सम्मूर्च्छन जन्म वाले अर्थात् पाँचों, स्थावर तीनों विकलत्रय, सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रियतिर्यंच और मनुष्य	त्रिविध योनि—सचित्त, अचित्त और मिश्र
देव और नारकी	शीत और उष्ण योनि
अग्निकाय	उष्ण योनि
शेष सब अर्थात् सब मनुष्य, अग्निकायके सिवा चारों स्थावरकाय, विकलत्रय, सब पंचेन्द्रिय तिर्यंच	त्रिविध योनि—शीत, उष्ण और शीतोष्ण
देव, नारकी और एकेन्द्रिय	संवृत
विकलेन्द्रिय व संमूर्च्छन	विवृत
गर्भज	मिश्र

शंका—अन्यत्र चौरासी लाख योनियाँ बतलाई हैं फिर यहाँ नौका निर्देश क्यों किया है?

समाधान—चौरासी लाख योनियाँ विस्तार से बतलाई हैं। पृथिवीकाय आदि जिस जिस कायवाले जीवों के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले जितने जितने उत्पत्ति स्थान हैं वे सब मिलाकर चौरासी लाख हो जाते हैं। यथा—नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इनकी सात सात लाख; वनस्पति की दस लाख; द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय

और चतुरिन्द्रिय इनकी दो दो लाख, देव, नारकी और तिर्यंच इनकी चार चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख योनियाँ होती हैं।

यहाँ इन्हीं के संक्षेप में विभाग करके नौ भेद बतलाये हैं।

शंका—योनि और जन्म में क्या अन्तर है?

समाधान—योनि आधार है और जन्म आधेय है। अर्थात् नया भव धारण करके जीव जहाँ उत्पन्न होता है वह योनि है और वहाँ शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना जन्म है ॥ ३२ ॥

पहले तीन प्रकार के जन्म बतला आये हैं। उनमें से कौन जन्म किन जीवों के होता है यह बतलाते हैं—

जरायुज, अण्डज और पोत प्राणियों के गर्भ जन्म होता है। देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है तथा शेष जीवों के अर्थात् पांचों स्थावरकाय, तीनों विकलेन्द्रिय तथा सम्मूर्च्छन मनुष्य और सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के सम्मूर्च्छन जन्म होता है। जो जरायु से पैदा होते हैं वे जरायुज हैं। यथा-मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बैल, बकरी आदि। जरायु एक प्रकार का जाल जैसा आवरण है जिसमें रक्त मांस भरा रहता है और उससे बच्चा लिपटा रहता है। जो अण्डे से पैदा होते हैं वे अण्डज हैं। यथा—पक्षी आदि। अण्ड रक्त और वीर्य का बना हुआ नख के समान कठिन गोल होता है। जो किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित न होकर पैदा होते ही उछलने कूदने लगते हैं वे पोत हैं। यथा नेवला आदि। ये पोत जीव न तो जरायु से लिपटे हुए पैदा होते हैं और न अण्डे से किन्तु खुले अंग पैदा होते हैं। देव और नारकियों की उत्पत्ति के लिये नियत स्थान होता है जिसे उपपाद स्थान कहते हैं। देवों की उत्पत्ति के लिये अलग से उपपाद शय्या बनी है। नारकियों की उत्पत्ति के लिये भी बिलों के ऊपर के भाग में उपपाद स्थान बने हुए हैं। तथा सम्मूर्च्छन जन्म के स्थान अनियत हैं ॥ ३३—३५ ॥

जन्म के स्वामी

पाँच शरीरों का नाम निर्देश और उनके सम्बन्ध में विशेष वर्णन—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि*॥३६॥

परम्परं सूक्ष्मम्† ॥३७॥

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥

अनन्तगुणे परे॥३९॥

अप्रतीघाते ॥४०॥

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

सर्वस्य ॥४२॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥४३॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥४४॥

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥

औपपादिकं वैक्रियिकम्‡ ॥४६॥

लब्धिप्रत्ययं च ॥४७॥

तैजसमपि [] ॥४८॥

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव () ॥४९॥

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच प्रकार के शरीर हैं।

---

* श्वेताम्बर पाठ 'वैक्रियिक' के स्थान में 'वैक्रिय' है।

† श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठ 'तेषां परम्परं सूक्ष्मम्' है।

‡ श्वेताम्बर पाठ 'वैक्रियमौपपातिकम्' ऐसा है।

[] श्वेताम्बर परम्परा में यह सूत्र नहीं है।

() श्वेताम्बर पाठ 'प्रमत्तसंयतस्यैव' के स्थान में 'चतुर्दशपूर्वधरस्यैव' है।

आगे आगे का शरीर सूक्ष्म है।

तैजस से पूर्व के तीन शरीरों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा आगे आगेका शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातगुणा है।

तथा परवर्ती दो शरीर प्रदेशों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्त-गुणे हैं।

तैजस और कार्मण दोनों शरीर प्रतीघात रहित हैं।

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं।

तथा सब संसारी जीवों के होते हैं।

एक साथ एक जीव के तैजस और कार्मण इन दो शरीरों से लेकर चार तक विकल्प से होते हैं।

अन्त का शरीर उपभोग रहित है।

प्रथम शरीर गर्भजन्म और सम्मूर्च्छन जन्म से पैदा होता है।

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से पैदा होता है।

तथा लब्धि के निमित्त से भी पैदा होता है।

तैजस शरीर भी लब्धि के निमित्त से पैदा होता है।

आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है और व्याघात रहित है तथा वह प्रमत्त-संयत मुनि के ही होता है।

जन्म के पश्चात् शरीरों का कथन किया है, क्योंकि शरीर जन्म के होने पर प्राप्त होते हैं। अथवा नूतन शरीर का सम्बन्ध ही जन्म है यह समझ कर जन्म के पश्चात् शरीरों का कथन किया है।

शरीर के भेद और उनकी व्याख्या

यदि पृथक् पृथक् गणना की जाय तो शरीर अनन्त मिलेंगे पर जाति की अपेक्षा और शरीर नामकर्म के मुख्य भेदों की अपेक्षा विचार करने पर उनके पाँच भेद प्राप्त होते हैं। इन पाँच भेदों में सब शरीरों का समावेश हो जाता है। शरीर के पाँच भेद निम्न प्रकार हैं—औदारिक, वैक्रियिक आहारक, तैजस, और कार्मण।

शरीर शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है जो प्रतिक्षण शीर्ण होता है। यद्यपि शरीर में यह गुण पाया जाता है पर जीव को संसार में रखने का यह मूल आधार है। जब तक जीव का इसके साथ सम्बन्ध है तब तक संसार है यह शरीर सामान्य का अर्थ है। औदारिक आदि शरीरों का अर्थ निम्न प्रकार है—

उदार का अर्थ महान् या बड़ा है। प्रकृत में इसका अर्थ स्थूल है। जो सब शरीरों में स्थूल है वह औदारिक शरीर है। जो शरीर कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी एक, कभी अनेक, कभी हलका और कभी भारी आदि अनेक रूप हो सके वह वैक्रियिक शरीर है। जिसका मुख्य काम सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय कराना है वह आहारक शरीर है। यह अकृत्रिम जिन मन्दिरों की वन्दना और वैराग्य आदि कल्याणकों के निमित्त से भी पैदा होता है। तेजोमय शुक्ल प्रभावाला तैजस शरीर*

---

* वैज्ञानिकों के आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिये जो विविध प्रयोग चालू हैं तैजस शरीर की सिद्धि तो उनसे भी होती है। 'जयाजी प्रताप' के १७ जून १९३७ के अंक में आफ्रिका के एक विख्यात डाक्टर और एक इञ्जीनियर का साइटिस्ट्स सीक दी सोल नामक एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने अपने प्रयोग दिये हैं जिससे हम तैजस (विद्युत) शरीर की सिद्धि के सन्निकट पहुँच जाते हैं।

इसके लिये सर्व प्रथम उन्होंने यंत्र की सहायता से पशुओं की शक्ति का परिमाण निकाला। उनके इस प्रयोग का निष्कर्ष यह निकला कि 'प्रत्येक प्राणी में एक निश्चित परिमाण में शक्ति (विद्युत्) होती है। मृत्यु के समय यह शक्ति निकल जाती है। अधिक बुद्धिमान प्राणियों में यह शक्ति अधिक परिमाण में रहती है। विद्युत का परिमाण जीवन भर ध्रुव रहता है। मनुष्य में विद्युत शक्ति का परिमाण ५०० वोल्ट रहता है।' यह एक प्रयोग का फल है। बहुत सम्भव है कि इससे आगे चलकर स्पष्टतः तैजस शरीर की सिद्धि हो जाय।

है। इसके दो भेद हैं नहीं निकलनेवाला और निकलनेवाला। नहीं निकलनेवाला तैजस शरीर औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के भीतर स्थित रहता है जिससे शरीर कान्तिमान् रहता है। तथा निकलनेवाला तैजस शरीर उग्र चारित्रवाले मुनि के क्रोध होने पर होता है। यह शरीर से बाहर निकल कर बारह योजन तक के पदार्थों को भस्म कर देता है या इतने क्षेत्र के भीतर के प्राणियों का अनुग्रह करनेवाला होता है। सब कर्मों का समूह ही कार्मण शरीर है। सब कर्मों के समूह को कार्मण शरीर संज्ञा कार्मण शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त होती है ॥ ३६ ॥

उक्त पाँचों शरीरों में औदारिक शरीर सब से अधिक स्थूल है। यद्यपि सूक्ष्म एकेन्द्रियों का शरीर सूक्ष्म कहलाता है पर इसमें सूक्ष्म नामकर्म के उदय से सूक्ष्मता आती है वैसे तो यह भी वैक्रियिक शरीर से स्थूल ही है। वैक्रियिक शरीर इससे सूक्ष्म है, आहारक शरीर वैक्रियिक शरीर से सूक्ष्म है। इसी प्रकार तैजस आहारक से और कार्मण तैजस से सूक्ष्म हैं। शरीरों में यह जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मता बतलाई है वह इन्द्रिय अग्राह्यत्व या अप्रतीघातपने की अपेक्षा से जानना चाहिये। परिमाण की अपेक्षा नहीं, क्यों कि परिमाण की अपेक्षा पाँचों शरीर उत्तरोत्तर अधिक हैं ॥ ३७ ॥

शरीरों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता

यद्यपि ये पाँचों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं तथापि जिस द्रव्य से ये बनते हैं वह उत्तरोत्तर अधिक होता है। पर यह कितना अधिक होता है इसी बात को दो सूत्रों में बतलाया है।

उक्त पाँच शरीरों के द्रव्य का परिमाण

जिन परमाणुओं के पुञ्ज से ये औदारिक आदि पांच शरीर बनते हैं वे यद्यपि अनन्त हैं तथापि औदारिक शरीर के परमाणुओं से वैक्रियिक शरीर के परमाणु और वैक्रियिक शरीर के परमा-

णुओं से आहारक शरीर के परमाणु असंख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार आगे भी आहारक शरीर के परमाणुओं से तैजस शरीर के परमाणु और तैजस शरीर के परमाणुओं से कार्मण शरीर के परमाणु अनन्त-गुणे हैं। इस प्रकार यद्यपि उत्तर-उत्तर शरीर के परमाणु अधिक अधिक हैं तथापि परिणमन की विचित्रता के कारण वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्म हैं।

शंका—जब कि प्रत्येक शरीर के परमाणु अनन्त हैं तो फिर वे न्यूनाधिक कैसे हो सकते हैं?

समाधान—जैसे दो को भी संख्यात कहते हैं, चार को भी संख्यात कहते हैं इस प्रकार संख्यात के संख्यात विकल्प हैं उसी प्रकार अनन्त यह सामान्य संज्ञा होने से उसके अनन्त विकल्प हैं, इसलिये प्रत्येक शरीर के परमाणु अनन्त होते हुए भी उनके न्यूनाधिक होने में कोई आपत्ति नहीं है॥ ३८, ३९॥

उक्त पांचों शरीरों में से अन्त के दो शरीरोंमें कुछ विशेषता है, जो तीन बातों के द्वारा क्रमशः तीन सूत्रों में बतलाई गई है—

अन्तिम दो शरीरों का स्वभाव

प्रतिघात का अर्थ रुकावट है। जिसमें यह रुकावट न पाई जाय वह पदार्थ अप्रतीघात होता है। अन्त के दो शरीरों का स्वभाव इसी प्रकार का है इसलिये उन्हें अप्रतीघात कहा है। इन दोनों शरीरों का समस्त लोक में कहीं भी प्रतीघात नहीं होता, वज्र जैसी कठिन और सघन वस्तु भी इन्हें नहीं रोक सकती। यद्यपि एक मूर्त पदार्थ का दूसरे मूर्त पदार्थ के साथ प्रतीघात देखा जाता है तथापि यह नियम स्थूल पदार्थों में ही दिखाई देता है सूक्ष्म में नहीं। सूक्ष्म पदार्थ की तो सर्वत्र अप्रतीघातगति है।

शंका—अप्रतीघात गुण वैक्रियिक और आहारक शरीर में भी पाया जाता है फिर उनका यहाँ उल्लेख क्यों नहीं किया?

समाधान—यहां सब लोक में अप्रतीघात बतलाना इष्ट है, इसलिये वैक्रियिक और आहारक शरीर का ग्रहण नहीं किया। माना कि वे दोनों शरीर प्रतीघात रहित हैं पर उनका यह गुण विवक्षित स्थान में ही सम्भव है।

शंका—वैक्रियिक और आहारक शरीर के रहते हुए बादर नाम कर्म का उदय अवश्य होता है, फिर इन्हें अप्रतीघात क्यों कहा?

समाधान—बादर और सूक्ष्म का अर्थ है जो आधार से रहें वे बादर और जो बिना आधार के रहें वे सूक्ष्म। यह दूसरी बात है कि सूक्ष्म प्रतीघात से रहित ही होते हैं किन्तु इससे यह नतीजा नहीं निकलना चाहिये कि जो दूसरों को रोकें या दूसरों से रुकें वे बादर। बादर दोनों प्रकार के होते हैं कुछ प्रतीघात से रहित और कुछ सप्रतीघात। वैक्रियिक और आहारक शरीर ऐसे हैं जो, जहाँ तक उनके जाने की क्षमता है वहाँ तक, प्रतीघात से रहित हैं, इसलिये विवक्षित स्थान में इन्हें भी अप्रतीघात कहा है।

तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर आत्मा के साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं। इनके सिवा शेष तीन शरीरों की यह बात नहीं है, क्योंकि आहारक शरीर तो प्रमत्तसंयत मुनिके

काल

ही सम्भव है सो भी अन्तर्मुहूर्त के बाद वह नष्ट हो जाता है, इसलिये यह तो अनादि हो ही नहीं सकता। अब रहे दो शरीर सो वे भी कादाचित्क हैं। तिर्यंच और मनुष्य पर्याय में औदारिक शरीर होता है और देव तथा नारक पर्याय में वैक्रियिक इसलिये ये भी अनादि नहीं हो सकते। किन्तु तैजस और कार्मण शरीर एक पर्याय के बाद दूसरी पर्याय में वे ही चले जाते हैं इसलिये इन्हें अनादि कहा है।

शंका—यदि ये दोनों शरीर अनादि संबंधवाले हैं तो इनका नाश नहीं होना चाहिये, क्योंकि अनादिभावका नाश नहीं होता?

समाधान—ये दोनों शरीर प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं व्यक्ति की अपेक्षा से तो वे भी सादि हैं। उनका भी बन्ध, निर्जरा हुआ करती है। इसलिये उनका नाश मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। हाँ जो पदार्थ व्यक्तिरूप से अनादि होता है वह अवश्य अनन्त होता है, उसका कभी भी नाश नहीं होता जैसे प्रत्येक द्रव्य।

शंका—नित्य निगोदिया के औदारिक शरीर को अनादि सम्बन्ध-वाला क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—विग्रह गति में औदारिक शरीर का सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये नित्य निगोदया जीव के औदारिक शरीर को अनादि सम्बन्धवाला नहीं माना जा सकता।

स्वामी

ऐसा एक भी संसारी जीव नहीं जिसके तैजस और कार्मण शरीर न हों इसलिये इन्हें सब संसारी जीवों के बतलाया है। किन्तु तीन शरीर सब संसारी जीवों के न पाये जाकर कुछ ही जीवों के पाये जाते हैं ॥४०–४२॥

एक जीवके एक साथ लभ्य शरीरोंकी संख्या

यह तो पहले ही बतला आये हैं कि तैजस और कार्मण शरीर सब संसारी जीवों के पाये जाते हैं और शेष शरीर कादाचित्क हैं। इसलिये यह शंका होती है कि एक जीव के एक साथ कम से कम कितने और अधिक से अधिक कितने शरीर पाये जाते हैं ? प्रस्तुत सूत्र में यही बत-लाया है। एक जीव के एक साथ कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर होते हैं पाँच कभी नहीं होते। विग्रहगति में तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं, एक कभी नहीं होता, क्योंकि जब तक संसार है तब तक कम से कम उक्त दो शरीरों का सम्बन्ध अवश्य है। शरीर ग्रहण करने पर तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रियिक ये तीन शरीर होते हैं। पहला प्रकार मनुष्य और तिर्यंचों के होता है तथा दूसरा प्रकार देव और नारकियों

के होता है। तथा प्रमत्तसंयत मुनि के आहार ऋद्धि के प्रयोग के समय तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक ये चार शरीर होते हैं।

शंका—पाँच शरीर एक साथ एक जीव के क्यों नहीं होते ?

समाधान—वैक्रियिक और आहारक शरीर एक साथ नहीं पाये जाते इसलिये एक जीव के एक साथ पाँच शरीर नहीं बतलाये।

शंका—इस उत्तर से तो यह ज्ञात होता है कि वैक्रियिक शरीर का औदारिक शरीर के साथ होने में कोई विरोध नहीं, यदि ऐसा है तो फिर तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रियिक यह विकल्प और बतलाना चाहिये था ?

समाधान—वैक्रियिक शरीर दो प्रकार का है एक तो वह जो देव और नारकियों के वैक्रियिक शरीर नामकर्म के उदय से होता है और दूसरा वह जो औदारिक शरीर में विक्रिया विशेष के प्राप्त होने से होता है। किन्तु यह दूसरे प्रकार का वैक्रियिक शरीर औदारिक शरीर से भिन्न नहीं होता। यही सबब है कि प्रकृत में तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रियिक यह विकल्प नहीं बतलाया ॥४३॥

उपभोग विचार

इन्द्रियों द्वारा शब्दादि रूप अपने-अपने विषयों को ग्रहण करना उपभोग कहलाता है। उठना, बैठना, खाना, पीना, दान देना यह सब इसी में सम्मिलित है। यह कार्य औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर इनमें से किसी एक के रहते हुए बन सकता है। केवल कार्मण और तैजस शरीर के रहते हुए नहीं, क्योंकि यद्यपि विग्रहगति में दोनों शरीर रहते हैं और भावेन्द्रियां भी, फिर भी वहाँ इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण नहीं होता इसलिये कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा है। इससे यह अर्थ अपने आप निकल आता है कि शेष तीन शरीर सोपभोग हैं।

शंका—पूर्वोक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि तैजस शरीर भी निरुपभोग है फिर उसका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया ?

समाधान—पांच शरीरों में तैजस के सिवा शेष चार शरीर योग अर्थात् क्रिया के साधन हैं। उसमें भी किसके रहने पर इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करती हैं और किसके न रहने पर इन्द्रियां विषयों को ग्रहण नहीं करतीं अर्थात् आभ्यन्तर योग क्रिया के सिवा बाह्य प्रवृत्ति निवृत्ति में कौन शरीर सहायक हैं और कौन नहीं यह यहां प्रश्न है। इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। यतः तैजस शरीर किसी भी प्रकार की क्रिया का साधन नहीं, अतः वह निरुपभोग है कि सोपभोग यह प्रश्न ही नहीं उठता। क्रिया का साधन होते हुए कौन शरीर निरुपभोग है और कौन शरीर सोपभोग इसका निर्णय करना यहां मुख्य है। और इसी दृष्टि से अन्तिम शरीर को निरुपभोग बतलाया है।

शंका—जो लब्धिनिमित्तक तैजस शरीर होता है वह तो क्रिया करते हुए पाया जाता है। यदि क्रोधित साधु के यह पैदा होता है तो बाहर निकल कर दाह्य को भस्मसात् कर देता है और यदि अनुग्रह के निमित्त से किसी साधु के यह पैदा होता है तो मारी रोग आदि के शान्त करने का निमित्त बन जाता है, इसलिये 'तैजस शरीर के निमित्त से उपभोग नहीं होता है' यह कहना नहीं बनता है ?

समाधान—सच बात तो यह है कि तैजस शरीर को ऐसा मान कर भी उसे योग का निमित्त नहीं माना है, इसलिये उपभोग प्रकरण में उसका विचार करना ही व्यर्थ है। दूसरे इस प्रकार यद्यपि तैजस शरीर में क्रिया मान भी ली जाय तो भी उससे विषयों का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उसमें द्रव्येन्द्रियों की रचना नहीं होती, इसलिये वह सोपभोग तो माना ही नहीं जा सकता ॥ ४४ ॥

जन्मसिद्धता और नैमित्तिकता

अब यह देखना है कि कितने शरीर जन्म से होते हैं और कितने निमित्त विशेष के मिलने पर होते हैं। आगे के पांच सूत्रों में इसी बात का विचार किया गया है।

तैजस और कार्मण शरीर तो अनादि सम्बन्धवाले हैं इसलिये इनके विषय में तो जन्मसिद्धता और नैमित्तिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। अब रहे शेष तीन शरीर सो उनमें से औदारिक शरीर तो केवल जन्म से ही होता है जो गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से पैदा होता है तथा जिसके स्वामी मनुष्य और तिर्यंच हैं। वैक्रियिक शरीर जन्म से भी होता है और निमित्त विशेष के मिलने पर भी होता है। इनमें से जो जन्म से होता है वह उपपाद जन्म से पैदा होता है और इसके स्वामी देव और नारकी हैं। वैक्रियिक निमित्त विशेष के मिलने पर भी होता है सो यहां निमित्त विशेष से लब्धि ली गई है। प्रकृत में लब्धि का अर्थ तप से उत्पन्न हुई शक्ति विशेष है जो गर्भज मनुष्यों के ही सम्भव है। इसलिये गर्भज मनुष्य भी नैमित्तिक वैक्रियिक शरीर के स्वामी होते हैं। यद्यपि पहले अनादि सम्बन्धवाले तैजस शरीर का उल्लेख कर आये हैं। पर एक तैजस शरीर तपश्चर्या के निमित्त से उत्पन्न हुई लब्धि के निमित्त से भी होता है जिसके अधिकारी गर्भज मनुष्य ही हैं। आहारक शरीर तो नैमित्तिक ही है, क्योंकि यह आहारकऋद्धि के होने पर ही होता है।

शंका—विक्रिया तो गर्भज तिर्यंच व वायुकायिक जीवों के भी देखी जाती है?

समाधान—देखी अवश्य जाती है पर वह विक्रिया औदारिक शरीर सम्बन्धी ही है इसलिये उसका अलग से निर्देश नहीं किया।

शंका—आहारक ऋद्धि का स्वामी कौन है?

समाधान—मुनि।

शंका—तो क्या सभी गुणस्थानों में आहारक शरीर उत्पन्न होता है।

समाधान नहीं।

शंका—तो फिर किस गुणस्थान में आहारक शरीर उत्पन्न होता है?

समाधान—प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही उत्पन्न होता है और समाप्त भी इसी गुणस्थान में होता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति के जो कारण बतलाये हैं वे प्रमत्तसंयत मुनि के ही सम्भव हैं।

शंका—वे कौन से कारण हैं जिनके निमित्त से आहारक शरीर पैदा होता है ?

समाधान—एक तो जब मुनि को किसी सूक्ष्म विषय में सन्देह होता है तब उस सन्देह को दूर करने के लिये आहारक शरीर पैदा होता है। दूसरे किसी काम के लिये गमनागमन करने से असंयम की बहुलता दिखे पर उसका किया जाना आवश्यक हो तो इस निमित्त से भी आहारक शरीर उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ तीर्थंकरके दीक्षा आदि कल्याणकों में सम्मिलित होना और अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करना। यह शरीर हस्तप्रमाण होता है। उत्तम अंग अर्थात् मस्तक से पैदा होता है। शुभ कर्म का कारण होने से शुभ होता है, पुण्यकर्म का फल होने से विशुद्ध होता है और न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है इसलिये अव्याघाती होता है। प्रमत्तसंयत मुनि ऐसे शरीर से दूसरे क्षेत्र में जाकर और शंका का निवारण कर या वन्दना कर फिर अपने स्थान पर आ जाते हैं। इसमें अन्तर्मुहूर्त काल लगता है॥ ४५-४९॥

वेदों के स्वामी—

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

न देवाः ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदाः* ॥ ५२ ॥

नारक और संमूर्च्छन जन्मवाले जीव नपुंसक ही होते हैं।

देव नपुंसक नहीं होते।

---

* श्वेताम्बर परम्परा में इसे सूत्र नहीं माना।

शेष प्राणी तीनों वेदवाले होते हैं।

वेद के तीन भेद हैं स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुन्सकवेद। जिसके होने पर जीव स्वयं अपने को दोषों से आच्छादित करे और आजू बाजू की परिस्थिति को भी दोषों से ढक दे वह स्त्री वेद है। तात्पर्य यह है कि इस वेद के होने पर प्राणी का स्वभाव प्रधानतया ओछा होता है। जिसके होने पर प्राणी का झुकाव अच्छे गुणों और अच्छे भोगों की ओर रहता है लोक में कार्य भी अच्छे करता है वह पुरुषवेद है। तात्पर्य यह है कि इस वेद के होने पर प्राणी का स्वभाव उठा हुआ होता है। जिसके होने पर प्राणी का स्वभाव स्त्री और पुरुष दोनों के समान न होकर अत्यन्त कलुषित होता है वह नपुन्सक वेद है। आगम में इन तीनों को क्रमशः कण्डे की अग्नि, तृण की अग्नि और अवा की अग्नि का दृष्टान्त दिया है। ये तीनों वेद क्रम से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद नोकषाय के उदय से होते हैं।

वेदों का स्वरूप

अन्यत्र इन तीनों वेदों का 'जो गर्भ धारण करती है वह स्त्री है, जो बच्चे को पैदा करता है वह पुरुष है और जो इन दोनों प्रकार की शक्तियों से रहित है वह नपुंसक है' इस प्रकार का व्युत्पत्यर्थ भी मिलता है पर यह द्रव्य वेदकी अपेक्षा से किया गया जानना चाहिये। इन तीनों वेदों का आगमिक अर्थ तो वही है जो ऊपर दिया जा चुका है।

व्युत्पत्यर्थ

उक्त तीनों वेद भाववेद हैं, क्योंकि वे वेद नोकषाय के उदय से होनेवाले आत्माके परिणाम हैं। इनके अतिरिक्त द्रव्य स्त्रीवेद, द्रव्य-पुरुषवेद और द्रव्य नपुंसकवेद ये तीन भी होते हैं। ये तीनों द्रव्यवेद आंगोपांग नामकर्म के उदय से होते हैं। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में इनका उल्लेख चिन्हस्त्री, चिन्हपुरुष और चिन्हनपुंसक रूप से मिलता है। जिस चिन्ह से द्रव्य स्त्री की

वेदों के भेद

पहिचान होती है वह द्रव्य स्त्रीवेद है। जिससे द्रव्य पुरुषकी पहिचान होती है वह द्रव्य पुरुषवेद है। और जिसके शरीर के चिन्ह न तो स्त्री रूप होते हैं और न पुरुष रूप ही किन्तु मिले हुए मिश्र प्रकार के होते हैं वह द्रव्य नपुंसक है।

काल

उक्त तीनों वेदों का काल न्यूतन पर्याय के प्रथम समय से लेकर उस पर्याय के अन्तिम समय तक बतलाया है। अर्थात् एक पर्याय में वेद नहीं बदलता है। इससे कुछ भाई इसे द्रव्यवेद का काल मान कर द्रव्यवेद और भाववेद का साम्य सिद्ध करते हैं। किन्तु ऐसे अनेक प्रमाण पाये जाते हैं जिनसे एक पर्याय में द्रव्यवेद का बदलना सिद्ध होता है।

विभाग

नारक और सम्मूर्छिन जीवों के नपुंसक वेद होता है। देवों के नपुंसक वेद नहीं होता शेष दो वेद होते हैं। शेष जीवों के अर्थात् गर्भज मनुष्यों तथा तिर्यंचों के तीनों वेद होते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि पहले जो द्रव्यवेद और भाववेद की चर्चा की है सो कर्मभूमि में गर्भज मनुष्यों और तिर्यंचों में इनका वैषम्य भी होता है॥ ५०-५२॥

आयुष के प्रकार और उनके स्वामी

*** औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥**

औपपादिक (देव और नारक) चरमोत्तम शरीरी और असंख्यात वर्षजीवी ये अनपवर्त्य आयुवाले ही होते हैं।

अधिकतर प्राणियों का विष, श्वासोच्छ्वास का अवरोध, रोग आदि के निमित्त से अकाल में मरण देख कर यह प्रश्न होता है कि क्या अकाल मरण होता है? यदि अकाल मरण होता है यह मान लिया जाय तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि जितने भी संसारी प्राणी हैं उन सबका अकाल मरण होता है या सबका न हो कर कुछ का ही

* श्वेताम्बर पाठ 'औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसं–' आदि है।

होता है? इन्हीं दो प्रश्नों का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। यद्यपि सूत्र में केवल इतना ही बतलाया है कि किन किन जीवों का अकाल मरण नहीं होता, पर इससे उक्त दोनों प्रश्नों का उत्तर हो जाता है।

कर्मशास्त्र के नियमानुसार भुज्यमान आयु का उत्कर्षण नहीं हो सकता, क्यों कि उत्कर्षण बन्धकाल में ही होता है। उदाहरणार्थ—किसी मनुष्य या तिर्यंचने प्रथम त्रिभाग में नरकायु का एक लाख वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध किया। अब यदि वह दूसरे त्रिभाग में नरकायुका दस लाख वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध करता है तो उस समय वह प्रथम त्रिभाग में बाँधी हुई स्थितिका उत्कर्षण कर सकता है। उत्कर्षण का यह सामान्य नियम सब कर्मों पर लागू होता है।

भुज्यमान आयु का बन्ध उसी पर्याय में होता नहीं, अत: उसका उत्कर्षण नहीं होता यह व्यवस्था तो निरपवाद बन जाती है। किन्तु अपकर्षण के लिये बन्धकाल का ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह कुछ अपवादों को छोड़ कर कभी भी हो सकता है। जिस पर्याय में आयु का बन्ध किया है उस पर्याय में भी हो सकता है और जिस पर्याय में उसे भोग रहे हैं उस पर्याय में भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—किसी मनुष्य ने तिर्यंचायुका पूर्व कोटि वर्षप्रमाण स्थिति बन्ध किया। अब यदि उसे स्थितिघात के अनुकूल सामग्री जिस पर्याय में आयु का बन्ध किया है उसी पर्याय में ही मिल जाती है तो उसी पर्याय में वह आयुकर्म का स्थितिघात कर सकता है और यदि जिस पर्याय में आयु को भोग रहा है उसमें स्थितिघात के अनुकूल सामग्री मिलती है तो उस पर्याय में आयु कर्म का स्थितिघात कर सकता है। स्थितिघात होने से आयु कम हो जाती है।

अपकर्षण के इस नियम के अनुसार सब जीवों की भुज्यमान आयु कम हो सकती है यह सामान्य नियम है। इस नियम के अनुसार सूत्र में निर्दिष्ट जीवों की भुज्यमान आयु कम हो सकती है।

किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः इसी बात के बतलाने के लिये इस सूत्र की रचना हुई है।

इसमें बतलाया है कि उपपाद जन्म से पैदा होनेवाले देव, नारकी व चरमशरीरी और भोगभूमिया जीवों की आयु नहीं घटती। ये जीव भुज्यमान आयु का स्थिति घात नहीं करते यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि इनके सिवा सब जीवों की आयु कम हो सकती है।

शंका—यदि उक्त जीवों के आयुकर्म का स्थिति घात नहीं होता तो न सही पर क्या इससे यह समझा जाय कि इनके आयु कर्म का अपकर्षण भी नहीं होता?

समाधान—इनके आयुकर्म का अपकर्षण तो होता है पर उसका स्थिति घात नहीं होता।

शंका—अपकर्षण तो हो पर स्थिति घात न हो यह कैसे हो सकता है?

समाधान—अपकर्षण दो प्रकार का होता है। एक तो स्थिति का घात हुए बिना मात्र कुछ कर्म परमाणुओं का होता है। इससे कर्म-स्थिति के निषेक यथावत् बने रहते हैं। और दूसरा ऐसा होता है जिससे कर्मस्थिति का क्रम से घात हो जाता है। इसी को स्थिति घात कहते हैं। इन दोनों प्रकार के अपकर्षणों में से उक्त जीवों के आयुकर्म का प्रथम प्रकार का ही अपकर्षण होता है, अतः उनके आयुकर्म का अपकर्षण हो कर भी आयु कम नहीं होती।

शंका—एक ऐसा नियम है कि उदयागत कर्म परमाणुओं का अपकर्षण होने पर उनका निक्षेप उदयावलि में भी होता है जिसे कि उदीरणा कहते हैं। इस नियम के अनुसार उक्त जीवों के भी आयुकर्म की उदीरणा प्राप्त होती है?

समाधान—अवश्य। पर यह उदीरणा स्थिति घात पूर्वक नहीं होती, इसलिये ऐसी उदीरणा के होने पर भी उक्त जीवों की आयु अनपवर्त्य ही बनी रहती है।

शंका—यदि इन जीवों के आयुकर्म को निकाचित बन्धवाला माना जाय तो क्या हानि है?

समाधान—इन जीवों का आयुकर्म निकाचित बन्धवाला भी हो सकता है और अनिकाचित बन्धवाला भी। यदि निकाचित बन्धवाला होगा तो पूर्वोक्त प्रकार से न अपकर्षण ही होगा और न उदीरणा ही। और यदि अनिकाचित बन्धवाला होगा तो पूर्वोक्त प्रकार से अपकर्षण और उदीरणा दोनों बन जायेंगे। हर हालत में आयु अनपवर्त्य ही रहेगी इतना विशेष है।

शंका—इन जीवों की भुज्यमान आयु किस प्रकार अनपवर्त्य है यह तो समझ में आया पर जिस पर्याय में इस आयु का बन्ध होता है उस पर्याय में भी क्या यह अनपवर्त्य रहती है?

समाधान—यहाँ भुज्यमान आयु के विषय में व्यवस्था दी गई है बध्यमान आयु के विषय में नहीं। इसलिये उक्त जीवों की बध्यमान आयु घट भी सकती है और बढ़ भी सकती है पर जब उसे देव, नारक, चरमशरीरी और भोगभूमिया पर्याय में आकर भोगने लगते हैं तब उसका बढ़ना तो सम्भव है ही नहीं। घटना सम्भव है, अतः इस सूत्र द्वारा इसी बात का निषेध किया गया है। इस द्वारा यह बतलाया गया है कि निमित्त की प्रमुखता से जैसे अन्य जीवों की आयु घट जाती है उस प्रकार इन जीवों की आयु नहीं घट सकती।

सूत्र में 'उत्तम' शब्द 'चरम' शब्द के विशेषणरूप से आया है। जिससे यह ज्ञात होता है कि तद्भव मोक्षगामी जीवों का शरीर उत्तम ही होता है। यदि उत्तम पद न रहे तो भी काम चल जाता है ॥५३॥

तीसरा अध्याय

दूसरे अध्याय में औदयिक भावों के इक्कीस भेद गिनाते हुए गति की अपेक्षा संसारी जीवों के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार भेद गिनाये हैं। यहाँ तीसरे और चौथे अध्याय में उनका विशेष वर्णन करना है। तीसरे अध्याय में नारक, तिर्यंच और मनुष्यों का वर्णन है और चौथे में मुख्यतया देवों का।

नारकों का वर्णन

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः† ॥ १ ॥

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्‡ ॥ २ ॥

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियां हैं जो घनाम्बु, वात और आकाश के आधार से स्थित हैं तथा एक दूसरे के नीचे हैं।

(†) श्वेताम्बर पाठ 'सप्ताधोऽधः' के आगे 'पृथुतराः' और है।

(‡) श्वेताम्बर पाठ 'तासु त्रिंशत्' इत्यादि सूत्र के स्थान में केवल 'तासु नरकाः' इतना है। तथा इससे आगे के सूत्र में 'नारका' इतना पाठ नहीं है।

उन भूमियों में क्रमशः तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और केवल पांच नारक हैं।

नारक निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रियावाले होते हैं।

तथा परस्पर उत्पन्न किये गये दुःखवाले होते हैं।

और चौथी भूमि से पहले अर्थात् तीन भूमियों तक संक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गये दुःखवाले भी होते हैं।

उन नरकों में रहनेवाले जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाइस और तेतीस सागरोपम है।

लोक का विचार

अलोकाकाश के बीचों-बीच लोकाकाश है। जो अकृत्रिम, अनादिनिधन, स्वभाव से निर्मित और छह द्रव्यों से व्याप्त है। यह उत्तर दक्षिण सर्वत्र सात राजु लम्बा है। पूर्व पश्चिम नीचे सात राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओर से घटते-घटते सात राजु की ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओर बढ़ते-बढ़ते साढ़े दस राजु की ऊँचाई पर पाँच राजु चौड़ा है। फिर दोनों ओर घटते-घटते चौदह राजु की ऊँचाई पर एक राजु चौड़ा है। पूर्व पश्चिम की ओर से देखने पर लोक का आकार कटि पर दोनों हाथ रखकर और पैरों को फैला कर खड़े हुए मनुष्य के समान प्राप्त होता है। जिससे अधोभाग वेत की आसन के समान, मध्य भाग झालर के समान और ऊर्ध्व भाग मृदंग के समान दिखाई देता है।

यह लोक तीन भागों में बटा हुआ है—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। मध्यलोक के बीचोंबीच मेरु पर्वत है जो एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। उसके नीचे का भाग अधोलोक, ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक और बराबर रेखा में तिरछा फैला हुआ मध्यलोक कहलाता है। मध्यलोकका तिरछा विस्तार अधिक है इसलिये इसे तिर्यग्लोक भी कहते हैं।

उक्त कथन के अनुसार लोक का जो आकार प्राप्त होता है वह इस प्रकार है—
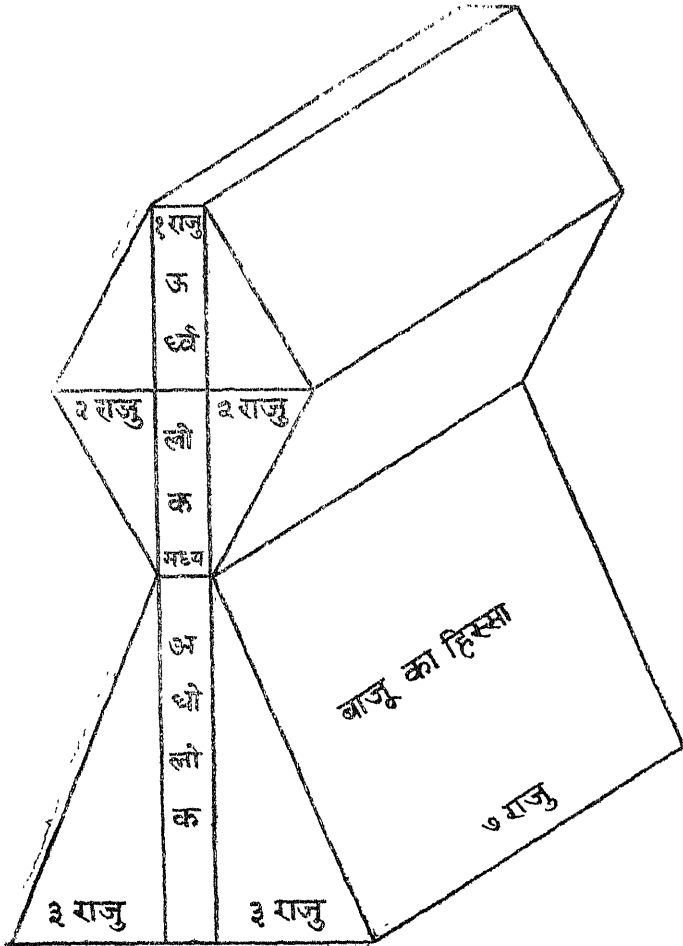
यह सामान्य लोक का चित्र है। इसके बीचोंबीच एक राजु लम्बी व चौड़ी और चौदह राजु ऊँची त्रसनाली है। कुछ अपवादों को छोड़कर त्रस जीव केवल इसी में पाये जाते हैं इसलिये इसे त्रसनाली कहते हैं।

अधोलोक का चित्र इस प्रकार है। बीच में खड़ी लकीर इसके दो भाग करने के लिये दी गई है—
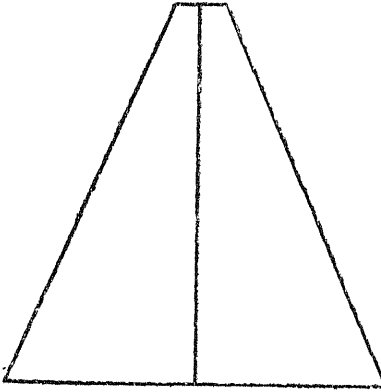
इसमें उत्तर दक्षिण की बाजू नहीं दिखाई गई है, क्योंकि वह सर्वत्र सात राजु है। केवल पूर्व पश्चिम की बाजू दिखाई गई है। यह

अधोलोक विचार

नीचे सात राजु और क्रम से घटते घटते सात राजु की ऊँचाई पर एक राजु है। इसका घनफल १९६ घनराजु है। लम्बी, चौड़ी व ऊँची त्रिकोण वस्तु का घन फल लाने का क्रम यह है—

पहले मुख और भूमिको जोड़ कर इसे आधा करे। फिर ऊँचाई से गुणा करके मुटाई से गुणा करे। ऐसा करने से किसी भी कोणवाली वस्तु का घनफल आ जाता है।

चूंकि अधोलोक का मुख एक राजु और भूमि सात राजु है अतः इसका जोड़ आठ हुआ। फिर इसे आधा करके क्रमसे ऊँचाई व व मुटाई सात सात राजु से गुणा करने पर १९६ घनराजु आ जाते हैं। यह अधोलोक का घन फल है।

समीकरण विधि

जैसा कि ऊपर निर्देश कर आये हैं तदनुसार अधोलोक के चित्र में जहाँ बीच में खड़ी लकीर दी है वहां से इसके दो भाग करके दोनों भागों को उलट कर मिलाने पर उसका चित्र इस प्रकार प्राप्त होता है—
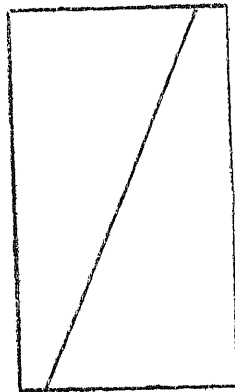
यह चार राजु चौड़ा, सात राजु ऊँचा और सात राजु मोटा है। चित्र में मुटाई नहीं दिखाई गई है केवल चौड़ाई और ऊंचाई दिखाई गई है। इस आकार में प्राप्त वस्तु की ऊंचाई या लम्बाई, चौड़ाई और

मुटाई के परस्पर गुणा कर देने से ही उसका घनफल आ जाता है। चूंकि इसकी ऊँचाई और मुटाई सात सात राजु और चौड़ाई चार राजु है, अतः इनके परस्पर गुणा करने से १९६ घनराजु प्राप्त होते हैं। अधोलोक का घनफल भी इतना ही है।

ऊर्ध्व लोक का आकार इस प्रकार है। इसके मध्य में दोनों बाजुओं की ओर खड़ी हुई दो लकीरें समीकरण करने के लिये दी हैं।
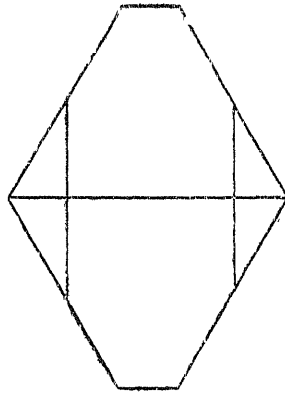
इसमें भी पूर्व पश्चिम की बाजू दिखाई गई है उत्तर दक्षिण की बाजू नहीं दिखाई गई है। यह मध्य में पाँच राजु और नीचे व ऊपर एक एक राजु है अतः मध्य से इसके दो हिस्से करके दोनों का अलग अलग घनफल ला कर जोड़ देने पर ऊर्ध्व लोक का कुल घनफल आ जाता है जो १४७ घनराजु होता है। घनफल लाने का क्रम वही है जो अधोलोक का घनफल लाने के प्रसंग से दे आये हैं। यह लोक के ऊपर का हिस्सा होने से ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इससे अधोलोक लोक के नीचे का हिस्सा कहलाता है यह अपने आप फलित हो जाता है।

समीकरण विधि

अधोलोक के समान इसका भी समीकरण किया जा सकता है। किन्तु इसका आकार नीचे व ऊपर छोटा और मध्य में बड़ा है इसलिये मध्य के दोनों बाजुओं के समीकरण के अनुरूप हिस्सों को काट कर नीचे व ऊपर दोनों ओर जोड़ देने पर पूर्व व पश्चिम ऊर्ध्व लोक का आकार आयत चतुष्क प्राप्त हो जाता है। यथा—
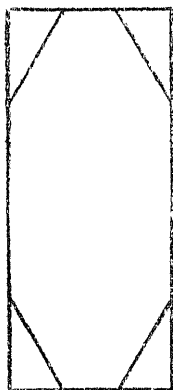
इस प्रकार समीकरण करने पर इसका प्रमाण तीन राजु चौड़ा, सात राजु ऊंचा और सात राजु मोटा प्राप्त होता है। जिसका घनफल एक सौ सैंतालीस घनराजु होता है। चित्र में मुटाई नहीं दिखाई गई है केवल चौड़ाई और ऊंचाई दिखाई गई है।

ये दोनों मिलाकर एक लोक होता है। मध्य लोक का प्रमाण ऊर्ध्व लोक के प्रमाण में ही सम्मिलित है, इसलिये यहां उसका अलग से निर्देश नहीं किया है।

अन्यत्र लोक का प्रमाण जगश्रेणि के घन प्रमाण बतलाया है सो इसका कारण यह है कि समीकरण करने पर पहले जो अधोलोक की चौड़ाई चार राजु और ऊर्ध्व लोक की चौड़ाई तीन राजु बतला आये हैं इन दोनों को संयुक्त कर देने पर सात राजु हो जाते हैं। तथा इन दोनों की ऊंचाई और मोटाई तो सात राजु है ही, इसलिये उक्त कथन बन जाता है।

समीकृत अधोलोक और ऊर्ध्वलोक को संयुक्त करने पर जो आकार प्राप्त होता है वह निम्न प्रकार है—
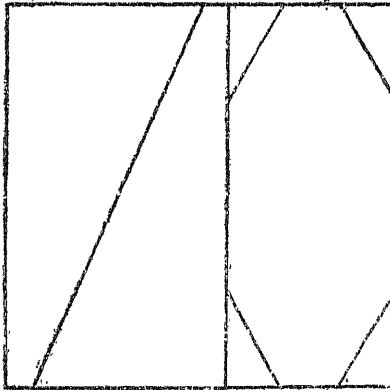
इसमें अधोलोक और ऊर्ध्वलोक मिले हुए स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं। यह चित्र नं०३ और ५ को मिलाकर बनाया गया है। इन दोनों को मिला देने पर चौड़ाई सात राजु हो जाती है। ऊंचाई और मोटाई तो इतनी है ही। किन्तु इसमें मोटाई नहीं दिखाई गई है। केवल ऊंचाई और चौड़ाई दिखाई गई है।

पहले अधोलोक का घनफल १९६ घन राजु और ऊर्ध्वलोक का

घनफल १४७ घन राजु बतला आये हैं। इन दोनों को मिलाने पर ३४३ घन राजु होते हैं। चित्र नं० ६ के अनुसार भी यह घनफल इतना ही प्राप्त होता है। इसी से लोक का प्रमाण जगश्रेणि के घन-प्रमाण बतलाया है।

शंका—घनफल किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसमें क्षेत्र की ऊँचाई, मोटाई और चौड़ाई तीनों का प्रमाण सम्मिलित रहता है उसे घनफल कहते हैं।

शंका—राजु का प्रमाण कितना है ?

समाधान—असंख्यात योजन।

शंका—और जगश्रेणि का प्रमाण ?

समाधान—सात राजु।

यहाँ तक लोक और उसके अवान्तर भेदों की सामान्य चर्चा की। अब यह देखना है कि आखिर इस लोक में है क्या ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे और चौथे अध्याय की रचना हुई है। तीसरे अध्याय में अधोलोक और मध्य लोक की रचना का निर्देश किया गया है।

अधोलोक में सात पृथिवियां हैं जिनमें नारकी जीव रहते हैं। मध्य लोक में द्वीप और समुद्रों के आश्रय से मनुष्य और तिर्यंच पाये जाते हैं। ऊर्ध्वलोक में देव रहते हैं। भवनत्रिक देव मध्यलोक और अधोलोक में भी रहते हैं। एकेन्द्रिय जीव सब लोक में सर्वत्र रहते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि त्रस जीव त्रसनाली में ही रहते हैं।

यह लोक तीन वातवलयों के आश्रय से स्थित है। क्रम इस प्रकार है—लोक घनोदधि वातवलय के आश्रय से स्थित है। घनोदधि वातवलय घनवातवलय के आश्रय से स्थित है। घनवातवलय तनुवातवलय के आश्रय से स्थित है। तनुवातवलय आकाश के आश्रय से स्थित है। और आकाश स्वप्रतिष्ठ है। उसे अन्य आश्रय की आवश्यकता नहीं।

इसी भाव को दिखानेवाला लोक का चित्र निम्न प्रकार है—
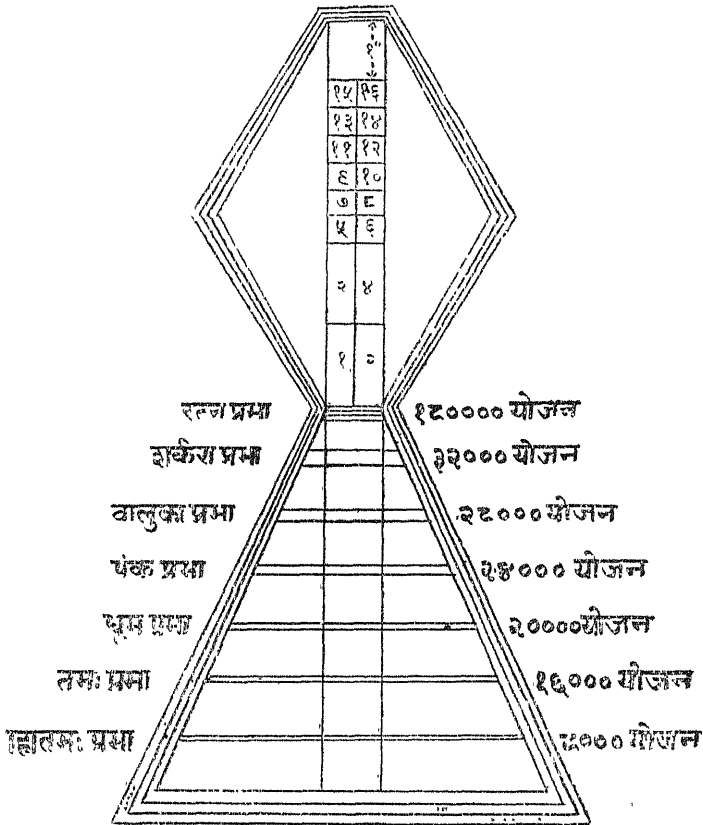
परिचय इस प्रकार है—

(१) लोक के चारों तरफ जो तीन लकीरें दी हैं वे तीन वात-वलयों की परिचायक हैं।

(२) लोक के मध्य में एक राजु के अन्तर से नीचे से ऊपर तक खड़ी हुई दो रेखाएं दी हैं वे त्रसनाली की परिचायक हैं। यह एक राजु लम्बी, एक राजु चौड़ी और चौदह राजु ऊंची है। त्रस जीव इसी में रहते हैं।

(३) अधोलोक में जो सात डबल रेखाएं दी हैं वे सात पृथिवियों की परिचायक है।

(४) मध्यलोक पहली पृथिवी के पृष्ठ भाग पर है।

(५) ऊर्ध्वलोक में १ से लेकर जो १६ तक अङ्क दिये हैं वे सोलह स्वर्गों के सूचक हैं। आगे नौ ग्रैवेयक आदि हैं।

इन सब बातों का विशेष वर्णन यथास्थान किया ही गया है इस-लिये इसे छोड़ कर अब क्रमप्राप्त अधोलोक का वर्णन करते हैं।

अधोलोक का विशेष वर्णन

कुल भूमियाँ आठ हैं। इनमें से सात अधोलोक में और एक ऊर्ध्वलोक में है। ये सातों भूमियाँ उत्तरोत्तर नीचे नीचे हैं। पर आपस में भिड़-कर नहीं हैं किन्तु एक दूसरे के बीच में असंख्य योजनों का अन्तर है। पहली भूमि का नाम रत्नप्रभा है। यह एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। दूसरी भूमि का नाम शर्कराप्रभा है। यह बत्तीस हजार योजन मोटी है। तीसरी भूमि का नाम बालुकाप्रभा है। यह अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। चौथी भूमि का नाम पङ्कप्रभा है। यह चौबीस हजार योजन मोटी है। पाँचवीं भूमि का नाम धूमप्रभा है। यह बीस हजार योजन मोटी है। छठी भूमि का नाम तमःप्रभा है। यह सोलह हजार योजन मोटी है और सातवीं भूमि का नाम महातमःप्रभा है। यह आठ हजार योजन मोटी है। ये सातों नाम गुणनाम हैं। अर्थात् जिस भूमि का जो नाम है उसके अनुसार उसकी कान्ति है। घम्मा, वंशा, मेघा, अञ्जना, अरिष्टा,

भूमियों के नाम मोटाई व आधार

मघवी और माघवी ये इनके रौढ़िक नाम है। ये सातों भूमियाँ घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार से स्थित हैं। अर्थात् प्रत्येक पृथिवी घनोदधि के आधार से स्थित है। घनोदधि घनवात के आधार से स्थित है। घनवात तनुवात के आधार से स्थित है और तनुवात आकाश के आधार से स्थित है। किन्तु आकाश किसी के आधार से स्थित नहीं है, वह स्वप्रतिष्ठ है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा के तीन भाग हैं—खरभाग, पङ्कभाग और अब्बहुलभाग। खरभाग सबसे ऊपर है। इसमें रत्नों की बहुतायत है और यह सोलह हजार योजन मोटा है। दूसरा पङ्कभाग है। इसकी मोटाई चौरासी हजार योजन है। तथा तीसरा अब्बहुलभाग है। इसकी मोटाई अस्सी हजार योजन है।

इनमें से रत्नप्रभा के प्रथम और द्वितीय इन दो भागों में नारक—नारकियों के रहने के आवास नहीं हैं तीसरे में हैं। इस प्रकार प्रथम भूमि के तीसरे भाग की और शेष छह भूमियों की जितनी जितनी मोटाई बतलाई है उसमें से ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन भूमि को छोड़कर बाकी के मध्य भाग में नारकियों के आवास हैं। इनका आकार विविध प्रकार का है। कोई गोल हैं, कोई त्रिकोण हैं और कोई चौकोन हैं आदि।

नरकावास व पटल

प्रथम भूमि में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठीं में पाँच कम एक लाख और सातवीं में सिर्फ पाँच नरकावास हैं। ये सबके सब भूमि के भीतर हैं और पटलों में बटे हुए हैं। प्रथम भूमि में तेरह पटल हैं और आगे की भूमियों में दो दो पटल कम होते गये हैं। सातवीं भूमि में केवल एक पटल है। जिस प्रकार एक स्तर पर दूसरा स्तर जमा देते हैं उसी प्रकार ये पटल हैं। एक पटल दूसरे पटल से सटा हुआ है। इन पटलों में जो नरक बतला आये हैं उनमें नारक

रहते हैं। नरकों में उत्पन्न होने के कारण ये नारक कहलाते हैं ॥ २ ॥

इनकी लेश्या, परिणाम, देह, बेदना और विक्रिया उत्तरोत्तर अशुभ अशुभ होती है। रत्नप्रभा में कापोत लेश्या है। शर्करा प्रभा में कापोत है पर रत्नप्रभा की कापोत लेश्या से अधिक अशुभ है। वालुका प्रभा में कापोत और नील लेश्या है। पङ्कप्रभा में नील है। धूम प्रभा में नील और कृष्ण लेश्या है। तमः प्रभा में कृष्ण लेश्या है और महातमः प्रभा में परम कृष्ण लेश्या है। ये लेश्याएँ उत्तरोत्तर अशुभ अशुभ हैं। यद्यपि ये अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं पर जहाँ जिस लेश्या के जितने अंश बतलाये हैं उन्हीं के भीतर परिवर्तन होता है। नारकी लेश्या से लेश्यान्तर को नहीं प्राप्त होते। जहाँ दो लेश्याएँ बतलाई हैं। वहाँ ऊपर के भाग में प्रथम और नीचे के भाग में दूसरी लेश्या जानना चाहिये। शरीर का रंग तो इन सब का कृष्ण ही है।

लेश्या

परिणाम से यहां पुद्गलों का स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दरूप परिणमन लिया गया है। ये सातों नरकों में उत्तरोत्तर तीव्र दुःख के कारण और अशुभतर हैं।

परिणाम

सातों नरकों के नारकों के शरीर अशुभ नाम कर्म के उदय से होने के कारण उत्तरोत्तर अशुभ हैं। उनकी विकृत आकृति है, हुंड संस्थान है और देखने में बुरे लगते हैं। प्रथम भूमि में उनकी ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल है। तथा द्वितीयादि भूमियों में उत्तरोत्तर दूनी दूनी है।

देह

नारकों के सदा असाता वेदनीय का ही उदय रहता है और वहाँ वेदना के बाह्य निमित्त शीत और उष्णता की उत्तरोत्तर अति तीव्रता है जिससे उन्हें उत्तरोत्तर तीव्र वेदना होती है। प्रथम चार भूमियों में उत्तरोत्तर उष्णता की प्रचुरता है। पाँचवीं भूमि में ऊपर के दो लाख नरकों में उष्णता है तथा शेष में

वेदना

और छठी और सातवीं भूमि में उत्तरोत्तर शीत की बहुलता है। इन नरकों में यह शीत और उष्ण इतना प्रचुर है कि यदि मेरु के बराबर लोहे का गोला उष्ण नरकों में डाला जाय तो वहाँ की गरमी से वह एक क्षण में पिघल जाय और उस पिघले हुए गरम लोहे को यदि शीत नरकों में डाला जांय तो वहाँ की ठण्डी से वह एक क्षण में जम जाय।

विक्रिया

उनकी विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ होती है। वे अच्छा करने का विचार करते हैं पर होता है बुरा। यदि विक्रिया से शुभ बनाना चाहते हैं तो बन जाता है अशुभ ॥३॥

नारकियों को शीत उष्ण की वेदना तो है ही। पर भूख प्यास की वेदना भी कुछ कम नहीं है। सब का भोजन यदि एक नारकी को मिल जाय तो भी उसकी भूख न जाय।। यही बात प्यास की है। कितना भी पानी पीने को क्यों न मिल जाय उससे उनकी प्यास बुझने की नहीं?

तीन प्रकार की वेदना

आपस में भी वे एक दूसरे के वैर की याद करके कुत्तों के समान लड़ते हैं। पूर्व भव का स्मरण करके उनकी वह वैर की गांठ और दृढ़तर हो जाती है जिससे वे अपनी विक्रिया से तरवार, वसूला, फरसा और बरछी आदि बना कर उनसे तथा अपने हाथ, पांव और दांतों से छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदि के द्वारा परस्पर अति तीव्र दुःख को उत्पन्न करते हैं ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र जन्य और परस्पर जन्य दुःख है। इसके अतिरिक्त उन्हें एक तीसरे प्रकार का दुःख और होता है यह अम्बावरीष जाति के असुरों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। पहले दो प्रकार के दुख सातों भूमियों में हैं परन्तु यह तीसरे प्रकार का दुःख प्रारम्भ की तीन भूमियों में ही है क्योंकि इन असुरकुमार देवों का गमनागमन यहीं तक पाया जाता है। ये स्वभाव से ही निर्दयी होते हैं। अनेक सुख साधनों के

रहते हुए भी इन्हें परस्पर नारकियों के लड़ाने में ही आनन्द आता है। जब वे नारकी इनके इशारे पर अपना अपना वैर चितार कर आपस में लड़ने लगते हैं, मारने पीटने लगते हैं तो ये बड़े प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार मार काट में और उससे उत्पन्न हुए दुःख के सहन करने में नारकों का जीवन व्यतीत हो जाता है। वे बीच में उससे छुटकारा नहीं पा सकते, क्योंकि उनका अकाल मरण नहीं होता॥ ५॥

चारों गतियों के जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई है। अपनी अपनी गति में जिससे कम न पाई जा सके वह जघन्य आयु है और जिससे अधिक न पाई जा सके वह उत्कृष्ट आयु है। नारकियों की जघन्य आयु का कथन आगे करेंगे यहाँ उत्कृष्ट आयु बतलाई गई है। पहली में एक, दूसरी में तीन, तीसरी में सात, चौथी में दस, पाँचवीं में सत्रह, छठी में बाईस और सातवीं में तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है॥ ६॥

नारकों की आयु

यहां तक सूत्रानुसार संक्षेप में अधोलोक का कथन समाप्त हुआ किन्तु प्रसंगानुसार यहां गति और आगति का कथन कर देना भी आवश्यक है।

सामान्य नियम यह है कि तिर्यंच और मनुष्य ही नरकों में उत्पन्न होते हैं। देव और नारक नरकों में नहीं उत्पन्न होते। उसमें भी असंज्ञी जीव पहली भूमि तक, सरीसृप दूसरी तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पांचवीं तक, स्त्री छठी तक तथा मत्स्य और मनुष्य सातवीं तक जा सकते हैं।

गति

नारक मरकर नियम से कर्मभूमि के गर्भज तिर्यंच और मनुष्य ही होते हैं। उसमें भी प्रथम तीन भूमियों के नारक मरकर तीर्थंकर भी हो सकते हैं। चौथी भूमि तक के नारक मनुष्य होकर निर्वाण भी पा सकते हैं। पाँचवीं भूमि तक के नारक मरकर दूसरी पर्याय में संयमासंयम और संयम को भी प्राप्त कर सकते हैं। छठी भूमि तक के नारक मरकर

आगति

दूसरी पर्याय में संयमासंयम को भी प्राप्त कर सकते हैं और सातवीं भूमि के नारक मरकर नियम से तिर्यंच ही होते हैं। तिर्यंचों में उत्पन्न होकर भी वे नियम से मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। उस पर्याय में सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व आदि किसी गुण को नहीं प्राप्त हो सकते। नरकगति से आकर कोई भी जीव बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती नहीं होता।

नारकों में शेष जीवों व द्वीप समुद्र आदि का कहाँ किस प्रकार संभव है इसका खुलासा

जैसा कि पहले बतला आये हैं नीचे की सात भूमियों में पहली भूमिका नाम रत्नप्रभा है। इसके तीन भागों में से पहले भाग के पृष्ठ पर मध्य लोक की रचना है। द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर, गाँव, नदी, वृक्ष, लता आदि सब मध्यलोक में ही पाये जाते हैं। विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्य भी मध्यलोक में ही पाये जाते हैं। इसलिये इनका सद्भाव पहली पृथिवी के सिवा शेष छह भूमियों में नहीं है। भवनवासी और व्यन्तर देवों के आवास भी पहली पृथिवी में ही बने हुए हैं, इसलिये ये भी पहली पृथिवी के सिवा अन्यत्र नहीं पाये जाते। यह सामान्य नियम है किन्तु इसके कुछ अपवाद हैं। जो निम्न प्रकार हैं—

(१) देव तीसरे नरक तक जा आ सकते हैं इसलिये ये तीसरे नरक तक पाये जाते हैं।

(२) मनुष्य केवल और मारणान्तिक समुद्धातकी अपेक्षा सातों भूमियों में पाये जाते हैं। किन्तु ये उपपाद पद की अपेक्षा छह भूमियों में ही पाये जाते हैं, क्योंकि सातवें नरक का जीव मरकर मनुष्य नहीं होता।

(३) संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच उपपाद पद की अपेक्षा सातों भूमियों में पाये जाते हैं, क्योंकि सातों भूमियों के नारकी मरकर संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच हो सकते हैं। उसमें भी सातवीं भूमि का नारकी तो नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच ही होता है।

(४) संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन तिर्यंच मारणान्तिक पद की अपेक्षा सातों भूमियों में पाये जाते हैं, क्योंकि ये मरकर सातों नरकों में उत्पन्न हो सकते हैं।

(५) असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच मारणान्तिक पद की अपेक्षा पहली पृथिवी तक पाये जाते हैं, क्योंकि ये मरकर पहले नरक में ही उत्पन्न हो सकते हैं।

मध्यलोक का वर्णन

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणोद आदि शुभ नामवाले समुद्र हैं।

वे सभी द्वीप और समुद्र दूने-दूने विस्तारवाले, पूर्व-पूर्व को वेष्टित करनेवाले और वलय-चूड़ी जैसी आकृतिवाले हैं।

मध्य में यह लोक उत्तर-दक्षिण सात राजू और पूर्व-पश्चिम एक राजू है। तथापि इसका आकार झालर के समान बतलाया है जो द्वीप

द्वीप और समुद्र

और समुद्रों के आकार की प्रधानता से कहा गया है। ये सबके सब द्वीप और समुद्र मध्यलोक में ही हैं जो असंख्यात संख्यावाले हैं। वे सबके सब द्वीप और उसके बाद समुद्र, फिर द्वीप और उसके बाद समुद्र इस क्रम से स्थित हैं। प्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप और समुद्र का नाम लवण समुद्र है ॥ ७ ॥

यहाँ द्वीपों और समुद्रों के विषय में व्यास, रचना और आकार इन तीन बातों का जानना मुख्य है जिनका निर्देश इस सूत्र में किया है। इस सूत्र से अन्य द्वीप समुद्रों का व्यास, रचना व आकार तो

जाना जाता है पर जम्बूद्वीप का व्यास, रचना व आकार नहीं ज्ञात होता। यह अगले सूत्र में बतलाया है। जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है इसलिये उसका उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम एक समान व्यास है जो एक लाख योजन है। इससे लवण समुद्र का व्यास दूना है। इसी प्रकार आगे के द्वीप और समुद्रों का व्यास उत्तरोत्तर दूना-दूना है। अन्त तक विस्तार का यही क्रम चला गया है। अन्त में स्वयंभूरमण द्वीप को वेष्ठित किये हुए स्वयंभूरमण समुद्र है। यहाँ स्वयंभूरमण द्वीप का व्यास अपने पूर्ववर्ती समुद्र के व्यास से दूना है और स्वयंभूरमण द्वीप के व्यास से स्वयंभूरमण समुद्र का व्यास दूना है।

व्यास

जम्बूद्वीप को छोड़कर शेष सब द्वीपों और समुद्रों की रचना चूड़ी के समान है। जैसे हाथ को घेर कर चूड़ी स्थित रहती है वैसे ही जम्बूद्वीप को घेरकर लवण समुद्र स्थित है। लवण समुद्र को घेरकर धातकीखण्ड द्वीप स्थित है। इसी प्रकार अन्ततक यही क्रम चला गया है॥ ८॥

रचना व आकृति

जम्बूद्वीप और उसमें स्थित क्षेत्र, पर्वत और नदी आदि का विस्तार से वर्णन—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः॥ ९॥

***भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाःक्षेत्राणि।१०।**

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः॥ ११॥

‡ हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः॥ १२॥

---

* श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र में इसके प्रारम्भ में 'तत्र' पद अधिक है।

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

उन सब द्वीप समुद्रों के बीच में जम्बूद्वीप है जिसके बीच में मेरु पर्वत है, जो गोल है और एक लाख योजन विष्कम्भवाला है।

इस जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवत वर्ष, हरि वर्ष, विदेह वर्ष, रम्यक वर्ष, हैरण्यवत वर्ष और ऐरावत वर्ष ये सात क्षेत्र हैं।

उन क्षेत्रों को जुदा करने वाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्

---

‡ श्वेताम्बर परम्परा ने १२ वें से ३२ वें तक के सूत्रों को सूत्र मानने से अस्वीकार कर दिया है।

महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं।

ये छहों पर्वत क्रम से सोना, चांदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्य मणि, चांदी और सोना इनके समान रंगवाले हैं।

ये मणियों से विचित्र पार्श्ववाले तथा ऊपर और मूल में समान विस्तार वाले हैं।

इनके ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह ह्रद हैं।

प्रथम ह्रद एक हजार योजन लम्बा और उससे आधा चौड़ा है।

तथा दस योजन गहरा है।

इसके बीच में एक योजन का पुष्कर-कमल है।

शेष ह्रद और उनके पुष्कर इससे दूने दूने हैं।

उन पुष्करों में निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियां हैं जो एक पल्य की आयुवाली और सामानिक तथा पारिषद देवों के साथ निवास करती हैं।

उन सात क्षेत्रों के मध्य में से गङ्गा-सिन्धु, रोहित्-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये सरिताएँ बहती हैं।

दो दो नदियों में पूर्व पूर्व नदी पूर्व समुद्र को गई हैं।

शेष नदियां पश्चिम समुद्र को गई हैं।

गङ्गा-सिन्धु आदि नदियाँ चौदह हजार नदियों से वेष्ठित हैं।

सब द्वीप-समुद्रों के बीच में जम्बूद्वीप है। इसके बीच में और दूसरा द्वीप नहीं है। यद्यपि गोल तो सब द्वीप और समुद्र हैं पर वे सब वलय के समान हैं और यह थाली के समान गोल है। पूर्व से पश्चिम तक या उत्तर से दक्षिण तक इसका विस्तार एक लाख योजन है। इसके ठीक बीच में मेरु पर्वत है

जम्बूद्वीप

जो एक लाख योजन का है। इसमें से एक हजार योजन जमीन में है। अलावा इसके चालीस योजन की चोटी और है। इससे मेरु पर्वत की कुल ऊँचाई एक लाख चालीस योजन हो जाती है। जमीन पर प्रारम्भ में मेरु पर्वत का विस्तार दस हजार योजन है ऊपर क्रम से घटता गया है। जिस हिसाब से ऊपर घटा है उसी हिसाब से जमीन के भीतर विस्तार बढ़ता गया है। मेरु पर्वत के तीन काण्ड है। पहला काण्ड जमीन से पाँच सौ योजन का दूसरा साढ़े बासठ हजार योजन का और तीसरा छत्तीस हजार योजन का है। प्रत्येक काण्ड के अन्त में एक एक कटनी है जिसका विस्तार पाँच सौ योजन है। केवल अन्तिम कटनी का विस्तार छह योजन कम है। एक जमीन पर और तीन मेरु पर्वत पर इस प्रकार यह चार वनों से घिरा हुआ है। इन वनों के क्रम से भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये नाम हैं। पहली और दूसरी कटनी के बाद ग्यारह हजार योजन तक मेरु पर्वत सीधा गया है फिर क्रमशः घटने लगता है। मेरु पर्वत के चारों वनों में सोलह अकृत्रिम चैत्यालय हैं और पाण्डुक वन के चारों दिशाओं में चार पाण्डुक शिलाएँ हैं। जिन पर उस उस दिशा के क्षेत्रों में उत्पन्न हुए तीर्थङ्करों का अभिषेक होता है। इसका रंग पीला है॥ ९॥

मेरु पर्वत

जम्बूद्वीप में मुख्यतया सात क्षेत्र हैं जो उनके बीच में पड़े हुए छह पर्वतों से विभक्त हैं। ये पर्वत वर्षधर कहलाते हैं ये सभी पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं। पहला क्षेत्र भारतवर्ष है जो दक्षिण में है। इससे उत्तर में हैमवतवर्ष है। इन दोनों का विभाग करनेवाला पहला हिमवान् पर्वत है। तीसरा क्षेत्र हरिवर्ष है जो हैमवतवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करनेवाला दूसरा महाहिमवान् पर्वत है। चौथा क्षेत्र विदेहवर्ष है जो हरिवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करनेवाला निषध

क्षेत्र और पर्वत

पर्वत है। पाँचवाँ क्षेत्र रम्यकवर्ष है जो विदेहवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करनेवाला नीलपर्वत है। छठा क्षेत्र हैरण्यवतवर्ष है जो रम्यकवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों का विभाग करनेवाला रुक्मीपर्वत है। तथा सातवाँ क्षेत्र ऐरावतवर्ष है जो हैरण्यवतवर्ष के उत्तर में है। इन दोनों क्षेत्रों को विभक्त करनेवाला शिखरी पर्वत है ॥ १०-११ ॥

पर्वतों का रंग और विस्तार

उक्त छहों पर्वतों का रंग क्रमशः सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्य मणि, चाँदी और सोना इनके समान है। अर्थात् दूर से देखने पर ये छहों पर्वत उक्त रंगवाले प्रतीत होते हैं। इन सभी पर्वतों के पार्श्व भाग में अनेक प्रकार के मणि पाये जाते है जिनसे उनकी शोभा और भी बढ़ गई है। इनका विस्तार मूल से लेकर ऊपर तक भीत के समान एक सरीखा है, कमी अधिक नहीं ॥ १२-१३ ॥

तालाब और प्रथम तालाब की लम्बाई आदि

इन हिमवान् आदि छहों पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह तालाब है जिन्हें ह्रद कहते हैं। जिनमें से पहला तालाब एक हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा और दस योजन गहरा है। इन सब तालाबों के तल वज्रमय हैं और ये स्वच्छ जल से पूरित हैं ॥ १४-१६ ॥

कमलों का और तालाबों का विशेष वर्णन

प्रथम तालाब के मध्य में एक योजन का पुष्कर-कमल है। इसकी कर्णिका दो कोस की और पत्ता एक-एक कोस का है इससे कमल एक योजन का हो जाता है। यह कमल जलतल से दो कोस निकला है जो सबका सब पत्तों से परिपूर्ण है। यह कमल पृथिवीमय है। अलावा इसके परिवार कमल एक लाख चालीस हजार और एक सौ पचास हैं जिनका उत्सेध आदि मुख्य कमल से आधा है। इसी प्रकार

आगे के पाँचों तालाबों में भी कमल हैं। आगे के इन तालाबों और कमलों की लम्बाई आदि दूनी-दूनी है। पर यह द्विगुणता तीसरे तालाब तक जानना चाहिए। आगे के तालाब और कमल दक्षिण दिशा के तालाब और कमलों के समान हैं ॥ १७-१८ ॥

अब प्रश्न यह है कि वे कमल केवल शोभा के लिये हैं या उनका कुछ उपयोग भी है ? प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। उसमें बतलाया है कि उन कमलों में क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ रहती हैं। जिनकी आयु एक पल्योपम है। जैसा कि ऊपर बतला आये हैं इन कमलों के परिवार कमल भी हैं जिनमें सामानिक और परिषद् देव रहते हैं ॥ १९ ॥

कमलों में निवास करनेवाली देवियाँ

उक्त सात क्षेत्रों में चौदह नदियाँ वहीं हैं। जिनमें से भारतवर्ष में गङ्गा और सिन्धु, हैमवत वर्ष में रोहित् और रोहितास्या, हरिवर्ष में हरित् और हरिकान्ता, विदेहवर्ष में सीता और सीतोदा, रम्यकवर्ष में नारी और नरकान्ता, हैरण्यवतवर्ष में सुवर्णकूला और रूप्यकूला तथा ऐरावतवर्ष में रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदियाँ वही हैं। इनमें से प्रथम, द्वितीय और चौथी नदियाँ पद्महृद से निकली हैं। तीसरी और छठी नदियाँ महापद्महृद से निकली हैं। पाँचवीं और आठवीं नदियाँ तिगिञ्छहृद से निकली हैं। सातवीं और दसवीं नदियाँ केसरीहृद से निकली हैं, नौवीं और बारहवीं नदियाँ महापुण्डरीक हृद से निकली हैं तथा ग्यारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं नदियाँ पुण्डरीक हृद से निकली हैं। प्रत्येक क्षेत्र की इन दो दो नदियों में से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्र में जा मिली हैं और दूसरी-दूसरी नदियाँ बहकर पश्चिम समुद्र में मिली हैं। इनमें से गङ्गा और सिन्धू की चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं। आगे सीता-सीतोदा तक दूनी-दूनी परिवार नदियाँ

गङ्गा आदि नदियों का विशेष वर्णन

हैं और इसके आगे अन्त तक परिवार नदियाँ आधी-आधी होती गईं हैं ॥ २०-२३ ॥

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार और विशेष वर्णन—

भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशति-भागा योजनस्य ॥ २४ ॥

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

भरतवर्ष का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन का छह बटे उन्नीस भाग है।

विदेहवर्ष पर्यन्त पर्वत और क्षेत्र इससे दूने-दूने विस्तारवाले हैं।

उत्तर के पर्वत और क्षेत्र आदि दक्षिण के पर्वत और क्षेत्र आदि के समान हैं।

जम्बूद्वीप में भरतवर्ष के विस्तार से हिमवान् पर्वत का विस्तार दूना है। हिमवान् पर्वत के विस्तार से हैमवतवर्ष का विस्तार दूना है।

क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार

यह दूने दूने का क्रम विदेहवर्ष तक है फिर उसके आगे पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार आधा-आधा है। इस हिसाब से भरतवर्ष का विस्तार पाँच सौ छब्बीस और छह बटे उन्नीस योजन प्राप्त होता है। हिमवान् पर्वत का विस्तार इससे दूना है। विदेह वर्ष तक विस्तार इसी प्रकार दूना दूना होता गया है। और उत्तर दिशा का कुल वर्णन दक्षिण दिशा के वर्णन के समान है॥ २४-२६ ॥

शेष कथन—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणी-भ्याम् ॥ २७ ॥

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः २९

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥

पुष्करार्धे च ॥ ३४ ॥

भरतवर्ष और ऐरावत वर्ष में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह समयों द्वारा वृद्धि और ह्रास होता है।

इनके सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित हैं।

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु के प्राणियों की स्थिति क्रम से एक, दो और तीन पल्योपम है।

उत्तर के क्षेत्रों के प्राणी दक्षिण के क्षेत्रों के प्राणियों के समान हैं।

विदेहों में संख्यातवर्ष की आयुवाले हैं।

भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नव्वेवाँ भाग है।

धातकीखण्ड द्वीप में पर्वतादिक जम्बूद्वीप से दूने हैं।

पुष्करार्ध में उतने ही हैं।

पदार्थों के परिवर्तन करने में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव बड़े सहायक होते हैं। जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का निमित्त मिलता है मनकी दशा उसी प्रकार की होने लगती है। कमी अधिक प्रमाण में यह असर प्रायः सब जगह देखा जाता है। फिर भी कुछ ऐसे नियम हैं जिनसे किसी क्षेत्र विशेष में जीवन क्रम में बहुत अधिक परिवर्तन होता हुआ दिखाई देता है और कहीं पर उसका यत्किंचित्

भी असर नहीं होता है। शास्त्रों में जो कमभूमि और अकर्मभूमि (भोगभूमि) का विभाग दिखाई देता है उसका कारण यही है। कर्मभूमि यह कर्म अर्थात् कर्तव्य प्रधान क्षेत्र है। यहाँ जीवन में अच्छे और बुरे जैसे निमित्त मिलते हैं उनके अनुसार वह बनता और बिगड़ता रहता है। कर्म बिना फल दिये क्षय को नहीं प्राप्त होता इसका यह अर्थ नहीं कि कर्म की रेखा नहीं बदलती। किन्तु इसका यह अर्थ है कि निमित्त के अनुसार कर्म अपना कार्य करता है। नरक में तेतीस सागर आयु भोगते हुए वहाँ के अशुभ निमित्तों की प्रबलता के कारण सत्ता में स्थित समस्त शुभ कर्म अशुभ रूप से परिणमन करते-रहते हैं और देवगति में इसके विपरीत अशुभ कर्म शुभ रूप से परिणमन करते रहते हैं। निधत्ति और निकाचित रूप कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है ऐसा कोई नियम नहीं है। वस्तु स्थिति यह है कि जिनका बन्ध निधत्ति और निकाचित रूप नहीं भी होता है यदि उनके बदलने का निमित्त न मिले और उदयकाल में अनुकूल निमित्त बना रहे तो उनका भी फल भोगना पड़ता है और जो निधत्ति और निकाचित रूप कर्म हैं, जिनमें कि उदीरणा और संक्रम ये दो या उदीरणा उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण ये चार नहीं होते उनकी भी स्थिति पूरी होने पर यदि उनके उदय के अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र और काल न हो तो जाते-जाते वे भी अपने रूप से फल न देकर अन्य सजातीय प्रकृति रूप से फल देने के लिये बाध्य हो जाते हैं। इसलिये यह सिद्धान्त फलित होता है 'कि अधिकतर प्राणियों का जीवन उस-उस क्षेत्र के प्राकृतिक नियमों पर अवलम्बित है। प्रस्तुत दो सूत्रों में सातों क्षेत्रों के इन्हीं प्राकृतिक नियमों का निर्देश किया गया है। सातों क्षेत्रों में ये प्राकृतिक नियम काल की प्रधानतासे हैं इसलिये यहाँ उन्हीं की अपेक्षा मुख्यता से वर्णन किया गया है।

जिस काल में प्राणियों के उपभोग, आयु और शरीर आदि उत्तरो-

त्तर उत्सर्पणशील होते हैं वह उत्सर्पिणी काल कहलाता है और जिसमें ये सब अवसर्पणशील होते हैं वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। इनमें से प्रत्येक काल के छह छह भेद हैं। अति दुष्षमा, दुष्षमा, दुष्षम दुष्षमा, दुष्षमसुषमा, सुषमा और दुष्षमसुषमा इस क्रम से उत्सर्पिणीकाल होता है और अवसर्पिणीकाल इसके विपरीत क्रम से होता है। इन दोनों को मिलाकर एक कल्पकाल कहलाता है जो बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है। उत्सर्पिणी के छहों काल व्यतीत हो जाने पर अवसर्पिणी के छह काल आते हैं। इस प्रकार उत्सर्पिणी के पश्चात् अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के पश्चात् उत्सर्पिणी यह क्रम चालू रहता है। उक्त छह कालों में पहला काल इक्कीस हजार वर्ष का है, दूसरा भी इतना ही है। तीसरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकड़ी सागर प्रमाण है, चौथा दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है, पाँचवाँ तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है, और छठा चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। यह काल जिस क्रम से ऊपर नाम लिखे हैं उस क्रम से बतलाया है। उत्सर्पिणी के प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में तथा अवसर्पिणी के चतुर्थ, पंचम और षष्ठ काल में कर्मभूमि रहती है। इनके अतिरिक्त शेष काल अकर्मभूमि अर्थात् भोगभूमि सम्बन्धी हैं।

काल के दो भेद

यह उपर्युक्त कालचक्र का परिवर्तन भारतवर्ष और ऐरावत वर्ष में होता है शेष खण्डों में नहीं। शेष पाँच खण्डों में निवास करने वाले प्राणियों के उपभोग, आयु और शरीर का परिमाण आदि सदा एक से रहते हैं, जैसा भरत और ऐरावत में इनका परिवर्तन होता रहता है वैसा परिवर्तन वहाँ नहीं होता। इनमें से हैमवत क्षेत्र के प्राणियों की स्थिति एक पल्य प्रमाण होती है। यहाँ निरन्तर उत्सर्पिणी का चौथा या अवसर्पिणी का तीसरा काल प्रवर्तता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष

क्षेत्रों में काल मर्यादा

होती है। रंग नीलवर्ण होता है और वे एक दिन के अन्तराल से भोजन करते हैं। हरिवर्ष क्षेत्र के प्राणियों की स्थिति दो पल्यप्रमाण होती है। यहाँ निरन्तर उत्सर्पिणी का पाँचवाँ या अवसर्पिणी का दूसरा काल प्रवर्तता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष होती है। रंग शुक्ल होता है और वे दो दिन के अन्तराल से भोजन करते हैं। तथा देवकुरु क्षेत्र के प्राणियों की स्थिति तीन पल्य-प्रमाण होती है। यहाँ निरन्तर उत्सर्पिणी का छठा और अवसर्पिणी का पहला काल प्रवर्तता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष होती है, रंग पीत होता है और वे तीन दिन के अन्तराल से भोजन करते हैं।

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु में कालका जो क्रम बतलाया है यही क्रम उत्तर दिशा के उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत इन तीन क्षेत्रों में समझना चाहिये। उत्तरकुरु में देवगुरु के समान, रम्यक में हरिवर्ष के समान और हैरण्यवत में हैमवत के समान काल है। किन्तु विदेहों की स्थिति इन सब क्षेत्रों से भिन्न है। वहाँ उत्सर्पिणी का तीसरा या अवसर्पिणी का चौथा काल सदा अवस्थित है। इसमें मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है और उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण होती है। प्रायः इसी काल से जीव मुक्ति लाभ करते हैं। विदेहों में यह काल सदा रहता है इसलिये यहाँ से जीव सदा मोक्ष जाते हैं और जब भरत और ऐरावत क्षेत्र में भी यह काल आता है तब वहाँ से भी जीव मोक्ष जाने लगते हैं।

इन सब क्षेत्रों में भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के कुल विष्कम्भ का एक सौ नब्बेवाँ भाग प्राप्त होता है जिसका निर्देश सूत्र २५ में कर ही आये हैं॥ २७–३२॥

धातकीखण्ड द्वीप में जम्बूद्वीप की अपेक्षा मेरु, वर्ष, वर्षधर,

नदी और ह्रद आदि दूने-दूने हैं। अर्थात् उनमें दो मेरु, चौदह वर्ष, बारह वर्षधर, अट्ठाईस नदी और बारह ह्रद आदि हैं। इन सबके नाम भी वे ही हैं जो जम्बूद्वीप में बतलाये हैं। केवल मेरु पर्वतों के नाम भिन्न हैं।

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध

धातकीखण्ड द्वीप वलयाकृति है इसके पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध इस प्रकार दो विभाग हैं। यह विभाग इष्वाकार नामवाले दो पर्वत करते हैं जो उत्तर से दक्षिण तक द्वीप के विष्कम्भ प्रमाण लम्बे हैं। इससे धातकीखण्ड द्वीप के दो भाग होकर प्रत्येक विभाग में एक मेरु, सात क्षेत्र, छह वर्षधर, चौदह नदियाँ और छह ह्रद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये सब जम्बूद्वीप से धातकीखण्ड द्वीप में दूने हो जाते हैं। इस द्वीप में पर्वत पहिये के आरे के समान हैं और क्षेत्र आरों के बीच में स्थित विवर के समान हैं। धातकीखण्ड द्वीप के समान पुष्करार्ध में भी मेरु, वर्ष, वर्षधर, नदी और ह्रदों की संख्या है क्योंकि इस द्वीप के भी इष्वाकार पर्वतों के निमित्त से पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध ये दो भाग हो गये हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में पाँच मेरु, पैंतीस वर्ष, तीस वर्षधर, सत्तर महानदियाँ और तीस ह्रद प्राप्त होते हैं॥ ३३-३४॥

जम्बूद्वीप में विदेह क्षेत्र का विस्तार ३३६८४ ४/१९ योजन है और मध्य में लम्बाई एक लाख योजन है। ठीक बीच में मेरु पर्वत है। इसके पास से दो गजदन्त पर्वत निकल कर निषध में जा मिले हैं। इसी प्रकार उत्तर में दो गजदन्त पर्वत नील में जा मिले हैं इससे विदेह क्षेत्र चार भागों में बट जाता है।

विदेहों का विशेष वर्णन

दक्षिण दिशा में गजदन्तों के मध्य का क्षेत्र देवकुरु और उत्तर दिशा में यही क्षेत्र उत्तरकुरु कहलाता है। तथा पूर्व दिशा का सब क्षेत्र पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा का सब क्षेत्र पश्चिम विदेह कहलाता है। इनमें से देवकुरु और उत्तरकुरु में उत्तम भोगभूमि है तथा पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में कर्मभूमि है। इन दोनों अन्तिम

भागों के सीता और सीतोदा नदियों के कारण दो-दो भाग हो जाते हैं इस प्रकार कुल चार भाग होते हैं जो चारों भाग नदी और पर्वतों के कारण आठ-आठ भागों में बटे हुए हैं। जिससे जम्बूद्वीप में कुल बत्तीस विदेह हो जाते हैं। इनमें भरत और ऐरावत के समान आर्यखण्ड व म्लेच्छखण्ड स्थित हैं। पदवीधर महापुरुष व तीर्थंकर आर्यखण्डों में ही उत्पन्न होते हैं। जम्बूद्वीप में कुल चौतीस और ढाई द्वीप में एक सौ सत्तर आर्यखण्ड हैं। एक साथ होनेवाले तीर्थंकरों की उत्कृष्ट संख्या एक सौ सत्तर बतलाई है वह इन्हीं क्षेत्रों की अपेक्षा से बतलाई है। विदेहों में जो इस समय सीमंधर आदि बीस तीर्थंकर कहे जाते हैं सो वे ढाई द्वीप के बीस महाविदेहों की अपेक्षा से कहे गये जानना चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्त विभागानुसार जम्बूद्वीप के चार और ढाई द्वीप के बीस महाविदेह होते हैं।

पुष्करवर द्वीप के ठीक मध्य में वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत स्थित है जिससे पुष्करवर द्वीप दो भागों में बट गया है। इन दो भागों में से भीतर के भाग में इन क्षेत्रादिकों की रचना है बाह्य भाग में नहीं, इसलिये इस सूत्र द्वारा पुष्करार्ध में धातकीखण्ड के समान क्षेत्रादिक की रचना का निर्देश किया है। मानुषोत्तर पर्वत भीतर की ओर सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊँचा है। जमीन पर इसकी चौड़ाई एक हजार बाईस योजन है, मध्य में सात सौ तेईस योजन है और ऊपर चार सौ चौबीस योजन है। इससे इसका आकार बैठे हुए सिंह के समान हो जाता है। बैठा हुआ सिंह आगे को ऊँचा होता है और पीछे को क्रम से घटता हुआ। यह पर्वत भी भीतर की ओर एक समान ऊँचा है और बाहर की ओर यह क्रम से घटता गया है जिससे इसका रिपटासा बन गया है ॥३३-३४॥

पुष्करार्ध संज्ञा का कारण

मनुष्यों का निवास स्थान और भेद—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं।

उनके आर्य और म्लेच्छ ये दो प्रकार हैं।

पीछे जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्धद्वीप इनका उल्लेख कर आये हैं इनके मध्य में लवणोद और कालोद ये दो समुद्र और हैं। यह सब क्षेत्र मनुष्यलोक कहलाता है। मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं इसके बाहर नहीं। मानुषोत्तर पर्वत मनुष्य लोक की सीमा पर स्थित है इसीलिये इसका मानुषोत्तर यह सार्थक नाम है। ऋद्धिधारी मुनि आदि का भी इस पर्वत को लाँघ कर बाहर जाना सम्भव नहीं है। यह इस क्षेत्र का स्वभाव है। ढाई द्वीप के भीतर ये पैंतीस क्षेत्र और दोनों समुद्रों में स्थित अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न होते हैं परन्तु पाये सर्वत्र जाते हैं मेरु पर्वत पर भी ये पहुंचते हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप और उन द्वीपों के मध्य में आनेवाले दो समुद्र यह सब मिलकर मनुष्यलोक कहलाता है। मनुष्यों का निवास इतने स्थल में ही है अन्यत्र नहीं।

शंका—क्या ढाई द्वीप के बाहर किसी भी प्रकार से मनुष्य नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान—ढाई द्वीप के बाहर मनुष्यों के पाये जाने के निम्न प्रकार हैं—

(१) जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीप के बाहर उत्पन्न होनेवाला है वह यदि मरण के पहले मारणान्तिक समुद्घात करता है तो ढाई द्वीप के बाहर पाया जाता है।

(२) ढाई द्वीप के बाहर निवास करनेवाला अन्य गति का जो जीव मरकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है उसके पूर्व पर्याय के छोड़ने के अनन्तर समय में ही मनुष्यायु आदि कर्मों का उदय हो जाता है तब भी

वह उपपाद क्षेत्र को प्राप्त होने के पूर्व तक मनुष्य लोक के बाहर पाया जाता है।

(३) केवली जिनके प्रदेश समुद्घात के समय क्रम से सर्वलोक में व्याप्त हो जाते हैं इस प्रकर केवलिसमुद्घात के समय मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर पाया जाता है।

ये तीन अवस्थाएँ हैं जब मनुष्य मनुष्य लोक के बाहर पाये जात हैं इन अवस्थाओं को छोड़कर मनुष्यों का मनुष्य लोक से बाहर पाया जाना सम्भव नहीं है ॥ ३५ ॥

मनुष्यों भेद के

मनुष्य मुख्यतः दो भागों में बटे हुए हैं आर्य मनुष्य और म्लेच्छ मनुष्य। जो स्वयं गुणवाले हैं और गुणवालों की संगत करते हैं वे आर्य मनुष्य हैं और शेष म्लेच्छ मनुष्य हैं। म्लेच्छ ये प्रायः गुण कर्म से हीन होते हैं। इनमें यदि दया दाक्षिण्य आदि गुण पाये भी जाते हैं तो लौकिक प्रयोजन वश ही पाये जाते हैं। आत्मा का कर्तव्य समझ कर ये इन गुणों को महत्त्व नहीं देते। आर्यों के मुख्य दो भेद हैं ऋद्धि प्राप्त आर्य और ऋद्धि रहित आर्य। जिनके तप आदिक से बुद्धि आदिक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं वे ऋद्धिप्राप्त आर्य हैं। ऋद्धि रहित आर्य निमित्त भेद से पाँच प्रकार के बतलाये हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, चारित्रार्य, कर्मार्य और दर्शनार्य। म्लेच्छ मुख्यतया धर्म कर्म व्यवस्था से रहित होते हैं, इसी से ये म्लेच्छ कहलाते हैं। ये अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज इस प्रकार दो तरह के होते हैं। लवणसमुद्र और कालोद समुद्र के मध्य में स्थित अन्तर्द्वीपों में निवास करनेवाले कुभोगभूमिज मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं तथा कर्मभूमि में पैदा हुए आर्यसंस्कृति से हीन मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं ॥ ३६ ॥

कर्मभूमि विभाग—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

देवकुरु और उत्तरकुरु के सिवा भरत, ऐरावत और विदेह ये कर्मभूमियाँ हैं।

जहाँ सातवें नरक तक ले जानेवाले अशुभकर्म और सर्वार्थसिद्धि तक ले जानेवाले शुभ कर्म का अर्जन होता है वह कर्मभूमि है। या जहाँ पर कृषि आदि षट्कर्म और दानादि कर्म की व्यवस्था है वह कर्मभूमि है। या जहाँ पर मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति चालू है वह कर्मभूमि है। पहले ढाई द्वीप में पेंतीस क्षेत्र और छयानवे अन्तर्द्वीप बतला आये हैं उनमें से पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह ये पन्द्रह क्षेत्र ही कर्मभूमियाँ हैं। इनके सिवा सब क्षेत्र और अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि अर्थात् भोगभूमि हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु ये विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इसलिये विदेहों में कर्मभूमि की व्यवस्था बतलाने पर इनमें भी वह प्राप्त होती है, किन्तु पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु इन दस क्षेत्रों में कर्मभूमि की व्यवस्था नहीं है, इसलिये प्रस्तुत सूत्र में इन दस भूमियों को कर्मभूमियों से पृथक् बतलाया है। इस प्रकार कुल मिलाकर पन्द्रह कर्मभूमियाँ और तीस अकर्मभूमियाँ प्राप्त होती हैं॥ ३७॥

मनुष्यों और तिर्यञ्चों की स्थिति—

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। तिर्यञ्चों की स्थिति भी उतनी ही है।

प्रस्तुत दो सूत्रों में मनुष्यों और तिर्यंचों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई है। दोनों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। पल्योपम उपमा प्रमाण का एक भेद है। यह तीन प्रकार का है—व्यवहार पल्योपम, उद्धारपल्योपम और अद्धापल्योपम। प्रमाणाङ्गुल से गिनकर एक

पल्योपम का प्रमाण

योजन का आयाम और विस्तारवाला तथा एक योजन गहरा एक पल्य अर्थात् गड्ढा तैयार करे। फिर नवजात मेंढे के बालों से उसे भर दे। पर इतना ध्यान रखे कि भरते समय ये बाल कैंची से काट काटकर अति छोटे टुकड़ों से भरे। वे टुकड़े इतने छोटे हों जिनके कैंची से दूसरे टुकड़े न हो सकें। अनन्तर सौ सौ वर्ष में एक-एक टुकड़ा निकाले। इस प्रकार इस क्रिया के करने में जितना काल लगे वह व्यवहार पल्योपम है। इससे उद्धार पल्योपम असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों उतना गुणा है। और इससे अद्धापल्योपम सौ वर्ष के जितने समय हों उतना गुणा है। प्रथम पल्योपम इस सब व्यवहार का बीज है इसलिये वह व्यवहार पल्योपम कहलाता है। दूसरे पल्योपम से द्वीप समुद्रों की संख्या गिनी जाती है। सब द्वीप और समुद्र पच्चीस कोड़ाकोड़ी पल्योपम प्रमाण बतलाये हैं। तीसरे पल्योपम से कर्मस्थिति और भवस्थिति आदि जानी जाती है। यहाँ इतना और विशेष जानना कि दस कोड़ाकोड़ी पल्योपमों का एक सागरोपम होता है।

स्थिति के भेद

स्थिति दो प्रकार की है भवस्थिति और कायस्थिति। एक पर्याय में रहने में जितना काल लगे वह भवस्थिति है। तथा पुनः पुनः उसी पर्याय में निरन्तर उत्पन्न होना, दूसरी जाति में नहीं जाना इस प्रकार जितना काल प्राप्त हो वह कायस्थिति है। ऊपर मनुष्यों और तिर्यंचों की भवस्थिति बतलाई है। आगे उनकी कायस्थिति का विचार करते हैं।

कायस्थिति

मनुष्य की जघन्य कायस्थिति जघन्य भवस्थिति प्रमाण है, क्योंकि एक बार जघन्य आयु के साथ भव पाकर उसका अन्य पर्याय में जाना सम्भव है। तथा उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है। पृथक्त्व यह रौढिक संज्ञा है। मुख्यतः इसका अर्थ तीन से ऊपर और नौ से नीचे की संख्या लिया

आता है। कहीं कहीं बहुत इस अर्थ में भी पृथक्त्व शब्द आता है।

तिर्यंचों के अनेक भेद हैं इसलिये उनकी भवस्थिति और काय-स्थिति अलग अलग प्राप्त होती है जो निम्न प्रकार है—

तिर्यंचों में पृथिवीकायिकों की उत्कृष्ट भवस्थिति बाईस हज़ार वर्ष, जल कायिकों की सात हज़ार वर्ष, अग्निकायिकों की तीन दिनरात, वायुकायिकों की तीन हज़ार वर्ष, वनस्पति कायिकों की दस हज़ार वर्ष, द्वीन्द्रियों की बारह वर्ष, त्रीन्द्रियों की उनचास दिनरात, चतुरिन्द्रियों की छह महीना, पंचेन्द्रियों में मछली आदि जलचरों की पूर्वकोटि प्रमाण, गोधा व नकुल आदि परिसर्पों की नौ पूर्वांग, सर्पों की व्यालीस हज़ार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हज़ार वर्ष और चतुष्पदों आदि की तीन पल्योपम उत्कृष्ट भवस्थिति है। तथा इन सबकी जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। यह भवस्थिति है।

तिर्यंचों की भवस्थिति और कायस्थिति

कायस्थिति निम्न प्रकार है—पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकायिक जीवों की असंख्यात लोकों के समय प्रमाण, वनस्पतिकायिक जीवों की अनन्त कालप्रमाण, विकलेन्द्रियों की संख्यात हज़ार वर्ष प्रमाण तथा पंचेन्द्रियों की पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक तीन पल्योपम उत्कृष्ट कायस्थिति है। तथा इन सबकी जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है॥ ३८-३९॥

चौथा अध्याय

तीसरे अध्याय में नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य इनका वर्णन किया अब इस अध्याय में मुख्यरूप से देवों का वर्णन करते हैं प्रसंग से नारकों की जघन्य स्थिति का भी निर्देश किया गया है।

देवों के निकाय—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देव चार निकायवाले हैं।

निकाय शब्द का अर्थ समुदाय है। देवों के ऐसे प्रमुख समुदाय चार हैं। यथा - भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। देव एक गति है जिसमें रहनेवाले प्राणी अधिकतर सुखशील होते हैं, नाना द्वीपों वनों, पर्वतों की चोटियों, कुञ्जगृहों आदि में विहार करते है। शरीर को छोटा, बड़ा आदि बनाने की उनमें क्षमता होती है ॥ १ ॥

आदि के तीन निकायों की लेश्या—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः* ॥ २ ॥

---

* श्वेताम्बर परम्परा में प्रारम्भ के दो निकायों में पीत तक चार और तीसरे निकाय में एक पीत लेश्या मानी गई है। इसी से उस परम्परा में यह और आगे का सातवाँ सूत्र भिन्न प्रकार से रचे गये हैं। इसके सिवा उस परम्परा में प्रकृत में लेश्या का अर्थ द्रव्यलेश्या—शरीर का रंग लिया गया जान पड़ता है। पं० सुखलाल जी ने भी अपने तत्त्वार्थसूत्र में यही अर्थ किया है किन्तु यह सूत्रानुसारिणी शैली के प्रतिकूल है। तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के ६ वें सूत्र में औदयिक भावों के प्रसंग से छह लेश्याओं का उल्लेख किया है। वहाँ स्पष्टरूप से इन्हें जीव के भाव बतलाया है।

आदि के तीन निकायों में पीत तक चार लेश्याएँ हैं।

यों तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के सदा एक पीत लेश्या ही पाई जाती है किन्तु ऐसा नियम है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के मध्यम अंश के साथ मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्या दृष्टि मनुष्य और तिर्यंच और पीत लेश्या के मध्यम अंश के साथ मरे हुए भोगभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं, इसलिये इनके अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ भी पाई जाती हैं। इसी से इनके पीत तक चार लेश्याएँ बतलाई हैं। अभिप्राय यह है कि भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण आदि चार लेश्याएँ और पर्याप्त अवस्था में एक पीत लेश्या पाई जाती है॥ २॥

चार निकायों के अवान्तर भेद—

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः॥ ३॥

कल्पोपपन्न तक के चतुर्निकाय देव क्रम से दस, आठ, पाँच और बारह भेदवाले हैं।

भवनवासी निकाय के दस, व्यन्तर निकाय के आठ, ज्योतिष्क निकाय के पाँच और वैमानिक निकाय में कल्पोपपन्न के बारह भेद हैं। वैमानिक निकाय के कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो भेद आगे बतलाये हैं उनमें से यहाँ कल्पोपपन्न प्रथम निकाय के बारह भेद कहे हैं सो ये बारह भेद सोलह कल्पों के बारह इन्द्रों की अपेक्षा से कहे हैं। इन बारह भेदों में वैमानिक निकाय के सब भेद सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि कल्पातीत भी वैमानिक हैं पर उनका उक्त बारह भेदों में अन्तर्भाव नहीं होता॥ ३॥

चार निकायों के भेदों के अवान्तर भेद—

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः॥ ४॥

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

चतुर्निकाय के उक्त दस आदि भेदों में से एक-एक भेद इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक रूप हैं।

किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो विकल्पों से रहित हैं।

भवनवासिनिकाय के दस भेद हैं उनमें से प्रत्येक भेद में इन्द्र आदि दस प्रकार होते हैं। जो सामानिक आदि अन्य देवों के स्वामी होते हैं वे इन्द्र कहलाते हैं। जो आज्ञा और ऐश्वर्य को छोड़कर शेष सब बातों में इन्द्र के समान होते हैं वे सामानिक देव कहलाते हैं। लोक में पिता, गुरु और उपाध्याय का जो स्थान है वह स्थान इनका है। जो देव मन्त्री और पुरोहित का काम करते हैं वे त्रायस्त्रिंश हैं। एक-एक भेद में इनकी कुल संख्या तेतीस ही होती है अधिक नहीं। अभ्यन्तर, मध्य और बाह्य परिषद् के जो सभ्य होते हैं वे पारिषद देव कहलाते हैं। लोक में मित्र का जो स्थान है वह स्थान इनका वहाँ है। जो इन्द्र शरीर की रक्षा में नियुक्त हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। जो रक्षकस्थानीय हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। जो पदाति आदि सात प्रकार की सेना में नियुक्त हैं वे अनीक कहलाते हैं। जो नगरवासी और देशवासियों के समान हैं वे प्रकीर्णक कहलाते हैं। जो दास के समान हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं और जो अन्तेवासियों के तुल्य हैं वे किल्विषिक कहलाते हैं। कल्पोपपन्न देवों के बारह भेदों में से प्रत्येक भेद में भी ये इन्द्रादि दस भेद होते हैं। किन्तु व्यन्तरनिकाय के आठ भेद और ज्योतिष्क निकाय के पाँच भेदों में इन्द्र आदि आठ-आठ विकल्प ही सम्भव हैं, क्योंकि उनके त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते॥ ४-५ ॥

प्रथम दो निकायों में इन्द्रों की संख्या का नियम—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

प्रथम दो निकायों में दो-दो इन्द्र हैं।

भवनवासी के दस प्रकार के देवों में और व्यन्तर के आठ प्रकार के देवों में दो-दो इन्द्र होते हैं। यथा—असुरकुमारों के चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं। इसी प्रकार नागकुमारों के धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त, सुपर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुधारी, अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारों के वैलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारों के पूर्ण और वशिष्ट तथा दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन ये दो-दो इन्द्र हैं। व्यन्तरों में किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगों के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप तथा पिशाचों के काल और महाकाल ये दो दो इन्द्र हैं।

भवनवासी और व्यन्तर इन दो निकायों में दो-दो इन्द्र बतलाने से शेष दो निकायों में दो-दो इन्द्रों का अभाव सूचित होता है। ज्योतिषियों में एक चन्द्र ही इन्द्र माना गया है। किन्तु चन्द्र असंख्यात हैं इसलिये ज्योतिषियों में इतने ही इन्द्र हुए। तथापि जाति की अपेक्षा ज्योतिषियों में एक इन्द्र गिना जाता है। वैमानिक निकाय के कल्पोपपन्न भेद में ही इन्द्र माना जाता है। यद्यपि कल्प सोलह हैं तथापि इनमें इन्द्र बारह ही हैं क्योंकि प्रारम्भ के चार कल्पों में चार इन्द्र हैं। इसी प्रकार अन्त के चार कल्पों में भी चार इन्द्र हैं। किन्तु मध्य के आठ कल्पों में कुल चार ही इन्द्र हैं, इन इन्द्रों के नाम कल्प के अनुसार हैं। जहाँ दो कल्पों में एक इन्द्र है वहाँ प्रथम-प्रथम कल्प के अनुसार इन्द्र का नाम

है। यथा—ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर कल्प का इन्द्र ब्रह्म नामवाला है। लान्तव और कापिष्ठ कल्प का इन्द्र लान्तव नामवाला है। शुक्र और महाशुक्र का इन्द्र शुक्र नामवाला है और शतार और सहस्रार कल्प का इन्द्र शतार नामवाला है ॥ ६ ॥

देवों में कामसुख वर्णन—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः* ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

ऐशानतक के देव काय से विषयसुख भोगनेवाले होते हैं।

सनतकुमार आदि कल्पवासी शेष देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से विषय सुख भोगनेवाले होते हैं।

अन्य सब देव विषय सुख से रहित होते हैं।

प्रवीचारका अर्थ विषय सुख का भोगना है। ऐशान कल्प तक के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म तथा ऐशान-कल्प के देव मनुष्यों के समान शरीर से विषय सुख का अनुभव करते हैं। तीसरे कल्प से लेकर सोलहवें कल्प तक के देव शरीर से विषय-सुख का अनुभव न करके दूसरे प्रकार से विषय सुख का अनुभव करते हैं। यथा—सनतकुमार और माहेन्द्र कल्प के देव देवाङ्गनाओं के स्पर्श मात्र से अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त होते हैं और वहाँ की देवियाँ भी इसी प्रकार स्पर्शमात्र से तृप्ति को प्राप्त होती हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव और देवाङ्गनाएँ एक दूसरे के सुन्दर रूप के देखने मात्र से परमसुख का अनुभव करते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार

* श्वेताम्बर परम्परा में इस सूत्र के अन्त में 'द्वयोर्द्वयोः' इतना पाठ अधिक है।

और सहस्रार कल्प के देव और देवियाँ संगीत आदि के सुनने मात्र से परमसुख को प्राप्त होते हैं। तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देव तथा देवियाँ एक दूसरे के स्मरण मात्र से परमसुख को प्राप्त होते हैं। यद्यपि देवियाँ दूसरे कल्प तक ही उत्पन्न होती हैं पर नियोगवश वे ऊपर के कल्पों में पहुंच जाती हैं। तथा सोलहवें कल्प से ऊपर जितने भी कल्पातीत देव हैं वे सब विषय सुख की वासना से रहित होते हैं। उनके चित्त में कभी भी स्त्री विषयक अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती।

शंका—स्त्री पुरुष भेद तो तीसरे आदि कल्पों में भी है फिर उनके नीचे के देवों के समान विषय सुख क्यों नहीं होता ?

समाधान—यह क्षेत्रजन्य विशेषता है। कर्म का विपाक द्रव्य, क्षेत्र आदि के अनुसार होता है ऐसा नियम है।

शंका—देवियों की उत्पत्ति तो दूसरे कल्प तक ही पाई जाती है, इसलिये इनके तो विषय सुख भोगने की प्रवृत्ति दूसरे कल्पतक के देवों के समान पाई जानी चाहिये ?

समाधान—'नियोग के अनुसार देवियों के भाव होते हैं' इस नियम के अनुसार जो जिस कल्प की नियोगनी होती हैं उनके भाव भी उसी प्रकार के होते हैं। यही सबब है कि तीसरे आदि कल्प की देवियों के विषय सुख की तृप्ति जहाँ जिस प्रकार से विषय सुख के भोग का निर्देश किया है तदनुसार हो जाती है।

शंका—कल्पातीत देवों के प्रवीचार का कारण पुरुष वेद का उदय रहते हुए भी इसका अभाव क्यों बतलाया ?

समाधान—वेद का मुख्य कार्य प्रवीचार नहीं है। प्रवीचार के अनेक कारण हैं। वे सब वहाँ नहीं पाये जाते, इसलिये वहाँ प्रवीचार का निषेध किया है ॥ ७–९ ॥

भवनवासी और व्यन्तरों के भेदों का वर्णन

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये दस प्रकार के भवनवासी हैं।

किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ प्रकार के व्यन्तर हैं।

असुरकुमार आदि देव अधिकतर भवनों में निवास करते हैं इसलिये भवनवासी कहलाते हैं। इनमें से असुरकुमारों के भवन रत्नप्रभा भूमि के पङ्कबहुल भाग में हैं और शेष नौ प्रकार के भवनवासियों के भवन खर पृथिवी भाग के ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन पृथिवी छोड़कर मध्य में हैं। इन सब भवनवासियों को कुमार के समान वेशभूषा, क्रीड़ा, आनन्द विनोद भाता है इसलिये ये कुमार कहलाते हैं। इन दसों प्रकार के भवनवासियों के मुकुटों में अलग अलग चिह्न रहते हैं जिससे उनकी अलग अलग जाति जानी जाती है। यथा—असुरकुमारों के मुकुट में चूड़ामणि का, नागकुमारों के मुकुटों में सर्प का, विद्युत्कुमारों के मुकुटों में वर्धमानक का, सुपर्णकुमारों के मुकुटों में गरुड़ का, अग्निकुमारों के मुकुटों में कलश का, वातकुमारों के मुकुटों में अश्व का, स्तनितकुमारों के मुकुटों में वज्र का, उदधिकुमारों के मुकुटों में मकर का, द्वीपकुमारों के मुकुटों में गज का तथा दिक्कुमारों के मुकुटों में सिंह का चिह्न

भवनवासियों के भेद

अंकित रहता है। इन सबके भवनों के सामने चैत्यवृक्ष और ध्वजाएँ होती हैं। असुरकुमार आदि के भवनों के सामने क्रम से अश्वत्थ, सप्तच्छद, कदम्ब, साल्मली, पलास, राजद्रुम, प्रियंगु, वेतस, जम्बू और शिरीष जाति के चैत्यवृक्ष होते हैं॥ १०॥

विविध देशान्तरों में निवास करने के कारण दूसरे निकाय के देव व्यन्तर कहलाते हैं। इस जम्बूद्वीप से लेकर असंख्यात द्वीप समुद्रों को लाँघ कर वहाँ के खर पृथिवी भाग में सात प्रकार के व्यन्तरों के आवास बने हैं और राक्षसों के आवास पङ्कबहुल भाग में बने हैं। ये आठों प्रकार के व्यन्तर अनेक प्रकार के आभूषण और वस्त्रों से सुसज्जित रहते हैं। इनके आवासों के सामने चैत्यतरु होते हैं। किन्नरों के अशोक, किम्पुरुषों के चम्पक, महोरगों के नाग, गन्धर्वों के तूमरी, यक्षों के वट, राक्षसों के कण्टतरु, भूतों के तुलसी और पिशाचों के कदम्ब ये चैत्यवृक्ष होते हैं। इन सबके शरीर का रंग भी एक प्रकार का न होकर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इन आठों प्रकार के व्यन्तरों के अवान्तर भेद भी अनेक हैं। जिसमें किन्नरों के दस भेद हैं। यथा— किम्पुरुष, किन्नर, हृदयंगम, रूपमाली, किंनरकिंनर, अनिन्दित, मनोरम, किन्नरोत्तम, रतिप्रिय और रतिश्रेष्ठ। किम्पुरुष नामक दूसरे भेद के भी दस प्रकार हैं। यथा—पुरुष, पुरुषोत्तम, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषप्रभ, अतिपुरुष, मरुत, मरुदेव, मरुत्प्रभ और यशस्वत। महोरगों के भी दस भेद हैं। यथा—भुजग, भुजंगशाली, महाकाय, अतिकाय स्कन्धशाली, मनोहर, अशनिजव, महैश्वर्य, गम्भीर और प्रियदर्शन। गन्धर्वों के दश प्रकार ये हैं—हाहा, हूहू, नारद, तुम्बुरुक, कदम्ब, वासव, महास्वर, गीतरति, गीतयश और दैवत। यक्षों के बारह भेद ये हैं—मणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धर्मपाल, सुरूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहर। राक्षसों के सात

व्यन्तरों का विशेष वर्णन

भेद हैं। जो ये हैं—भीम, महाभीम, विघ्नविनायक, उदक, राक्षस, राक्षस-राक्षस और ब्रह्मराक्षस। भूत सात प्रकार के हैं। यथा—सुरूप, प्रतिरूप, भूतोत्तम, प्रतिभूत, महाभूत, प्रतिछन्न और आकाशभूत। पिशाचों के चौदह भेद हैं। यथा—कूष्माण्ड, रक्षस्, यक्ष, संमोह, तारक, अचौक्ष, काल, महाकाल, चौक्ष, सनालक, देह, महादेह, तूष्णीक और प्रवचन ॥ ११ ॥

ज्योतिष्कों के भेद और उनका विशेष वर्णन—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

सूर्य और चन्द्र तथा ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारक ये पाँच प्रकार के ज्योतिष्क हैं।

ये मनुष्य लोक में मेरु की प्रदक्षिणा करनेवाले और निरन्तर गमनशील हैं।

इन गमनशील ज्योतिष्कों के द्वारा किया हुआ काल विभाग है।

ये मनुष्यलोक के बाहर अवस्थित हैं।

सूर्य आदि पाँचों प्रकार के ज्योतिष्क ज्योतिःस्वभाव अर्थात् प्रकाशमान् होते हैं इसलिये ये ज्योतिष्क कहे गये हैं। इस समान भूभाग से

पाँच प्रकार के ज्योतिष्क और उनका निवास स्थान

सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई से लेकर नौ सौ योजन तक अर्थात् एक सौ दस योजन के भीतर यह ज्योतिष्क समुदाय पाया जाता है। तिरछे रूप से यह स्वयम्भूरमण समुद्र तक फैला हुआ है। इसमें सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई पर सर्व प्रथम तारकाओं के विमान हैं। यहाँ से दस योजन ऊपर जाने पर सूर्यों के विमान हैं।

इस प्रकार सूर्यों के विमान समतल भूभाग से आठ सौ योजन की ऊँचाई पर हैं। फिर अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्र के विमान हैं। फिर चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्रों के विमान हैं। वहाँ से चार योजन ऊपर जाकर बुध के विमान हैं। वहाँ से तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र के विमान हैं। वहाँ से तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति के विमान हैं। वहाँ से तीन योजन ऊपर जाकर मङ्गल के विमान हैं और वहाँ से तीन योजन ऊपर जाकर शनैश्चर के विमान हैं। शनैश्चर के विमान सबके अन्त में हैं॥ १२॥

मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत के भीतर पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के एक ओर से लेकर दूसरी ओर तक कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं इसलिये यह मनुष्य लोक कहलाता है। इस लोक में ज्योतिष्क सदा भ्रमण किया करते हैं। इनका भ्रमण मेरु के चारों ओर होता है। मेरु के चारों ओर ग्यारह सौ इक्कीस योजन तक ज्योतिष्क मण्डल नहीं है। इसके आगे वह आकाश में सवत्र बिखरा हुआ है। जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्र हैं। एक सूर्य *जम्बूद्वीप की पूरी प्रदक्षिणा दो दिन रात में करता है। इसका चार क्षेत्र जम्बूद्वीप में १८० योजन और लवण समुद्र में ३३०$\frac{४८}{६१}$ योजन माना गया है। सूर्य के घूमने की कुल गलियाँ १८४ हैं। इनमें यह क्षेत्र

---

* वर्तमान काल में पाश्चमात्य विद्वानों के मतानुसार पृथिवी घूमती हुई और सूर्य स्थिर माना जाता है। किन्तु यह अन्तिम निर्णय नहीं है। टोल्मी जो ईसा से पूर्व हुआ है उसकी दृष्टि से पृथिवी स्थिर है और सूर्य घूमता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त के पहले यह मत बिलकुल निराधार माना जाता था। किन्तु अब बहुत से वैज्ञानिकों का मत है कि सूर्य के चारों ओर पृथिवी की गति केवल गणित की सरलता की दृष्टि से ही मानी जाती है।

विभाजित हो जाता है। एक गली से दूसरी गली में २ योजन का अन्तर माना गया है। इसमें सूर्य बिम्ब के प्रमाण को मिला देने पर वह २$\frac{४८}{६१}$ योजन होता है। इतना व्द्यान्तर है। मण्डलान्तर दो योजन का ही है। चन्द्र को पूरी प्रदक्षिणा करने में दो दिन रात से कुछ अधिक समय लगता है। चन्द्रोदय में न्यूनाधिकता इसी से आती है। लवण समुद्र में चार सूर्य, चार चन्द्र; धातकीखण्ड में बारह सूर्य, बारह चन्द्र; कालोद में ब्यालीस सूर्य, ब्यालीस चन्द्र और पुष्करार्ध में बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्र हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में एक सौ बत्तीस सूर्य और एक सौ बत्तीस चन्द्र हैं। इन दोनों में चन्द्र इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र है। एक एक चन्द्र का परिवार अट्ठाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छ्यासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे हैं। इन ज्योतिष्कों का गमनस्वभाव है तो भी आभियोग्य देव सूर्य आदि के विमानों को निरन्तर ढोया करते हैं। ये देव सिंह, गज, बैल और घोड़े का आकार धारण किये रहते हैं। सिंहाकार देवों का मुख पूर्व दिशा की ओर रहता है तथा गजाकार देवों का मुख दक्षिण दिशा की ओर, वृषभाकार देवों का मुख पश्चिम दिशा की ओर और अश्वाकार देवों का मुख उत्तर दिशा की ओर रहता है ॥ १३ ॥

चर ज्योतिष्क

यह दिन रात का भेद गतिवाले ज्योतिष्कों के निमित्त से होता हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है। सूर्योदय से लेकर उसके अस्त होने तक के काल को दिन और सूर्यास्त से लेकर उदय होने तक के काल को रात्रि कहते हैं। इसी प्रकार रात्रि में कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष यह विभाग चन्द्र के ऊपर अवलम्बित है। यतः यह ज्योतिष्क मण्डल ढाई द्वीप के अन्दर ही गमनशील है अतः इस प्रकार का स्पष्ट विभाग यहीं पर देखने को मिलता है ढाई द्वीप के बाहर नहीं। पर इसका यह मतलब नहीं कि वस्तुओं का परिवर्तन इस काल विभाग के ऊपर अवलम्बित है। वस्तु

काल विभाग का कारण

बदलती अपने स्वभाव से है किन्तु उसके बदल का साधारण निमित्त कारण काल द्रव्य है। यहाँ तो कालविभाग अर्थात् व्यावहारिक काल के आधारभूत पदार्थ के निर्देश करने का प्रयोजन रहा है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है इस व्यावहारिक काल विभाग का मुख्य आधार सूर्य की गति है। यह स्थूल काल विभाग इसी पर अवलम्बित है। इसलिये इससे स्थूल काल का ज्ञान हो जाता है समय आदि सूक्ष्म काल का नहीं, क्योंकि समय का प्रमाण वस्तु की एक पर्याय का अवस्थान काल है। उसके बदल जाने पर दूसरा समय चालू हो जाता है। इस प्रकार 'वस्तु की जितनी पर्याय उतने समय' यह नियम फलित होता है। ऐसे असंख्यात समयों की एक आवली होती है और असंख्यात आवलियों का एक मुहूर्त। यहाँ पर्यायों का विभाग करके और उनकी क्रमकिता के आधार पर इससे व्यवहार काल फलित किया जाकर उसका मेल सूर्य गति से निष्पन्न हुए काल विभाग से बिठलाया गया है। इस प्रकार यह काल मुहूर्त, दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग आदि अनेक प्रकार का है। तीस मुहूर्त का एक दिन रात है। पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष है। दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष और पाँच वर्ष का एक युग होता है। यह सब विभाग सूर्य के अस्त और उदय पर अवलम्बित है। इसलिये प्रस्तुत सूत्र में काल विभाग का कारण गमन करनेवाले ज्योतिष्क मण्डल को बतलया है॥ १४॥

स्थिर ज्योतिष्क मण्डल

जैसा कि पहले बतलाया है ढाई द्वीप के बाहर ज्योतिष्क मण्डल सदा अवस्थित रहता है। इससे जैसा दिन-रात का भेद ढाई द्वीप में देखा जाता है ऐसा भेद ढाई द्वीप के बाहर नहीं दिखाई देता है। वहाँ जिस प्रदेश में सूर्य का प्रकाश पहुँचता है वहाँ वह सदा ही एक-सा बना रहता है और जहाँ नहीं पहुंचता है वहाँ सूर्य के प्रकाश का अभाव बना रहता

है। ढाई द्वीप के बाहर पचास हजार योजन जाने पर ज्योतिष्क मण्डल की प्रथम पंक्ति मिलती है। इसके बाद एक-एक लाख योजन जाने पर इसका सद्भाव पाया जाता है। स्वयंभूरमण समुद्र के अन्त तक यही क्रम चला गया है। पुष्करवर के पूर्वार्ध में ज्योतिषी विमानों की जितनी संख्या है उत्तरार्ध में वह उतनी ही पाई जाती है। आगे पुष्कर-वर समुद्र में इनकी संख्या इससे चौगुनी है और आगे प्रत्येक द्वीप समुद्र में दूनी-दूनी होती गई है।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ढाई द्वीप में जितने तारे हैं वे सब चर ही हैं। जम्बूद्वीप में ऐसे ३६ तारे हैं जो सदा स्थिर रहते हैं। आगे के लवण समुद्र आदि दो समुद्रों में व धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में इनकी संख्या जुदी-जुदी है।

वैमानिकों के भेद और उनका वर्णन—

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्र-महाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेय-केषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च* ॥ १९ ॥

चौथे निकाय के देव वैमानिक हैं।

वे कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो प्रकार के हैं।

जो ऊपर-ऊपर रहते हैं।

सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नौ ग्रैवे-

* श्वेताम्बर पाठ 'सर्वार्थसिद्धे च' ऐसा है।

यक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि में उनका निवास है।

तीन निकाय के देवों की सामान्य और विशेष संज्ञाएँ बतला आये। अब प्रकरण चतुर्थ निकाय का है। इसकी सामान्य संज्ञा वैमानिक है। वैमानिक यह संज्ञा रौढ़िक है, क्योंकि केवल चतुर्थ निकाय के देव ही विमानों में नहीं रहते, ज्योतिष्क देव भी विमानों में रहते हैं पर रूढ़ि से यह संज्ञा चतुर्थ निकाय के देवों को ही प्राप्त है ॥ १६ ॥

इनके कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो भेद हैं। इन्द्र आदि दश प्रकार के भेदों की कल्पना जहाँ सम्भव है वे कल्प कहलाते हैं। यद्यपि

वैमानिक व उनके भेद

यह कल्पना भवनत्रिकों में भी सम्भव है पर वहाँ कल्पातीत भेद सम्भव न होने से वैमानिकों में ही यह रूढ़ है। जो कल्पों में रहते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं और जो कल्पों के ऊपर रहते हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। ये दोनों प्रकार के वैमानिक न तो एक जगह हैं और न तिरछे हैं किन्तु ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं ॥ १७-१८ ॥

जिन कल्पों में बारह प्रकार के कल्पोपपन्न रहते हैं वे कल्प सोलह हैं। उनमें से सौधर्म कल्प मेरु पर्वत के ऊपर अवस्थित है। यह दक्षिण दिशा में फैला हुआ है। इस कल्प के ऋजु विमान और मेरु पर्वत की चूलिका में एक बालका अन्तर है। इसके समान आकाश प्रदेश में उत्तर की ओर ऐशान कल्प है। सौधर्म कल्प के ठीक ऊपर सानत्कुमार कल्प है और ऐशान कल्प के ठीक ऊपर सानत्कुमार की समश्रेणी में माहेन्द्र कल्प है। इसी प्रकार आगे के दो-दो कल्पों का जोड़ा समश्रेणि में ऊपर-ऊपर अवस्थित है। उनमें से पाँचवाँ सातवाँ, नौवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और पन्द्रहवाँ कल्प दक्षिण दिशा में अवस्थित है और छठा, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ तथा सोलहवाँ कल्प उत्तर दिशा

में अवस्थित है। इन सोलह कल्पों के ऊपर क्रम से ऊपर-ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं। ये पुरुषाकार लोक के ग्रीवा स्थानीय होने से ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश हैं। यद्यपि इनका उल्लेख सूत्र में नहीं है किन्तु 'नवसु ग्रैवेयकषु' इसमें 'नवसु' पद को असमसित रखने से यह ध्वनित होता है। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। इनमें से अच्युत कल्प तक के देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं और इनके ऊपर सभी देव कल्पातीत कहलाते हैं। कल्पोपपन्नों में इन्द्रादिक की कल्पना है इसलिये भी ये कल्पोपन्न कहलाते हैं किन्तु कल्पातीतों में इन्द्रादिक की कल्पना नहीं हैं वे सब एक समान होने से अहमिन्द्र कहे जाते हैं। इनमें से कल्पोपन्न देवों का निमित्त विशेष से तीसरे नरक तक जाना-आना सम्भव है परन्तु कल्पातीत अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते है ॥ १९ ॥

वैमानिक देवों में जिन विषयों की उत्तरोत्तर अधिकता व हीनता है उनका निर्देश—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रिय विषय और अवधिविषय की अपेक्षा ऊपर के देव अधिक हैं।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन हैं।

यद्यपि देवायु और देवगति नाम कर्म के उदय से सभी वैमानिक देव देव हैं पर उनमें बहुत-सी बातों में हीनाधिकता पाई जाती है।

उन सबके रहने के स्थान अलग-अलग हैं यह पहले ही बतला आये हैं यह भी उनके भेद का कारण है। इसके अतिरिक्त कुछ और बातें भी हैं जो उनमें हीनाधिक रूप में पाई जाती हैं। उनमें से पहले जिन बातों में नीचे नीचे के देवों से ऊपर ऊपर के देव अधिक होते हैं उनका निर्देश करते हैं।

१ स्थिति — नीचे-नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देवों की स्थिति अधिक-अधिक होती है यह बात इसी अध्याय के उनतीसवें सूत्र से लेकर चौंतीसवें सूत्र तक बतलाई है।

२ प्रभाव — शाप देने और उपकार करने का शक्ति प्रभाव है जो ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक-अधिक पाया जाता है। यद्यपि यह बात ऐसी है तो भी ऊपर-ऊपर अभिमान कम होने से वे उसका उपयोग करते हैं।

३ सुख — इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयों का अनुभव करना सुख है। यद्यपि ऊपर-ऊपर के देवों का नदी, पर्वत अटवी आदि में विहार करना कमती-कमती होता जाता है। देवियों की संख्या व परिग्रह भी कमती-कमती होता जाता है तो भी उनकी सुख की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती है।

४ द्युति — शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की छटा द्युति है। ऊपर ऊपर के देवों का शरीर छोटा होता जाता है, वस्त्र और आभरण भी कम कम होते जाते हैं पर इन सबकी दीप्ति उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती जाती है।

५ लेश्याविशुद्धि — किस देव के कौन सी लेश्या है यह अगले बाईसवें सूत्र में बतलाया है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर ऊपर के देवों की लेश्या निर्मल होती जाती है। इसी प्रकार समान लेश्यावालों में भी नीचे के देवों से ऊपर के देवों की लेश्या विशुद्ध होती है।

प्रत्येक इन्द्रियका जघन्य और उत्कृष्ट विषय बतलाया है। उसकी अपेक्षा नीचे नीचे के देवों से ऊपर ऊपर के देवोंका इन्द्रियविषय अधिक अधिक है। अर्थात् ऊपर ऊपर के देवों की इन्द्रियद्वारा विषय को ग्रहण करने की सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।

६ इन्द्रियविषय

ऊपर ऊपर के देवों में अवधिज्ञान की सामर्थ्य भी बढ़ती गई है। प्रथम और दूसरे कल्प के देव अवधिज्ञान से पहली नरक भूमि तक जानते हैं। तीसरे और चौथे कल्प के देव दूसरी नरक भूमि तक जानते हैं। पाँचवें से आठवें कल्प तक के देव तीसरी नरकभूमि तक जानते हैं। नौवें से लेकर बारहवें कल्प तक के देव चौथी भूमि तक जानते हैं तेरहवें से लेकर सोलहवें तक के देव पाँचवीं नरक भूमि तक जानते हैं। नौ ग्रैवेयक के देव छठी नरक भूमि तक जानते हैं। तथा नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर-वासी देव पूरी लोकनाली को जानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ऊपर ऊपर के देवों के अवधिज्ञान की सामर्थ्य अधिक अधिक है॥ २१॥

७ अवधिविषय

अब कुछ ऐसी बातों का भी निर्देश करते हैं जो आगे आगे कमती कमती पाई जाती हैं—

जिससे प्राणी एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त होता है वह गति है। यह गति ऊपर ऊपर के देवों में कमती कमती पाई जाती है। यद्यपि नीचे के देवों से ऊपर ऊपर के देव गमन करने की सामर्थ्य अधिक अधिक रखते हैं। जैसे सर्वार्थसिद्धि के देवों में सातवें नरक तक जाने की सामर्थ्य है परन्तु वे उसका उपयोग करने की कभी भी इच्छा नहीं करते। इतना ही नहीं किन्तु कल्पातीत देव तो अपने स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाते ही नहीं। कल्पोपपन्नों में भी नीचे के देव जितना अधिक गमनागमन

१ गति

करते हैं उतना ऊपर के देव नहीं। साधारणतया सोलहवें स्वर्ग तक के देव तीसरे नरक तक जाते हैं। तीसरे नरक से आगे न कोई देव गया है और न कोई देव जायगा ऐसा नियम है।

देवों का शरीर वैक्रियिक होता है इसलिये वे अपनी इच्छानुसार उसे छोटा बड़ा जैसा चाहें कर सकते हैं। तीर्थंकर के जन्मोत्सव के समय जो एक लाख योजन के हाथी का कथन आता है सो वह वैक्रियिक ही रहता है। तब भी नीचे नीचे के देवों के शरीर की ऊँचाई से ऊपर ऊपर के देवों की ऊँचाई घटती गई है। शरीर की ऊँचाई पहले दूसरे स्वर्ग में सात हाथ की, तीसरे चौथे स्वर्ग में छह हाथ की, पाँचवें से आठवें स्वर्ग तक पाँच हाथ की, नौवे से बारहवें स्वर्ग तक चार हाथ की, आनत प्राणत में साढ़े तीन हाथ की, आरण अच्युत में तीन हाथ की, अधो ग्रैवेयक में ढाई हाथ की, मध्य ग्रैवेयक में दो हाथ की, उपरिम ग्रैवेयक में डेढ़ हाथ की और अनुदिश तथा अनुत्तर में एक हाथ की है। इसी प्रकार ऊपर ऊपर के देव विक्रिया भी कमती कमती करते हैं।

२ शरीर

पहले स्वर्ग में बत्तीस लाख, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवें व छठे में मिलकर चार लाख, सातवें व आठवें में मिलकर पचास हजार, नौवें व दसवें में मिल कर चालीस हजार, ग्यारहवें व बारहवें में छह हजार, तेरहवें से लेकर सोलहवें तक चार में सात सौ, अधो ग्रैवेयक में एक सौ ग्यारह, मध्य ग्रैवयक में एकसौ सात, ऊपरिम ग्रैवेयक में एकानवै, अनुदिश में नौ और अनुत्तर में पाँच विमान हैं। इसी प्रकार इन विमानों की लम्बाई, चौड़ाई व ऊँचाई भी ऊपर ऊपर कमती होती गई है। इसी से स्पष्ट है कि ऊपर ऊपर के देवों का परिग्रह घटता गया है।

३ परिग्रह

४ अभिमान

मान कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ अहङ्कार अभिमान कहलाता है। स्थिति प्रभाव, शक्ति आदि के निमित्त से अभिमान पैदा होता है। पर ऊपर ऊपर के देवों में कषाय घटती हुई होने के कारण अभिमान भी घटता हुआ ही है।

उछ्वास आदि का वर्णन

इनके सिवा कुछ बातें और हैं जो देवों में विशेष रूप से पाई जाती हैं। खुलासा इस प्रकार है—

यों तो जिस प्रकार मनुष्य और तिर्यँच श्वासोच्छ्वास लेते हैं वैसे देव भी लेते हैं। किन्तु उनके श्वासोच्छ्वास के कालमान में अन्तर है।

१ उच्छ्वास

उनके श्वासोच्छ्वास का साधारणतः यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की होती है वे उतने पक्षबाद श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उदाहरणार्थ-जिनकी आयु एक सागरोपम की है वे एक पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। जिनकी आयु दो सागरोपम की है वे दो पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। आगे आगे इसी हिसाब से इसका कालमान बढ़ता जाता है।

२ आहार

आहार तो देव भी करते हैं। पर उनका आहार मनुष्य और तिर्यँचों सरीखा न होकर मानसीक माना गया है। आहार विषयक विकल्प के होते ही उनके कण्ठ से अमृत झरता है जिससे उनकी तृप्ति हो जाती है।

देवलोक में या देवों द्वारा कुछ ऐसी बातें और होती हैं जो आश्चर्य जनक प्रतीत होती हैं। बहुतों का ख्याल है कि ये सब पुण्य के प्रभाव से होती हैं। जैसे, तीर्थंकर के पंच कल्याणक के समय देवोंकी आसन का कम्पायमान होना, जन्मकल्याणक के समय बिना बजाये बाजों का बजना, जन्म से १५ महीने पहले कुवेर द्वारा रत्नों की वर्षा का किया जाना।

यहाँ विचारणीय यह है कि क्या ये सब बातें पुण्य के प्रभाव से होती हैं ? यदि यही मान लिया जाय कि ये सब बातें पुण्य के प्रभाव से होती हैं तो इन सब के होने में किसका पुण्य कारण है ? भावी तीर्थंकरका पुण्य तो कारण माना नहीं जा सकता, क्यों कि सभी भावी तीर्थंकरों का सद्भाव स्वर्ग में न होकर कुछ का नरक में भी होता है जिसके एक भी पुण्य प्रकृति का उदय नहीं पाया जाता है। देवों के पुण्योदय से भी इन सब कामों का होना मानना उचित नहीं, क्यों कि एक तो अन्य के पुण्य से अन्य को उसका फल नहीं मिल सकता। दूसरे जितने भी कर्म हैं उनमें से जीवविपाकी कर्म तो जीवगत भावों के होने में निमित्त हैं और पुद्गल विपाकी कर्म शरीर, वचन मन और श्वासोच्छ्वास के होने में निमित्त हैं। इनके सिवा ऐसा एक भी कर्म शेष नहीं बचता जिसका उक्त काम माना जा सके। इस लिये तीर्थंकर के पंचकल्याणक के समय देवों की आसन का कम्पायमान होना आदि को पुण्य कर्म का काम मानना उचित नहीं है।

तो फिर ये किसके काम हैं यह प्रश्न खड़ा ही रहता है सो इसका यह उत्तर है कि देवों द्वारा रत्नों की वर्षा व समवसरण की रचना का किया जाना आदि जितने भी देवकृत काम हैं वे सब भक्तिवश आकर देव करते हैं इस लिये इनका मुख्य कारण देवों का धर्मानुराग और भक्ति है किसी का कर्म नहीं। और देवों की आसन का कम्पायमान होना आदि जितने भी काम हैं जिनके होने में देवों का धर्मानुराग और भक्ति निमित्त नहीं है जो कि प्राकृतिक होते हैं उनका नियोग ही ऐसा है। जिस प्रकार यह प्राकृतिक नियम है कि एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण ही होंगे अधिक या कम नहीं, उसी प्रकार यह भी प्राकृतिक नियम है कि जिस समय भगवान का जन्म होगा उस समय अपने आप घण्टा-

नाद आदि शब्द होने लगेगा आदि। इसमें कर्म को निमित्त मानना उचित नहीं है*।

वैमानिकों में लेश्या विचार—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

दो, तीन युगलों में और शेषमें क्रम से पीत, पद्म और शुक्ललेश्या वाले देव हैं।

पहले चार स्वर्गों में पीत लेश्या होती है। पाँचवें से दसवें तक के तीन कल्प युगलों में पद्म लेश्या और ग्यारहवें कल्प से सर्वार्थसिद्धितक के देवों में शुक्ल लेश्या होती है। यद्यपि तीसरे और चौथे कल्प में पद्म, नौवें और दसवें कल्प में शुक्ल तथा ग्यारवें और बारहवें कल्प में पद्म लेश्या भी होती है पर उसके कथन करने की सूत्र में विवक्षा नहीं की है ॥ २२ ॥

कल्पों की गणना—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

ग्रैवेयकों से पूर्व तक कल्प हैं।

जिनमें इन्द्र सामानिक और त्रायस्त्रिंश आदि रूप से देवों के विभाग की कल्पना है वे कल्प कहलाते हैं। यद्यपि यह कल्पना अन्य निकायों में भी है पर रूढिसे यह संज्ञा अन्यत्र प्रवृत्त नहीं है। ये कल्प ग्रैवेयक से पहले तक ही हैं जो स्थानों की अपेक्षा सोलह हैं और इन्द्रों की अपेक्षा बारह हैं। स्थान सोलह पहले गिना ही आये हैं। इन्द्र प्रथम चार और अन्त के चार कल्पों के चार चार हैं। तथा मध्य के आठ कल्पों में दो दो कल्पों का एक एक है। इस प्रकार इन्द्रों की

---

* इस विषयकी विशेष जानकारी के लिये इसीका आठवां अध्याय देखिये।

अपेक्षा बारह कल्प हुए। इसी अध्याय के तीसरे सूत्र में इन्हीं बारह भेदों का उल्लेख किया है और उन्नीसवें सूत्रमें स्थानों की अपेक्षा सोलह नाम गिनाये हैं। ग्रैवेयक से लेकर आगे के सभी कल्पातीत हैं, क्यों कि उनमें इन्द्र, सामानिक आदि की कल्पना नहीं है।

लौकान्तिक देवों का वर्णन—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च॥२५॥

ब्रह्म लोक ही लौकान्तिक देवों का आलय-निवास स्थान है।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक हैं।

लौकान्तिक शब्द में लोक शब्द से ब्रह्मलोक लिया गया है और अन्त शब्द का अर्थ कोना या निकट है। इससे यह अर्थ हुआ कि जो ब्रह्मलोक के निकट चारों ओर निवास करते हैं वे लौकान्तिक देव हैं। अथवा लोक का अर्थ संसार है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जिनका संसार निकट है वे लौकान्तिक देव हैं। ये सभी एक भव-धारण करके मोक्ष जाते हैं, इसलिये निकट संसारी हैं। लौकान्तिक देव विषयों से विरत रहते हैं इसलिये देवर्षि कहलाते हैं। ये इन्द्र आदि की कल्पना से भी रहित हैं और तीर्थंकरके निष्क्रमण—दीक्षा कल्याणक के समय आकर उन्हें प्रतिबोधित करने का अपना आचार पालन करते हैं। अन्य समय में ये अपने स्थान पर ही रहते हैं।

लौकान्तिक देवों के मुख्य आठ भेद हैं। जिनमें से सारस्वत पूर्वोत्तर अर्थात् ईशान कोण में, आदित्य पूर्व दिशा में, वह्नि पूर्व दक्षिण अर्थात् आग्नेय कोण में, अरुण दक्षिण दिशा में, गर्दतोय दक्षिण-पश्चिम अर्थात् नैऋत्य कोण में, तुषित पश्चिम दिशा में, अव्याबाध

पश्चिमोत्तर अर्थात् वायव्य कोण में तथा अरिष्ट उत्तर दिशा में रहते हैं। इनके अतिरिक्त सोलह प्रकार के लौकान्तिक देव और हैं जो इन आठों के मध्य में रहते हैं। सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ रहते हैं। आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ और सत्याभ रहते हैं। वह्नि और अरुण के मध्य में श्रेयस्कर और क्षेमंकर रहते हैं। अरुण और गर्दतोय के मध्य में वृषभेश और कामचर रहते हैं। गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माणरजः और दिगन्त रक्षित रहते हैं। तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्मरक्षित और सर्वरक्षित रहते हैं। अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य में मरुत् और वसु रहते हैं। तथा अरिष्ट और सारस्वत के मध्य में अश्व और विश्व रहते हैं।

इन सोलह भेदों का अन्तर्भाव आठ भेदों में हो जाता है तथापि उनका पृथक् अस्तित्व दिखलाने के लिये सूत्र में 'च' शब्द दिया है ॥ २४-२५ ॥

अनुत्तर विमान के देवों के विषय में खास नियम—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजयादिक में देव द्विचरम होते हैं।

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच विजयादिक हैं। इनमें से सर्वार्थसिद्धि को छोड़कर शेष चार विमानों में रहनेवाले देव द्विचरम हैं अर्थात् वे अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष जाते हैं। यथा—विजयादिक चार विमानों से च्युत होकर मनुष्य जन्म, अनन्तर मनुष्य पर्याय का त्याग कर चार अनुतर विमानों में देव जन्म, अनन्तर देव पर्याय का त्याग कर मनुष्य जन्म और अन्त में उसी जन्म से मोक्ष। परन्तु सर्वार्थसिद्धि के देव

एक भवावतारी होते हैं, अर्थात् वे वहाँ से च्युत होकर मनुष्य होते हैं और उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं।

शंका— सूत्र में द्विचरमता किसकी अपेक्षा से दी है ?

समाधान—मनुष्य भव की अपेक्षा से। अर्थात् विजयादिक से अधिक से अधिक दो बार मनुष्य होकर जीव मोक्ष हो जाता है यह इसका तात्पर्य है।

शंका—कोई-कोई विजयादिक के देव मनुष्य होते हैं। अनन्तर सौधर्म और ऐशान कल्प में देव होते हैं। अनन्तर मनुष्य होते हैं फिर विजयादिक में देव होते हैं और अन्त में वहाँ से च्युत होकर मनुष्य होते हैं तब कहीं मोक्ष जाते हैं। इस प्रकार इस विधि से विचार करने पर मनुष्य के तीन भव हो जाते हैं, इसलिये मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमपना नहीं ठहरता ?

समाधान— तब भी विजयादिक से तो दो बार ही मनुष्य जन्म लेना पड़ता है, इसलिये पूर्वोक्त कथन बन जाता है। ऐसा जीव यद्यपि मध्य में एक बार अन्य कल्प में हो आया है पर सूत्रकार ने यहाँ इसकी विवक्षा नहीं की है। उनकी दृष्टि यही बतलाने की रही कि विजयादिक से अधिक से अधिक कितनी बार मनुष्य होकर जीव मोक्ष जाता है।

शंका—नौ ग्रैवेयक तक के देवों के लिये भी मोक्ष जाने का कोई नियम है ?

समाधान—नौ ग्रैवयक तक अभव्य जीव भी पैदा होते हैं इसलिये वहाँ तक के देवों के लिये मोक्ष जाने का कोई नियम नहीं है ॥ २६ ॥

तिर्यंचों का स्वरूप—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

औपपादिक और मनुष्यों के सिवा शेष सब संसारी जीव तिर्यंचयोनिवाले हैं।

तिर्यंचों का अनेक जगह वर्णन आ चुका है पर वहाँ यह नहीं बतलाया गया कि तिर्यंच कौन हैं। इस सूत्र द्वारा यही बतलाया गया है। उपपाद जन्म से देव और नारक पैदा होते हैं यह पहले बतला आये हैं। आर्य और म्लेच्छ इस प्रकार मनुष्य दो प्रकार के हैं यह भी पहले बतला आये हैं। इन तीन गतियों के प्राणियों को छोड़कर जितने संसारी जीव शेष बचते हैं वे सब तिर्यंच हैं। ये देव, नारक और मनुष्यों के समान केवल पञ्चेन्द्रिय न होकर एकेन्द्रिय आदि के भेद से पाँच प्रकार के होते हैं। ये बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के होते हैं। इनमें से बादर तियच आधार से ही रहते हैं और सूक्ष्म तिर्यंच सब लोक में पाये जाते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि ये भेद एकेन्द्रिय तिर्यंचों के ही हैं। दो इन्द्रिय से लेकर शेष सब तिर्यंच बादर ही होते हैं। २७।

भवनवासियों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्ध-हीनमिता। २८।

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासियों की स्थिति क्रम से एक सागरोपम, तीन, ढाई, दो और डेढ़ पल्योपम है।

आगे सेंतीसवें सूत्र में सब भवनवासियों की जघन्य स्थिति बतलाई है इसलिए इस स्थिति को उत्कृष्ट समझना चाहिए। यद्यपि यह स्थिति सामान्य से असुरकुमार आदि अवान्तर भेदों की बतलाई है तो भी यह उस अवान्तर भेद में दक्षिण दिशा के इन्द्र की जाननी चाहिए। अर्थात् असुरकुमारों के दक्षिण दिशा के इन्द्र की स्थिति

एक सागरोपम की होती है। इसी प्रकार शेष नौ भेदों के दक्षिण दिशा के इन्द्रों की तीन पल्य आदि स्थिति जान लेना चाहिये। किन्तु इसी स्थिति को साधिक कर देने पर वह उत्तर दिशा के इन्द्रों की हो जाती है इतना यहाँ विशेष जानना चाहिये। इन असुरकुमार आदि के शेष सामानिक आदि भेदों की स्थिति लोकानुयोग के ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। सूत्र में ऐसे भेद की विवक्षा न करके स्थिति कही गई है। फिर भी वह किसके प्राप्त होती है यह व्याख्यान विशेष से ही जाना जाता है। २८।

वैमानिकों की उत्कृष्ट स्थिति—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके। २९।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त। ३०।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु। ३१।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च। ३२।

सौधर्म और ऐशान में कुछ अधिक दो सागरोपम स्थिति है।

सानत्कुमार माहेन्द्र में कुछ अधिक सात सागरोपम स्थिति है।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल से लेकर प्रत्येक युगल में क्रम से साधिक तीन से अधिक सात सागरोपम, साधिक सात से अधिक सात सागरोपम, साधिक नौ से अधिक सात सागरोपम, साधिक ग्यारह से अधिक सात सागरोपम, तेरह से अधिक सात सागरोपम और पन्द्रह से अधिक सात सागरोपम प्रमाण स्थिति है।

आरण-अच्युत के ऊपर नौ ग्रैवेयक में से प्रत्येक में; नौ अनुदिश में, चार विजयादिक में एक एक सागरोपम अधिक स्थिति है और सर्वार्थसिद्धि में पूरी तेंतीस सागरोपम प्रमाण स्थिति है।

वैमानिकों की आगे ३३ और ३४ वें सूत्र में जघन्य स्थिति बत-

लाई जायगी इससे ज्ञात होता है कि यह उत्कृष्ट स्थिति है। पहले स्वर्ग में सामान्यतः उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम की हानी है। किन्तु घातायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव यदि इन कल्पों में पैदा होता है तो उसकी स्थिति दो सागर से कुछ अधिक होती है, इसी से इन दोनों कल्पों की उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक कही है।

शंका—घातायुष्क सम्यग्दृष्टि का क्या मतलब है?

समाधान—जिसके देवायु का अधिक स्थिति बन्ध और पश्चात् संक्लेशरूप परिणामों से उसका स्थितिघात ये दोनों क्रियायें सम्यग्दर्शन के सद्भाव में होती हैं वह घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहलाता है। मतलब यह है कि जिस सम्यग्दृष्टि ने विशुद्ध परिणामों के निमित्त से देवायु का अधिक स्थिति बन्ध किया किन्तु पश्चात् परिणामों में संक्लेश बढ़ जाने से उस बाँधी हुई स्थिति का घात भी किया वह घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

ऐसा जीव यदि प्रथम कल्प युगल में उत्पन्न होता है तो वहाँ उसको अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरोपम तक उत्कृष्ट स्थिति पाई जाती है। आगे छठे कल्प युगल तक अपनी-अपनी स्थिति की यही व्यवस्था जानना चाहिये। क्योंकि घातायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव वहीं तक उत्पन्न होता है। इस प्रकार दूसरे कल्प युगल में सात सागरोपम से कुछ अधिक, तीसरे कल्प युगल में दस सागरोपम से कुछ अधिक, चौथे कल्प युगल में चौदह सागरोपम से कुछ अधिक पाँचवें कल्प युगल में सोलह सागरोपम से कुछ अधिक और छठे कल्पयुगल में अठारह सागरोपम से कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। षष्ठ कल्पयुगल से आगे अर्थात् तेरहवें आदि कल्प में घातायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होता इसलिये वहाँ कुछ अधिक स्थिति न कहकर पूरे सागरोपमों द्वारा स्थिति कही गई है। ३१ वें नम्बर के सूत्र में आये हुए 'तु' पद से यह विशेषता व्यक्त होती है।

इस प्रकार सातवें कल्पयुगल में बीस सागरोपम और आठवें कल्प-युगल में बाईस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति होती है। इसके आगे नौ ग्रैवेयकों में से प्रत्येक में एक-एक सागरोपम स्थिति बढ़कर अन्तिम ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। तथा नौ अनुदिशों में बत्तीस सागरोपम और चार अनुत्तरों में तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति होती है। सर्वार्थसिद्धि में पूरी तेतीस साग-रोपम उत्कृष्ट स्थिति है। २९-३२।

वैमानिकों की जघन्य स्थिति—

अपरा पल्योपममधिकम्। ३३।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा। ३४।

प्रथम कल्पयुगल में जघन्य स्थिति साधिक एक पल्योपम की है।

तथा पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर-अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

प्रस्तुत दो सूत्रों में दो बातें बतलाई गई हैं। प्रथम यह कि प्रथम कल्पयुगल में जघन्य स्थिति साधिक एक पल्योपम है और दूसरी यह कि पहले पहले की उत्कृष्ट स्थिति उसके आगे आगे की जघन्य स्थिति है। इसका यह अभिप्राय है कि प्रथम कल्प-युगल की उत्कृष्ट स्थिति दूसरे कल्पयुगल में जघन्य स्थिति है। तथा दूसरे कल्पयुगल की उत्कृष्ट स्थिति तीसरे कल्पयुगल में जघन्य स्थिति है। इसी प्रकार चार अनुत्तर विमानों तक समझना चाहिये। अर्थात् नौ अनुदिश विमानों की उत्कृष्ट स्थिति विजयादिक चार अनुत्तर विमानों की जघन्य स्थिति है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का भेद ही नहीं है, इसलिये उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई।

शङ्का—सूत्र से यह कैसे जाना कि सर्वार्थसिद्धि में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं होती ?

समाधान—३२वें सूत्र में 'सर्वार्थसिद्धौ' यह पाठ अलग रखा है, इससे ज्ञात होता है कि सर्वार्थसिद्धि में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं होती।

शङ्का—क्या पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही आगे आगे की जघन्य स्थिति होती है या उसमें कुछ विशेषता है ?

समाधान—पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति में एक समय मिलाने पर आगे आगे की जघन्य स्थिति होती है। उदाहरणार्थ—तेरहवें और चौदहवें कल्प की उत्कृष्ट स्थिति बीस सागरोपम है। इसमें एक समय मिला देने पर वह पन्द्रहवें और सोलहवें कल्प की जघन्य स्थिति होती है।

शङ्का—यह विशेषता सूत्र में क्यों नहीं कही ?

समाधान—अति सूक्ष्म होने से इसे सूत्र में नहीं कहा।

नारकों की जघन्य स्थिति—

नारकाणां च द्वितीयादिषु । ३५ ।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् । ३६ ।

दूसरा आदि भूमियों में नारकों की पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

पहली भूमि में दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है।

पहले चौंतीसवें सूत्र में देवों की जघन्य स्थिति का जो क्रम बतला आये हैं वही क्रम यहाँ द्वितीयादि भूमियों में नारकों की जघन्य स्थिति का है। अर्थात् पहली भूमि की एक सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति दूसरा भूमि में जघन्य स्थिति है और दूसरी भूमि की तीन सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति तीसरी भूमि में जघन्य स्थिति है। इसी प्रकार सातवीं भूमि तक जघन्य स्थिति जान लेना चाहिये। किन्तु इससे पहली भूमि में नारकों की जघन्य स्थिति ज्ञात नहीं होती, अतः उसका ज्ञान

कराने के लिये अलग से सूत्र रचा है। पहली भूमि में नारकों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है। ३५-३६।

भवनवासियों की जघन्य स्थिति—

भवनेषु च । ३७ ।

उसी प्रकार भवनवासियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है।

भवनवासियों के प्रत्येक अवान्तर भेद की उत्कृष्ट स्थिति अट्ठाइसवें सूत्र में बतला आये हैं किन्तु उनकी जघन्य स्थिति बतलाना शेष था जो इस सूत्र द्वारा बतलाई गई है। यह दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य स्थिति भवनवासियों के सब अवान्तर भेदों की है यह इस सूत्र का तात्पर्य है॥ ३७॥

व्यन्तरों की स्थिति—

व्यन्तराणां च । ३८ ।

परा पल्योपमधिकम् । ३८ ।

तथा व्यन्तरों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है।

और उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्योपम प्रमाण है।

सब प्रकार के व्यन्तरों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्योपम प्रमाण है यह प्रस्तुत सूत्रों का तात्पर्य है। ३८-३९।

ज्योतिष्कों की स्थिति—

ज्योतिष्काणां च । ४० ।

तदष्टभागोऽपरा । ४१ ।

इसी प्रकार ज्योतिष्कों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्योपम प्रमाण है।

और जघन्य स्थिति उनकी उत्कृष्ट स्थिति का आठवाँ भाग प्रमाण है।

ज्योतिष्कों के पाँच भेद हैं चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारका। इनमें से चन्द्र की स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम प्रमाण है। सूर्य की स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम प्रमाण है। ग्रहों में शुक्र की सौ वर्ष अधिक एक पल्योपम प्रमाण है। गुरु की पल्योपम प्रमाण है। बुध, मङ्गल और शनि आदि शेष ग्रहों की आधा पल्योपम प्रमाण है। तारकों और नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चौथा भाग प्रमाण है और सबकी जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवाँ भाग प्रमाण है ॥४०-४१॥

लौकान्तिकों की स्थिति—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् । ४२ ।

सब लौकान्तिकों की स्थिति आठ सागरोपम प्रमाण है।

अब तक देवों के सब भेद प्रभेदों की स्थिति का निर्देश तो किया किन्तु लौकान्तिक देवों की स्थिति नहीं बतलाई, इसलिये प्रकृत सूत्र द्वारा उसीका निर्देश किया गया है। सब लौकान्तिक देवों की स्थिति आठ सागरोपम प्रमाण होती है यह इस सूत्र का भाव है। इनमें स्थिति का जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं पाया जाता ऐसा यहाँ जानना चाहिये। ४२।

———

पांचवां अध्याय

सात तत्त्वों में से जीव तत्त्व का निरूपण दूसरे अध्याय से लेकर चौथे अध्याय तक किया। अब इस अध्याय में अजीव तत्त्व का निरूपण करते हैं।

अजीवास्तिकायके भेद—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। १।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय हैं।

अजीव शब्द जीव शब्द का निषेधपरक है, जो जीव नहीं वह अजीव इसका यह अभिप्राय है कि पहले उपयोग को जीव का लक्षण कहा है वह जिसमें नहीं पाया जाता वह अजीव है। इस प्रकार जीव के लक्षण का कथन करने से अजीव का लक्षण अपने आप फलित हो जाता है, इसलिये सूत्रकार ने अजीव का लक्षण न कहकर सर्व प्रथम उसके भेद गिनाए हैं।

सूत्रकार ने अजीव शब्द के साथ काय शब्द भी जोड़ा है। इस शब्द से प्रदेशों का बहुत्व जाना जाता है। इसका यह मतलब है कि सूत्रकार ने यहाँ उन अजीव पदार्थों को गिनाया है जो शरीर के समान बहुप्रदेशी होते हैं। अजीवों में ऐसे मूल पदार्थ चार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। अस्तिकाय का मतलब है बहुप्रदेशी भावात्मक पदार्थ। धर्मादिक ये चारों द्रव्य एक प्रदेशरूप न होकर प्रदेशों के प्रचय रूप हैं इसलिये तो कायवाले हैं और भावरूप हैं इसलिये अस्ति पदवाच्य हैं। इसीसे ये अस्तिकाय कहलाते हैं। यद्यपि पुद्गल द्रव्य मूलतः एक प्रदेशरूप है

प्रदेशों के प्रचयरूप नहीं फिर भी उसके प्रत्येक अणु में प्रचयरूप होने की शक्ति है, इसलिये उसकी परिगणना भी अस्तिकायों में की जाती है।

काल अजीव तत्त्व होकर भी कायवाला नहीं है इसलिये यहाँ उसकी परिगणना नहीं की गई है।

इन चार अस्तिकायों में से दर्शनान्तरों में आकाश का तो स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक आदि सभी आस्तिक दर्शनों में आकाश तत्त्व को स्वीकार किया है। पुद्गल तत्त्व को भी इन दर्शनों ने स्वीकार किया है सही पर वे इसका प्रकृति, परमाणु आदि रूप से नामोल्लेख करते हैं। किन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को अन्य किसी भी दर्शनान्तर में स्वीकार नहीं किया गया है पर इससे इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोकालोक का विभाग और गति स्थिति की साधारण कारणता इससे इनका अस्तित्व जाना जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसन्धान से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। गति, स्थिति और अवगाहन के साधारण कारण रूपसे भिन्न भिन्न तत्त्वों को स्वीकार करने की ओर उनका भी ध्यान गया है। इसके परिणाम स्वरूप वे तेजोवाही ईथर (eumaniferous-ether) क्षेत्र (field) और आकाश (space) इन तीन तत्त्वों को स्वतन्त्र रूपसे स्वीकार करने लगे हैं जिन्हें क्रमशः धर्म, अधर्म और आकाश स्थानीय माना जा सकता है। इन तीन तत्त्वों के विषय में अनुसन्धान होकर जो निष्पन्न हुआ है उसका विवरण आगे दिया जाता है।

ईथर का परिचय—

तेजोवाही ईथर सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है और यह विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति का माध्यम है। प्रकाश के तरंग सिद्धान्त के

अनुसन्धान के समय वैज्ञानिकों का ध्यान इस प्रकार के तेजोवाही माध्यम की ओर गया था और उन्होंने उस समय ईथर में पौद्गलिक गुणों की कल्पना की थी। ईथर में पौद्गलिक गुण आकार स्थापकत्व (rigidity) आदि होते हैं इस सिद्धान्त के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकाश तरंगों की विभिन्न दिशाओं में होनेवाली गति पर ईथर और पृथिवी की सापेक्ष गति (relative mation) के कारण प्रभाव पड़ना चाहिये। किन्तु माईकेलसन मार्ले के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि प्रकाश तरङ्गों की गति पर इस प्रकार का कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि ईथर पौद्गलिक नहीं है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का मत

प्रोफेसर एडिंग्टन ने 'नेचर ऑफ फिजिकल वर्ल्ड' पुस्तक में लिखा है कि 'आजकल यह सर्वसम्मत है कि ईथर किसी भी प्रकार की प्रकृति (matter) नहीं है। तथा प्रकृति से भिन्न होने के कारण उसके गुण भी बिल्कुल विशिष्ट होने चाहिये। मात्रा (mass) और आकारस्थापकत्व (rigidity) जैसे गुण भी उसमें नहीं होने चाहिये।' प्रोफेसर मैकसवॉनने 'रैस्टलैस यूनीवर्स' पुस्तक में पृष्ठ ११५ पर लिखा है कि 'माइकेलसन मॉर्ले-प्रयोग और सापेक्षवाद के सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि ईथर साधारण पार्थिव वस्तुओं से भिन्न होना चाहिये।'

क्षेत्र (field) का परिचय—

न्यूटन ने विश्व की स्थिरता का कारण गुरुत्वाकर्षण (gravitation) बताया था। इसके विषय में दो बातें थीं। प्रथम तो यह कि न्यूटन ने इसे सक्रिय शक्ति (aclive force) माना था। किन्तु सापेक्षवाद सिद्धान्त के आविष्कर्त्ता अलवर्ट आइन्स्टाइन ने यह सिद्ध कर दिया है कि गुरुत्वाकर्षण सक्रिय शक्ति नहीं है। दूसरी

बात यह कि गुरुत्वाकर्षण का कार्यसाधक (agent) पौद्गलिक है अथवा अपौद्गलिक इस विषय में उसने कुछ नहीं कहा था।

वैज्ञानिक लोग अभी तक सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रों आदि की स्थिरता का कारण और वस्तुओं के पृथिवी की ओर गिरने का कारण गुरुत्वाकर्षण मानते रहे हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह भी आभास मिला है कि गुरुत्वाकर्षण प्रकाश और अन्य विद्युत चुम्बकीय घटनाओं (electro mognetie phenomena) से सम्बद्ध है। किन्तु अब गुरुत्वाकर्षण और विद्युत् चुम्बकीय शक्ति के कार्य के माध्यम (medium) स्वरूप क्षेत्र (field) की ओर भी वैज्ञानिकों का ध्यान गया है। हेनशॉवार्ड ने एक स्थान पर लिखा है कि हम यह नहीं समझ सकते कि बिना माध्यम के शक्ति द्वारा दूरवर्ती स्थान पर कार्य कैसे किया जा सकता है। इस प्रकार यद्यपि वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया है सही किन्तु इसके गुणों के विषय में उनका कोई निश्चित मत नहीं है। इतना अवश्य है कि जहाँ उन्होंने इसमें पौद्गलिक गुण मानने का प्रयत्न किया है वहाँ उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आई हैं। सम्भव है कि भविष्य में वे इसको अपौद्गलिकता को स्वीकार कर लें और इस तरह गति का माध्यम ईथर की तरह स्थिति का माध्यम भी स्वीकार कर लिया जाय।

आकाश का परिचय—

जैन धर्म में बतलाये गये आकाश और वैज्ञानिकों के 'स्पेस' (space) के सिद्धान्त में बहुत कुछ साम्य है। इसके विषय में सापेक्षवाद के आचार्य प्रोफेसर एडिंग्टन ने 'द नेचर ऑफ द फिजीकल वर्ल्ड' पुस्तक में पृष्ठ ८० पर लिखा है कि 'सापेक्षवाद के सिद्धान्त के पूर्व वैज्ञानिक लोग आकाश को सीमित मानते थे, अनन्त आकाश की किसी ने कल्पना भी न की थी।...किन्तु सापेक्षवाद कहता है कि यदि आकाश सीमित है तो उसकी सीमा के बाहर क्या है, इसलिये

आकाश अनन्त है या ससीम है इस प्रश्न का वह इन शब्दों में उत्तर देता है कि आकाश ससीम है किन्तु उसका अन्त नहीं है। अंग्रेजी में इसी बात को 'फाइनाइट बट अनबाउन्डेड' (finite but unbounded) शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है।'

आइन्टाइन के मतानुसार आकाश (space) की ससीमता उसमें रहनेवाली प्रकृति (matter) के निमित्त से है। प्रकृति (पुद्गल) के अभाव में आकाश अनन्त है। १।

उक्त अस्तिकायों में द्रव्यपने की स्वीकारता—

द्रव्याणि। २।

धर्मास्तिकाय आदि उक्त चारों द्रव्य हैं।

जो अपनी अपनी पर्यायों में द्रवण अर्थात् अन्वय को प्राप्त होता है वह द्रव्य कहलाता है। द्रव्य की द्रव्यता यही है कि वह अपनी त्रिकाल में होनेवाली पर्यायों में व्याप कर रहे। इन धर्मास्तिकाय आदि में द्रव्य का यह लक्षण पाया जाता है इसलिये इन्हें प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य रूप से स्वीकार किया गया है।

पदार्थ न तो केवल पर्याय रूप ही है और न केवल अनादिनिधन या नित्य ही है किन्तु वह परिवर्तनशील होकर भी अनादिनिधन है। पूर्व सूत्र में जो चार धर्मास्तिकाय आदि गिना आये हैं। वे इस प्रकार के हैं यही इस सूत्र का आशय है!

वैशेषिक आदि ने द्रव्यत्व को पृथक् से सामान्य नामका पदार्थ माना है और उसके समवाय सम्बन्ध से पृथिवी आदि को द्रव्य स्वीकार किया है किन्तु द्रव्यत्व और पृथिवी आदि द्रव्यों की पृथक् पृथक् सिद्धि न होने से उनका ऐसा कथन करना युक्त प्रतीत नहीं होता। सांख्य पुरुष को तो कूटस्थ नित्य मानता है और प्रकृति को परिणामी नित्य। अब यदि पुरुष को कूटस्थ नित्य माना जाय तो

उसका प्रकृति के साथ संयोग नहीं बन सकता। तथा प्रकृति में परिणामी नित्यता तभी बन सकती है जब वह उसका स्वभाव मान लिया जाय। किन्तु परिणामी नित्यता यदि प्रकृति का स्वभाव स्वीकार किया जाता है तो मूल प्रकृति को विकार रहित कहना युक्त नहीं ठहरता। बौद्ध परम्परा में केवल सन्तान स्वीकार की गई है जो बिना सन्तानी के बन नहीं सकती। इससे स्पष्ट है कि ये सब मान्यताएँ केवल एक एक दृष्टिकोण की प्रधानता से ही स्वीकार की गई हैं जिससे मूल वस्तु के पूरे स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता, इसलिये ऊपर जैन मान्यता के अनुसार जो पदार्थ को परिवर्तन-शील होकर अनादिनिधन बतलाया है वही बतलाना युक्त प्रतीत होता है। २।

जीवों में द्रव्यपने की स्वीकारता—

जीवाश्च। ३।

जीव भी द्रव्य हैं।

द्रव्य का जो स्वरूप पिछले सूत्र में बतला आये हैं वह जीवों में भी पाया जाता है, यही बतलाने के लिये प्रस्तुत सूत्र की रचना हुई है। इससे मालूम पड़ता है कि अन्य द्रव्यों से जीव द्रव्य स्वतन्त्र है।

शंका—वैशेषिक दर्शन में पृथिवी आदि नौ द्रव्य स्वीकार किये हैं, उन्हें जैन दर्शन में द्रव्य रूप से पृथक् क्यों नहीं बतलाया है?

समाधान—वैशेषक दर्शन में जो नौ द्रव्य माने हैं उनमें से पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये स्वतन्त्र द्रव्य न होकर इनका अन्त-र्भाव पुद्गल द्रव्य में हो जाता है, क्योंकि ये पृथिवी आदि एक पुद्गल द्रव्य के विविध प्रकार के परिणमन हैं। इसी प्रकार मन का भी पुद्गल द्रव्य या जीव द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है। मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन। उनमें से द्रव्यमन का पुद्गल द्रव्य में

और भावमन का जीव द्रव्य में अन्तर्भाव होता है। तथा दिशा आकाश से पृथक् नहीं है, क्योंकि सूर्य के उदयादिक की अपेक्षा से आकाश में पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं का विभाग किया जाता है। इसलिये वैशेषिक दर्शन में स्वीकार किये गये सब द्रव्यों को जैन दर्शन में पृथक् रूप से स्वीकार नहीं किया है।

शंका—जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों पाये जाते हैं वह पृथिवी है। जिसमें रूप, रस और स्पर्श ये तीन पाये जाते हैं वह जल है। जिसमें रूप और स्पर्श पाया जाता है वह अग्नि है और जिसमें केवल रूप पाया जाता है वह वायु है। इस प्रकार ये स्वतन्त्र रूप से चार द्रव्य सिद्ध होते हैं। इन चारों को एक पुद्गल द्रव्य स्वरूप मानना उचित नहीं है?

समाधान—ये पृथिवी आदि जिन परमाणुओं से बने हैं उनकी जाति एक है यह वर्तमान विज्ञान से भी सिद्ध है, इसलिये इन चारों को स्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य मानना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ—वायु को व अन्य वातिओं (gases) को द्रव्य रूप में परिणत किया जा सकता है। तरल अवस्था में वायु का रंग हलका नीला होता है। अधिकांश वातियों के तरल रूप में वर्ण के साथ उनमें रस और गन्ध भी पाया जाता है। इसी प्रकार ताप के विषय में वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि जब किसी वस्तु में व्यूहाणु-उद्वेलन (molecularagitation) अधिक हो जाता है तब उसका ताप बढ़ जाता है और हमें गर्मी का अनुभव होने लगता है। यह एक प्रकार की ऊर्जा है और वैज्ञानिक लोग ऊर्जा तथा प्रकृति (पुद्गल) को एक मानते हैं। इससे सिद्ध है कि वायु और अग्नि स्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य न होकर पुद्गल की ही अवस्था विशेष हैं। इसी प्रकार जल भी स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है ऐसा समझना चाहिये। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकृति (matter) को ठोस, तरल और वातिरूप माना जाता है।

इस दृष्टि से पृथिवी, जल और वायु स्वयं ही पुद्गल में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अग्नि का अन्तर्भाव तो पहले कर ही आये हैं। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से विचार करने पर ये पृथिवी आदि चारों एक पुद्गल द्रव्य रूप हैं यह सिद्ध होता है इन्हें सर्वथा स्वतन्त्र मानना उचित नहीं।

दूसरे और तीसरे सूत्र द्वारा धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य हैं यह बतलाया गया है। अर्थात् द्रव्यत्व की अपेक्षा इन सबमें समानता पाई जाती है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। ३।

मूल द्रव्यों का साधर्म्य और वैधर्म्य—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि । ४ ।
रूपिणः पुद्गलाः । ५ ।
आ आकाशादेकद्रव्याणि । ६ ।
निष्क्रियाणि च । ७ ।

उक्त द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं।
पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्त हैं।
उक्त पाँच में से आकाश तक के द्रव्य एक एक हैं।
और निष्क्रिय हैं।

इन चार सूत्रों द्वारा उक्त पाँच द्रव्यों का साधर्म्य और वैधर्म्य दिखलाया गया है। साधर्म्य से किसी धर्म की अपेक्षा समानता और वैधर्म्य से किसी धर्म की अपेक्षा असमानता ली जाती है। नित्यत्व और अवस्थितत्व ये दो धर्म ऐसे हैं जो उक्त पाँचों द्रव्यों में समान हैं। धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य नित्य हैं अर्थात् वे कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते और अवस्थित हैं अर्थात् वे

अपनी संख्या का उल्लंघन नहीं करते, यह उक्त कथन का तात्पर्य है। किन्तु इनमें धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य ही अरूपी हैं पुद्गल द्रव्य नहीं। वह तो रूपी है। इसलिये इसकी अपेक्षा धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्यों में ही साधर्म्य पाया जाता है, पुद्गल द्रव्य का वह वैधर्म्य है। इसी प्रकार पुद्गलों में रहनेवाला रूपित्व इन धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का वैधर्म्य है।

शंका—नित्यत्व और अवस्थितत्व में क्या अन्तर है?

समाधान—अपने अपने विशेष और सामान्य स्वरूप से कदाचित् भी च्युत होना नित्यत्व है और द्रव्यों की जितनी संख्या है उसे उल्लंघन नहीं करना अर्थात् नये द्रव्य की उत्पत्ति न होकर द्रव्य जितने हैं उतने कायम रहना अवस्थितत्व है। जैसे धर्म द्रव्य अपने गतिहेतुत्वात्मक सामान्य धर्म को कभी नहीं छोड़ता, इसलिए वह नित्य है। इसी प्रकार सभी द्रव्यों में नित्यत्व घटित कर लेना चाहिये। तथा सब द्रव्य छह हैं इस प्रकार छह रूप संख्या का कोई भी द्रव्य त्याग नहीं करता इसलिए वे अवस्थित हैं। इसका आशय यह है कि वे अपने अपने स्वरूप में स्थिर रहते हुए भी अन्य वस्तु के स्वरूप को नहीं प्राप्त होते। जैसे अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ भी धर्म द्रव्य कभी भी अधर्मादि अन्य द्रव्यों के स्वरूप को नहीं प्राप्त होता। यहाँ द्रव्यों को नित्य कहने से उनका शाश्वतपना सूचित किया गया है और अवस्थित कहने से परस्पर का असांकर्य सूचित किया गया है। अभिप्राय यह है कि धर्मादिक द्रव्य कायम रहते हुये भी उनमें अनेक प्रकार का परिणमन होता है, इसलिये अवस्थित पद के देने से यह ज्ञात होता है कि धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये न कभी मूर्त होते हैं और न उपयोग रूप, इसी प्रकार जीव कभी अचेतन नहीं होता और पुद्गल कभी चेतन तथा अमूर्त नहीं होता। वे सदा जैसे हैं वैसे ही बने रहते हैं।

शंका—धर्मादिक चार द्रव्य अरूपी हैं इसका क्या आशय है ?

समाधान—यद्यपि अरूपी शब्द में रूप पद वर्णवाची है तथापि इससे उसके अविनाभावी रस, गन्ध और स्पर्श इन सबका ग्रहण हो जाता है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि धर्मों से रहित हैं ॥ ४ ॥

रूप शब्द का अर्थ मूर्ति है। इसलिये पुद्गल रूपी है इसका अर्थ हुआ कि पुद्गल मूर्त है। यहां मूर्ति से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सभी इन्द्रिय ग्राह्य गुणोंका ग्रहण होता है। ये सब गुण पुद्गल में पाये जाते हैं इसलिये पुद्गल ही मूर्त है इसे छोड़कर शेष सब द्रव्य अमूर्त हैं।

शंका—मूर्त और आकार ये शब्द कभी कभी एक अर्थ में भी आते हैं इसलिये क्या धर्मादिक द्रव्य अमूर्त के समान आकार रहित भी होते हैं ?

समाधान—वास्तव में आकार शब्द संस्थानवाची और स्वरूप-वाची है। कभी कभी इसका अर्थ वर्ण भी ले लिया जाता है। जब आकार का अर्थ वर्ण लिया जाता है तव तो आकार और मूर्ति शब्द समानार्थक हो जाते हैं। परन्तु इसप्रकार का आकार धर्मादिक द्रव्यों में नहीं पाया जाता इसलिये वे निराकार परिगणित किये जाते हैं। किन्तु जब आकार का अर्थ स्वरूप किया जाता है तब धर्मादिक द्रव्य भी साकार ठहरते हैं, क्योंकि उनका भी अपना अपना स्वरूप है, इसलिये उन्हें सर्वथा आकार रहित नहीं कहा जा सकता है।

शंका—यदि ये रूप रसादिक इन्द्रिय ग्राह्य गुण हैं तो परमाणुका भी ग्रहण होना चाहिये, क्यों कि इसमें भी ये गुण पाये जाते हैं ?

समाधान—इन्द्रियां स्थूल पुद्गल को ही ग्रहण करती हैं। यतः परमाणु अतिसूक्ष्म होता है इसलिये उसमें रूप रसादिक के रहते हुए

भी उनका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता। पर इससे रूप रसादिक की इन्द्रिय ग्राह्यता समाप्त नहीं हो जाती है॥ ५॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य एक एक हैं। इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि क्षेत्र भेद और भाव भेद आदि की अपेक्षा ये असंख्यात और अनन्त हैं पर द्रव्यकी अपेक्षा एक एक ही हैं, जीवों और पुद्गलों की तरह अनेक नहीं।

इसी प्रकार ये तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं। द्रव्य की वह प्रदेश चलनात्मक पर्याय जो एक देश से दूसरे देश में प्राप्तिका हेतु हो क्रिया कहलाती है। इस प्रकार की क्रिया से उक्त तीन द्रव्य रहित हैं इसलिये वे निष्क्रिय माने गये हैं। अर्थात् इन तीन द्रव्यों का देशान्तर में गमनागमन नहीं होता। इस प्रकार एक द्रव्यत्व और निष्क्रियत्व ये दोनों धर्म धर्मास्तिकाय आदि उक्त तीनों द्रव्यों का साधर्म्य है और जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय इन दोनों द्रव्यों का वैधर्म्य है।

शंका—पर्याय और क्रिया में क्या अन्तर है?

समाधान—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये पर्याय हैं और एक देशसे दूसरे देशको प्राप्त होने में जो हलन चलन होता है वह क्रिया है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप अवस्थाएं छहों द्रव्यों में होती हैं किन्तु क्रिया संसारी जीव और पुद्गल इन दो में ही होती है इसलिये इन दो द्रव्यों के सिवा शेष द्रव्योंको निष्क्रिय कहा है।

शंका—यदि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य स्वयं निष्क्रिय हैं तो वे अन्य क्रियावान् जीवादि द्रव्योंके गमनादि में कारण कैसे हो सकते हैं।

समाधान—गमनादि में ये निमित्तमात्र हैं, इसलिये निष्क्रिय होने पर भी इन्हें अन्य द्रव्यों के गमनादि में कारण मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है॥ ६-७॥

उक्त द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या का विचार—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

नाणोः ॥ ११ ॥

धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश होते हैं।

आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं।

पुद्गल द्रव्यके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं।

अणुके प्रदेश नहीं होते।

पहले धर्म आदि पांचों द्रव्यों को कायवाला कह आये हैं और कायवालेका अर्थ है बहुप्रदेशी। परन्तु वहां उनके प्रदेशों की संख्या नहीं बतलाई गई है जिसका बतलाया जाना आवश्यक था, इसलिये प्रस्तुत सूत्रों द्वारा उनके प्रदेशोंकी संख्या बतलाई गई है।

आकाश के जितने स्थान को एक अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है वह प्रदेश है। इसमें अनन्त पुद्गल परमाणुओं को बद्ध और अबद्ध दशा में अवकाश देने की योग्यता है। इस हिसाब से गणना करने पर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश होते हैं। इन द्रव्यों के ये प्रदेश परस्पर में सम्बद्ध हैं। इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश होते हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश ये आकाश के दो भेद हैं। जितने आकाश में धर्मादि सब द्रव्य विलोके जाते हैं वह लोकाकाश है और शेष अलोकाकाश। लोकाकाश अलोकाकाश के अत्यन्त मध्य में स्थित है और इसका आकार पूर्व पश्चिम दिशा में कटि पर दोनों हाथ रखे हुए और पैर फैला कर खड़े हुए पुरुष के समान है।

इनमें से लोककाश के असंख्यात प्रदेश हैं। प्रस्तुत सूत्र में लोकाकाश और अलोकाकाश यह भेद न करके सामान्य आकाश के प्रदेश बतलाये गये हैं जो कि अनन्त हैं॥ ८–९॥

पुद्गल द्रव्य के प्रदेश इतर द्रव्यों के समान निश्चित नहीं हैं, क्यों कि मूल में पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप है। किन्तु बन्ध के कारण कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का होता है, कोई स्कन्ध असंख्यात प्रदेशोंका होता है, कोई स्कन्ध अनन्त प्रदेशोंका और कोई स्कन्ध अनन्तानन्त प्रदेशोंका होता है।

पुद्गल द्रव्य और इतर द्रव्यों में यही अन्तर है कि पुद्गल स्कन्धोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश बन्ध के कारण होते हैं, इस लिये उसके प्रदेश उन स्कन्धों से अलग अलग हो सकते हैं किन्तु अन्य द्रव्यों के प्रदेशोंका बन्ध प्राकृतिक है इस लिये उनके प्रदेश अपने अपने स्कन्धोंसे अलग नहीं हो सकते। कालाणुओंका परस्पर में संयोग तो है किन्तु बन्ध नहीं, इस लिये जितने कालाणु हैं उतने काल द्रव्य कहे गये हैं।

जैसा कि पहले बतलाया गया है कि पुद्गल द्रव्य मूल में अणुरूप है उसका विभाग नहीं किया जा सकता, इसलिये अणुके प्रदेश नहीं होते यह कहा है। इसके सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा है कि 'जिसका आदि, अन्त और मध्य नहीं पाया जाता, जिसे इन्द्रियों से नहीं ग्रहण किया जा सकता और जो अप्रदेशी है, अर्थात् एक प्रदेश रूप होनेके कारण जिसके दो या दोसे अधिक प्रदेश नहीं पाये जाते वह परमाणु है।' सो इसका आशय यह है कि परमाणु से अल्प परिमाणवाली और कोई वस्तु नहीं पाई जाती इसलिये प्रदेशभेदकी कल्पना सम्भव न होने से उसे अप्रदेशी माना है।

शंका—यदि परमाणु सर्वथा अप्रदेशी है तो उसका एक साथ अनेक परमाणुओं के साथ संयोग कैसे होता है?

समाधान—जैसे द्व्यणुकका विभाग होकर दो परमाणु निष्पन्न होते हैं वैसे परमाणुका विभाग नहीं हो सकता, इसलिये द्रव्यदृष्टि से उसे निरंश माना है। किन्तु पर्यायदृष्टि से उसमें भी पूर्व भाग, पश्चिम भाग आदिरूप अंश कल्पना की जासकती है अन्यथा एक साथ अनेक परमाणुओं के साथ उसका बन्ध नहीं हो सकता।

शंका—यतः बन्ध भी हो जाय और अंश कल्पना भी न करना पड़े इस लिये परमाणुओंका बन्ध परस्पर में सर्वात्मना होता है ऐसा मान लेना चाहिये ?

समाधान—परमाणुओं का बन्ध परस्पर में सर्वात्मना होता है ऐसा मानने पर वह केवल एक प्रदेशावगाही प्राप्त होगा जो इष्ट नहीं है, इसलिये पर्यायार्थिक दृष्टि से परमाणु के अंश मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका—तो फिर अनन्त परमाणु बद्ध और अबद्ध दशामें एक प्रदेश पर भी रहते हैं, यह कथन कैसे बनेगा ?

समाधान—एक तो परमाणु अति सूक्ष्म होने से वह अपने निवास क्षेत्र में अन्य परमाणु को आने से रोकता नहीं इसलिये एक प्रदेश पर अनन्त परमाणु समा जाते हैं। दूसरे एक परमाणु का दूसरे परमाणु या परमाणुओं से बन्ध कथंचित् एकदेशेन होता है और कथंचित् सर्वात्मना, इसलिये बद्ध दशा में अनन्त परमाणु एक प्रदेश पर भी रह जाते हैं और एकाधिक प्रदेशों पर भी। कोई बन्ध सूक्ष्म भाव को लिये हुए होता है और कोई बन्ध स्थूलभाव को लिये हुए होता है। इससे भी अवगाह में अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह है कि अबद्ध दशा में एक प्रदेश पर एक साथ जितने परमाणु प्राप्त होते हैं वे सब अवगाहन गुण की विशेषता के कारण वहाँ समा जाते हैं और बद्ध दशा में जिस जाति का बन्ध होता है उसके अनुसार अवगाह क्षेत्र लगता है। कोई बन्ध ऐसा होता है जो अनन्त परमाणुओं का होकर भी एकप्रदेशावगाही

होता है और कोई बन्ध ऐसा होता है जो दो परमाणुओं का होकर भी दो प्रदेशावगाही होता है। इसलिये बन्ध सर्वथा सर्वात्मना होता है यह भी नहीं मानना चाहिये और सर्वथा एकदेशेन होता है यह भी नहीं मानना चाहिये।

शंका—प्रदेश और परमाणु में क्या अन्तर है?

समाधान—वैसे तो कोई अन्तर नहीं है किन्तु केवल व्यवहार का अन्तर है। जो विभक्त है या बँधकर बिछुड़ सकता है वहाँ परमाणु या अणु व्यवहार होता है और जहाँ विभाग तो नहीं है और विभाग हो भी नहीं सकता किन्तु केवल बुद्धि से विभाग की कल्पना की जाती है वहाँ प्रदेश व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ—पुद्गल द्रव्य के परमाणु अलग-अलग हैं या अलग हो सकते हैं इसलिये पुद्गल द्रव्य में मुख्यतया अणु व्यवहार देखा जाता है यही बात काल द्रव्य की है। उसके अणु भी अलग अलग हैं इसलिये वहाँ भी अणु व्यवहार होता है। किन्तु शेष द्रव्यों के प्रदेश न तो विभक्त हैं और न विभाग किया जा सकता है किन्तु केवल बुद्धि से विभाग की कल्पना की जाती है इसलिये वहाँ प्रदेश व्यवहार होता है॥ १०-११॥

द्रव्यों के अवगाह क्षेत्र का विचार—

लोकाकाशेऽवगाहः॥ १२॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने॥ १३॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्॥ १४॥

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्॥ १५॥

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्॥ १६॥

आधेयभूत द्रव्यों का अवगाह लोककाश में ही है।

धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह समग्र लोकाकाश में है।

पुद्गल का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से होता है।

जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग आदि में विकल्प से होता है।

क्योंकि जीव के प्रदेशों का प्रदीप के समान संकोच और विस्तार होता है।

लोक छह द्रव्यों का पिण्ड है। लोकाकाश का ऐसा एक भी प्रदेश नहीं जहाँ छह द्रव्य न हों। अब प्रश्न यह है कि इन छह द्रव्यों में से कौन कौन द्रव्य आधेय हैं और कौन कौन द्रव्य आधार हैं? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये प्रस्तुत सूत्रों की रचना हुई है। उनमें बतलाया है कि मात्र आकाश द्रव्य ही आधार है और शेष सब द्रव्य आधेय हैं। अर्थात् धर्मादि पाँच द्रव्यों की स्थिति आकाश में है और आकाश स्वप्रतिष्ठ है। अब प्रश्न यह होता है कि जैसे धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है वैसे आकाश का अन्य आधार होना चाहिये? तो इसका यही उत्तर है कि आकाश का परिमाण सबसे बड़ा है इसलिये उसका कोई दूसरा आधार नहीं है। तथापि धर्मादि द्रव्य आधेय हैं और आकाश आधार है यह सब कथन औपचारिक है तत्त्वत: सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ हैं अर्थात् सभी द्रव्य अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं, कोई किसी का आधार या आधेय नहीं है। तो भी धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं पाये जाते, केवल इसी अपेक्षा से यहाँ आधाराधेय भाव की कल्पना की गई है।

आधाराधेय विचार

ये धर्मादिक द्रव्य समग्र आकाश में नहीं रहते। वे उसके अमुक भाग में ही पाये जाते हैं। इस प्रकार जितने भाग में वे पाये जाते हैं उतना आकाश लोकाकाश कहलाता है। तथा इस भाग के चारों ओर जो अनन्त आकाश विद्यमान है

लोकालोक विभाग

उसमें ये धर्मादिक द्रव्य नहीं पाये जाते इसलिये वह आलोकाकाश कहलाता है।

उक्त धर्मादि द्रव्यों में से धर्म और अधर्म द्रव्य का समग्र लोकाकाश में अवगाह है अर्थात् ये दोनों द्रव्य समग्र लोकाकाश को ऐसे व्याप्त कर स्थित हैं जैसे तिल में तैल। वास्तव में लोकालोक का विभाग इन दोनों द्रव्यों के कारण ही है। जितने आकाश में ये दोनों द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और शेष आलोकाकाश।

यदि पुद्गल व्यक्तियों के अवगाह क्षेत्र का या व्यक्तियों से मिलकर बने हुए विविध स्कन्धों के अवगाह क्षेत्र का विचार न करके सामान्य से पुद्गल द्रव्य मात्र के अवगाह क्षेत्र का विचार किया जाय तो वह समग्र लोक प्राप्त होता है, क्योंकि पुद्गल द्रव्य समग्र लोक में व्याप्त कर स्थित है। किन्तु यहाँ पर सामान्य से पुद्गल द्रव्य मात्र के अवगाह क्षेत्र का विचार न किया जाकर पुद्गल व्यक्तियों के अवगाह क्षेत्र का या व्यक्तियों से मिलकर बने हुए विविध स्कन्धों के अवगाह क्षेत्र का विचार किया गया है। इसमें भी पुद्गल व्यक्ति परमाणु रूप एक ही प्रकार के होते हैं इसलिये उनमें से प्रत्येक का अवगाह क्षेत्र लोकाकाश का एक प्रदेश ही प्राप्त होता है किन्तु हीनाधिक इन परमाणुओं के संयोग से बने हुए स्कन्ध विविध प्रकार के होते हैं इसलिये उनका अवगाह क्षेत्र भी विविध प्रकार का होता है। जो दो परमाणुओं के संयोग से स्कन्ध बनता है उसका अवगाह क्षेत्र एक या दो प्रदेश होते हैं, क्योंकि यदि उन परमाणुओं का बन्ध एक क्षेत्रावगाही होता है तो अवगाह क्षेत्र एक प्रदेश होता है और यदि उनका बन्ध एक क्षेत्रावगाही नहीं होता है तो अवगाह क्षेत्र दो प्रदेश होता है। इसी प्रकार तीन, चार, पाँच, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के सम्बन्ध से बने हुए स्कन्ध का अवगाह क्षेत्र एक, दो,

धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव द्रव्य के अवगाह का विचार

तीन, चार, पाँच, संख्यात और असंख्यात प्रदेश जान लेना चाहिये। यहाँ इतनी विशेषता है कि स्कन्ध में उत्तरोत्तर परमाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है और अवगाह क्षेत्र हीन होता जाता है तभी तो अनन्तानन्त परमाणुओं का स्कन्ध लोक के असंख्यातवें भाग में समा जाता है। इस प्रकार पुद्गलों का अवगाह विकल्प से लोक के एक प्रदेश में है, दो प्रदेशों में है, संख्यात प्रदेशों में है और असंख्यात प्रदेशों में है यह सिद्ध होता है।

जैन परम्परा में जीव का कोई एक संस्थान नहीं माना गया है, उसे अव्यक्त संस्थानवाला या अनिर्दिष्ट आकारवाला बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि स्वभावतः जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने एक जीव के प्रदेश हैं। परन्तु अनादि काल से वह स्वतन्त्र नहीं है, कर्मबन्धनसे बद्ध है, इसलिये बन्धन अवस्था में उसे छोटा बड़ा जितना शरीर मिलता है उसके बराबर वह हो जाता है और मुक्त अवस्था में जिस अन्तिम शरीर से वह मुक्त होता है उससे कुछ न्यून रहता है। जैन न्याय ग्रन्थों में आत्मा की व्यापकता और अणुपरिमाणता दोनोंका निषेध करके उसे जो मध्यम परिमाणवाला बतलाया गया है वह इसी अपेक्षा से बतलाया गया है। शरीर भी सबका एकसा न होकर किसी का सबसे छोटा होता है, किसी का उससे कुछ बड़ा और किसी का सबसे बड़ा। सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाई है और महामत्स्य की संख्यात घनांगुल प्रमाण, इसी से अवगाहना के छोटे-बड़ेपने का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु यह केवल अनुमान का ही विषय नहीं है प्रत्यक्ष से भी ऐसा प्रतीत होता है। हम देखते हैं कि लोक में ऐसी अवगाहनावाले जीव भी मौजूद हैं जो बहुत ही कठिनाई से देखे जा सकते हैं या जिन्हें देखने के लिये खुर्दबीन की आवश्यकता पड़ती है। और बहुत से जीव तो इतने

पर भी नहीं दिखाई देते हैं। तथा हाथी जैसे या हाथी से बड़ी अव-गाहनावाले जीव भी मौजूद हैं, इसलिये यह विचारणीय बात हो जाती है कि एक जीव का अवगाह क्षेत्र कम से कम कितना है और अधिक से अधिक कितना है ? इसी बात का विचार करते हुए बतलाया है कि एक जीव का अवगाह क्षेत्र कम से कम लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और अधिक से अधिक समग्र लोक है। यहाँ लोक के असंख्यातवें भाग से अंगुल का असंख्यातवाँ भाग लेना चाहिये। कम से कम जीव की अवगाहना इतनी है। इसके बाद अवगाहना बढ़ने लगती है जो बढ़ते बढ़ते सम्पूर्ण लोक प्रमाण प्राप्त होती है। यह लोक प्रमाण अवगाहना प्रत्येक जीव के सम्भव नहीं है। किन्तु केवली के केवल समुद्घात की दशा में अपने आत्मप्रदेशों से समग्र लोक को व्याप्त कर लेने पर उक्त अवगाहना प्राप्त होती है। यह सब अवगाहना एक जीव की अपेक्षा से बतलाई गई है। यदि सब जीवों की अपेक्षा से विचार किया जाता है तो अवगाह क्षेत्र सब लोक प्राप्त होता है, क्योंकि सब जीव राशि समग्र लोक को व्याप्त कर स्थित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि परस्पर जीवों की अवगाहना में इतना अन्तर क्यों पड़ता है। इसका यह उत्तर है कि प्रत्येक संसारी जीव के कर्म लगे हुए हैं जिनके कारण उसे जब जैसा शरीर मिलता है तब उसकी वैसी अवगाहना हो जाती है—क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि निमित्तानुसार वह प्रदीप की तरह संकोच और विकोच को प्राप्त होता रहता है। यदि दीपक को खुले मैदान में रख दिया जाता है तो उसका प्रकाश बहुत दूर तक फैल जाता है और यदि किसी छोटे बड़े अपवरक में रख दिया जाता है तो उसका प्रकाश उस अपवरक तक ही सीमित रहता है वैसे ही जीव द्रव्य के प्रदेशों में भी सकुड़ने और फैलने की क्षमता है। उसे जब जैसा छोटा बड़ा शरीर मिलता है उसके अनुसार उसकी अवगाहना हो जाती है।

शंका—यदि संकोच स्वभाव होने के कारण जीव की अवगाहना छोटी होती है तो उसकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग से और छोटी क्यों नहीं हो जाती है ?

समाधान—जीव को जैसा शरीर मिलता है उसके अनुसार अवगाहना होती है, यतः सबसे जघन्य शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है अतः इससे छोटी अवगाहना नहीं होती।

शंका—लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और जीव तथा पुद्गल अनन्तानन्त हैं, अतः इतने कम क्षेत्र में ये सब जीव और पुद्गल कैसे समा जाते हैं ?

समाधान—यद्यपि बादर जीव सप्रतिघात शरीर होते हैं परन्तु सूक्ष्म जीव सशरीर होते हुए भी यतः सूक्ष्म भाव को प्राप्त हैं और एक निगोद शरीर में अनन्तानन्त निगोद जीव रह सकते हैं अतः लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों का समावेश विरोध को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी सूक्ष्म रूप से परिणत होने की क्षमता रखते हैं, इसलिये उनका भी एक स्थान में परस्पर में बिना व्याघात पहुँचाए अवस्थान बन जाता है, इसलिये लोकाकाश में अनन्तानन्त पुद्गलों का समावेश भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है ॥ १२-१६ ॥

धर्म और अधर्म द्रव्यों के कार्य पर प्रकाश—

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

गति और स्थिति में सहायक होना यह क्रमशः धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है ॥ १७ ॥

द्रव्यों का पृथक् पृथक् अस्तित्व उनके स्वभाव गुण और कार्य या उपयोगिता पर अवलम्बित है। अधिकतर सूक्ष्म तत्त्वों के स्वभाव गुणका पता भी उनके कार्यों से लगता है। इसके लिये हमें एक स्थलपर स्थित विविध तत्त्वों का विविध कार्यों द्वारा विश्लेषण करना पड़ता

है। शरीर से आत्मा पृथक् है यह विश्लेषण द्वारा ही तो जाना जाता है। मृत व्यक्ति के शरीर को जब हम पुस्तक आदि अन्य निर्जीव पदार्थों की तरह निश्चेष्ट और इन्द्रियों के व्यापार से रहित देखते हैं वास्तव में तब हमें शरीर और आत्मा का विवेक ज्ञात होता है। इसी प्रकार धर्मादिक द्रव्योंका अस्तित्व भी इनके कार्यों द्वारा ही जाना जा सकता है, क्योंकि पुद्गल द्रव्यको छोड़कर शेष सब द्रव्य अमूर्त हैं। छद्मस्थ जन उनका साक्षात्कार नहीं कर सकते। अब प्रश्न यह है कि वे कौन से कार्य हैं जिनसे धर्म और अधर्म द्रव्यका अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्नका उत्तर दिया गया है। संसार में जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ गतिशील भी हैं और स्थितिशील भी। इनके अतिरिक्त शेष सब पदार्थ निष्क्रिय होने से स्थितिशील ही हैं किन्तु यहां पर गतिपूर्वक होने वाली स्थिति और स्थितिपूर्वक होनेवाली गति विवक्षित है जो जीव और पुद्गल इन दोके सिवा अन्यत्र नहीं पाई जाती। यद्यपि जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य स्वयं गमन करते हैं और स्वयं स्थित भी होते हैं इसलिये ये इनके परिणाम हैं अर्थात् गति क्रिया और स्थिति क्रिया ये जीव और पुद्गलको छोड़कर अन्यत्र नहीं होती इसलिये ये ही इन दोनों क्रियाओंके उपादान कारण हैं। जो कारण स्वयं कार्यरूप परिणम जाता है वह उपादान कारण कहलाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण और निमित्त कारण इन दोके मेल से होता है, केवल एक कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। छात्र सुबोध है पर अध्यापक या पुस्तकका निमित्त न मिले तो वह पढ़ नहीं सकता। यहां उपादान है किन्तु निमित्त नहीं इसलिये कार्य नहीं हुआ। छात्रको अध्यापक या पुस्तकका निमित्त मिल रहा है पर वह मन्दबुद्धि है, इस लिये भी वह पढ़ नहीं सकता। यहां निमित्त है किन्तु उपादान नहीं, इस लिये कार्य नहीं हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गति और स्थिति का कोई निमित्त

कारण होना चाहिये, क्यों कि निमित्त के बिना केवल उपादान से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये जैन सिद्धान्त में धर्म और अधर्म द्रव्य माने गये हैं। धर्म द्रव्यका कार्य गमन में सहायता करना है और अधर्म द्रव्यका स्वभाव ठहरने में सहायता करना है।

शंका—जीवों और पुद्गलोंके गमन करने और स्थित होने में अलग अलग निमित्त कारण देखे जाते हैं। जैसे मछली के गमन करने में जल निमित्तकारण है और पथिक के ठहरने में छाया निमित्त कारण है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये, अतएव धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—निमित्त कारण भी साधारण और असाधारण के भेद से दो प्रकार के होते हैं। साधारण निमित्त वे हैं जो सब कार्यों के होने में समानरूपसे निमित्त होते हैं और असाधारण निमित्त वे हैं जो कुछ कार्यों के होने में निमित्त होते हैं और कुछ कार्यों के होने में निमित्त नहीं होते। मछली के गमन करने में जल निमित्त है सही पर वह मछली के गमन में ही निमित्त है सब जीवों और पुद्गलोंके गमन में नहीं किन्तु यहां विचार ऐसे निमित्त कारण का चला है जो सब जीवों और पुद्गलोंके गमन में या स्थितिमें निमित्त कारण बन सके। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यका यही काम है, इसीलिये ये दोनों स्वतन्त्र द्रव्य माने गये हैं।

शंका—आकाश द्रव्य सर्वत्र है, इस लिये गति और स्थिति इन दोनों का निमित्त कारण आकाश को मान लेने में क्या आपत्ति है?

समाधान—आकाश का कार्य अवकाश देना है अतः गति और स्थिति में उसे निमित्त नहीं माना जा सकता।

शंका—तो फिर धर्म और अधर्म इनमें से किसी एकको ही गति और स्थिति का निमित्त मान लेना चाहिये?

समाधान—एक कारण से विरोधी दो कार्यों की सिद्धि मानना उचित नहीं है। यतः गति और स्थिति ये परस्पर विरोधी कार्य हैं अतः इनके निमित्त कारण भी जुदे जुदे माने गये हैं। यही कारण है कि धर्म और अधर्म ये स्वतन्त्र दो द्रव्य माने गये हैं।

शंका—गति और स्थितिरूप क्रिया में कारण होने की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्यकी अवस्थिति मानना उचित नहीं है क्योंकि इससे उनके स्वरूपास्तित्व की प्रतीति नहीं होती ?

समाधान—यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व प्रत्यक्ष-ज्ञानियों का विषय है किन्तु छद्मस्थ जीव उनका ज्ञान उनके कार्य द्वारा ही कर सकते हैं यही कारण है कि यहां गति और स्थितिरूप उपकार की अपेक्षा उनके अस्तित्वका ज्ञान कराया गया है॥ १७॥

आकाश द्रव्य के कार्य पर प्रकाश—

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अवकाश में सहायक होना यह आकाश द्रव्य का उपकार है।

संसारके जड़ और चेतन जितने पदार्थ हैं उनमें से बहुत से तो ठहरे हुए हैं और बहुत से गमनशील हैं। उनके ये दोनों कार्य बिना आधार के नहीं बन सकते हैं। आकाश में उड़नेवाला पक्षी पंखों से अपने नीचे ऐसा वातावरण तैयार करता है जो उसे नीचे गिरने से बचाता है। जहां दस आदमी बैठ सकते हैं वहां बारह इसलिये नहीं समाते कि दससे अधिक के लिये वहां क्षेत्र या आधार नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि जग में ऐसा कोई एक पदार्थ है जो सबके लिये अवकाश देता है क्यों कि अवकाश के होने पर ही प्रत्येक पदार्थ की गति या स्थिति हो सकती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये आकाश द्रव्य माना गया है। इसका मुख्य कार्य सबको अवकाश देना है। यदि किसी आकाश-क्षेत्र में कुछ रुकावट होती है तो यह

आकाशका दोष नहीं है किन्तु यह वहां स्थित मूर्त पदार्थ का दोष है जो अपनी स्थूलता के कारण अन्य स्थूल पदार्थ को वहां ठहरने में रुकावट खड़ा करता है। आकाश का काम किसी की स्थूलता या सूक्ष्मताको नष्ट करना नहीं है। उसका तो काम इतना ही है कि सब पदार्थों को अपनी अपनी योग्यतानुसार स्थान मिले और इसी काम की पूर्ति वह करता है इसलिये आकाश का अवकाश देना कार्य माना गया है। स्थूल होने से जो दो पदार्थ आपसमें टकराते हैं यह उनकी अपनी विशेषता है और इसी विशेषता के कारण वे एक क्षेत्र में स्थान नहीं पाते। यदि वे अपनी इस विशेषता का त्याग कर सूक्ष्म भावको प्राप्त हो जांय तो वे भी एक क्षेत्र में स्थान पा सकते हैं। आकाश का काम तो स्थान देना है और वह सबके लिये समान रूपसे उन्मुक्त है। जो जहां अवकाश चाहे पा सकता है। किन्तु विवक्षित क्षेत्र में स्थित अन्य द्रव्य को स्थूलता के कारण यदि दूसरा द्रव्य वहां अवकाश पाने से रुकता है तो यह दोष आकाश का नहीं है। ऐसा यहां समझना चाहिये ॥ १८ ॥

पुद्गल द्रव्य के कार्यों पर प्रकाश—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

शरीर, वचन, मन उच्छ्‌वास और निःश्वास ये पुद्गलों के उपकार हैं।

तथा सुख, दुःख, जीवित और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं।

संसार का जीवन सम्बन्धी समग्र व्यवहार पुद्गलावलम्बी है। पृथिवी, घर, भोजन, पानी वस्त्र और वनस्पति आदि सब ही पौद्गलिक हैं और जीवन में इनका निरन्तर उपयोग होता है। एक तरफ से

प्राणी का जीवन ही इन सबके ऊपर टिका हुआ है इसलिये यदि पुद्गलों के सब उपकार गिनाये जायँ तो वे अगणित हो जाते हैं। किन्तु उन सबको न गिना कर पुद्गलों के कुछ ही उपकारों का यहाँ निर्देश किया गया है। जिनसे संसारी प्राणी निरन्तर अनुप्राणित होता रहता है।

शरीर पाँच हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। ये पाँचों नामकर्म के भेद हैं जो अतिसूक्ष्म होने से दृष्टि-गोचर नहीं होते। किन्तु इनके उदय से जो उपचय शरीर प्राप्त होते हैं उनमें कुछ इन्द्रिय गोचर हैं और कुछ इन्द्रिय गोचर नहीं। ये सबके सब शरीर पौद्गलिक ही हैं, क्योंकि इनकी रचना पुद्गलों से हुई है। यद्यपि कार्मण जैसा सूक्ष्म शरीर पौद्गलिक है यह सब बात इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती है तथापि उसका सुख दुःखादि रूप विपाक मूर्त द्रव्य के सम्बन्ध से देखा जाता है इसलिये उसे पौद्गलिक समझना चाहिये।

वचन दो प्रकार के हैं भाववचन और द्रव्यवचन। उनमें से भाव वचन वीर्यान्तराय तथा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा आंगोपांग नामकर्म के उदय से होता है। यह पुद्गल सापेक्ष होने से पौद्गलिक है। तथा ऐसी सामर्थ्य से युक्त आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल ही द्रव्यवचन रूप परिणमन करते हैं, इस-लिये द्रव्यवचन भी पौद्गलिक है।

इसीप्रकार मन दो प्रकार का है भावमन और द्रव्यमन। इनमें से लब्धि और उपयोग रूप भावमन है जो पुद्गल सापेक्ष होने से पौद्ग-लिक है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा आंगोपांग नामकर्म के उदय से जो पुद्गल गुण-दोष का विचार और स्मरण आदि कार्यों के सन्मुख हुए आत्मा के उपचारक हैं वे ही द्रव्य-मनरूप से परिणत होते हैं इसलिये द्रव्यमन भी पौद्गलिक है।

जो वायु बाहर निकाला जाता है वह प्राण कहलाता है और जो बाहर से भीतर लिया जाता है वह अपान कहलाता है। वायु पौद्गलिक होने से प्राणापान भी पौद्गलिक है।

यतः ये शरीरादिक आत्मा के अनुग्रहकारी हैं अतः इन्हें पुद्गलों का उपकार बतलाया है।

सातावेदनीय कर्म के उदयरूप अन्तरंग कारण और द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारण के मिलने पर आत्मा का जो प्रीति रूप परिणाम होता है वह सुख है। असाता वेदनीय कर्म के उदयरूप अन्तरंग कारण और द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारण के मिलने पर आत्मा का जो परितापरूप परिणाम होता है वह दुःख है। आयुष्कर्म के उदय से विवक्षित पर्याय में स्थित जीव के प्राण और अपान का विच्छेद नहीं होना जीवित है और प्राणापान का विच्छेद होना मरण है। ये सुख दुःख आदि यद्यपि जीव की अवस्थाएँ हैं पर इनके होने में पुद्गल निमित्त है इसलिये ये भी पुद्गल के उपकार माने गये हैं।

साता वेदनीय आदि कर्म सुखादिक की उत्पत्ति में निमित्तमात्र होने से उपकारक माने गये हैं, तत्त्वतः ये सुखादिक जीव के ही परिणाम हैं इसलिये वही इनका कर्ता है यह दिखलाने के लिये 'सुखदुःख' इत्यादि सूत्र में उपग्रह वचन दिया है। इसका यह आशय है कि जैसे शरीर आदि पुद्गल के कार्य हैं वैसे सुख दुःखादि नहीं। शरीर आदि का पुद्गल स्वयं कर्ता है किन्तु सुख दुःखादि का नहीं यह इसका भाव है।

शंका—यहाँ जितने भी उपकार गिनाये हैं वे सब ऐसे हैं जो जीवों को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने निबद्ध किये हैं। किन्तु पुद्गल पुद्गलों के उपकार में भी तो प्रवृत्त होते हैं फिर उन्हें यहाँ क्यों नहीं गिनाया ?

समाधान—पुद्गलों के निमित्त से जो अन्य पुद्गलों के उपकार होते हैं उनकी मुख्यता न होने से उन्हें यहाँ नहीं गिनाया है ॥ १९-२०॥

जीव द्रव्य के कार्यों पर प्रकाश—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

परस्पर सहायक होना यह जीवों का उपकार है।

जगत् में जीवों के परस्पर अनेक प्रकार के सम्बन्ध देखे जाते हैं और उन सम्बन्धों के अनुसार वे एक दूसरे का उपकार भी करते हैं। जैसे आचार्य उभय लोक का हितकारी उपदेश देकर और उसके अनुकूल अनुष्ठान कराकर शिष्य का उपकार करता है तथा शिष्य भी अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्य का उपकार करता है। पति सुख सुविधा की व्यवस्था कर और अपने जीवन की सच्ची संगिनी बनाकर पत्नी का उपकार करता है और पत्नी अनुकूल प्रवर्तन द्वारा पति का उपकार करती है। इस प्रकार परस्पर सहायता पहुंचाना यह जीवों का उपकार है ॥२१॥

काल द्रव्य के कार्यों पर प्रकाश—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

सूत्रकार ने अन्य द्रव्यों के उल्लेख के समान अब तक काल द्रव्य का उल्लेख नहीं किया है तथापि काल भी एक द्रव्य है यह बात वे आगे स्वीकार करनेवाले हैं इसलिये उपकार प्रकरण में काल के उपकार बतलाये हैं?

जगत् के जितने पदार्थ हैं वे स्वयं वर्तनशील हैं। परिवर्तित होते रहना उनका स्वभाव है। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक न हो। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक वस्तु की वर्तनशीलता उसके स्वभावगत है पर यह कार्य बिना निमित्त के नहीं हो सकता, इसलिये इसके निमित्तरूप से काल द्रव्य को स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि वर्तना काल द्रव्य का लक्षण माना गया है।

यहां वर्तनाका अर्थ वर्तनहेतुत्व लिया गया है। वर्तना शब्द के दो अर्थ हैं—वर्तन करना और वर्तन कराना। पहला अर्थ छहों द्रव्यों में घटित होता है और दूसरा अर्थ केवल काल द्रव्य में ही घटित होता है। यहां इस दूसरे अर्थकी अपेक्षा ही वर्तना काल द्रव्यका उपकार माना गया है क्यों कि प्रत्येक द्रव्यकी समय समय में जो पर्याय होती है वह बिना निमित्त के नहीं हो सकती, अतः उसी के निमित्तरूपसे वर्तना यह काल द्रव्य का उपकार ठहरता है।

द्रव्यकी अपनी मर्यादा के भीतर प्रति समय जो पर्याय होती है उसे परिणाम कहते हैं। इसके प्रायोगिक और वैस्रसिक ऐसे दो भेद हैं। जो काल निमित्तक होकर भी पुरुष के प्रयत्न से होता है वह प्रायोगिक परिणाम है और जो पुरुष के प्रयत्न के बिना होता है वह वैस्रसिक परिणाम है। कुंम्हार के निमित्त से मिट्टीका घटरूप परिणामका होना या आचार्य के उपदेशादि के निमित्तसे दानादि भावका होना ये प्रायोगिक परिणाम के उदाहरण हैं। और छहों द्रव्यों में जो प्रति समय पर्याय हो रही है वह वैस्रसिक परिणाम का उदाहरण है।

जो एक देश से दूसरे देशमें प्राप्तिका हेतु हलन चलनरूप व्यापार से युक्त द्रव्यकी अवस्था होती है उसे क्रिया कहते हैं। इसके भी प्रायोगिक और वैस्रसिक ऐसे दो भेद हैं। पुरुष के प्रयत्न द्वारा किसी वस्तुका एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाना यह प्रायोगिकी क्रिया है और पुरुष के प्रयत्न के बिना किसी भी क्रियाशील वस्तुका एक स्थान से दूसरे स्थानपर जाना यह वैस्रिसिकी क्रिया है। उदाहरणार्थ मेज, कुरसी आदिका एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना प्रायोगिकी क्रिया है और मेघ आदि का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना वैस्रिसिकी क्रिया है।

परत्व और अपरत्व दो प्रकार से घटित होता है एक क्षेत्र की अपेक्षा और दूसरा कालकी अपेक्षा। यहां कालका प्रकरण है इसलिये

प्रकृत में कालकी अपेक्षा घटित होनेवाले परत्व और अपरत्व ही लिये गये हैं। परत्वका अर्थ उम्रकी अपेक्षा बड़ा और अपरत्वका अर्थ उम्रकी अपेक्षा छोटा है।

ये परिणाम आदि भी कालके बिना नहीं होते इसलिये ये काल के उपकार माने गये हैं ॥ २२ ॥

पुद्गलका लक्षण और उसकी पर्याय—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते हैं।

तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योतवाले भी होते हैं।

पहले पुद्गल द्रव्यका अनेक बार उल्लेख किया है पर उससे यह ज्ञात नहीं होता कि इसका स्वरूप क्या है, इसलिये यहां सर्व प्रथम उसका स्वरूप बतलाया गया है। जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते हैं वे पुद्गल हैं। पुद्गलोंका यह स्वरूप अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता इसलिये पुद्गल स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। यद्यपि अन्यत्र जीव के अर्थ में भी पुद्गल शब्दका व्यवहार किया गया है पर यहां उसका अर्थ रूप रसादिवाला पदार्थ ही लिया गया है।

जो छूकर जाना जाय वह स्पर्श है। यह आठ प्रकारका है— कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। जो चखकर जाना जाय वह रस है। यह पांच प्रकार का है—तिक्त-चरपरा, आम्ल-खट्टा, कटुक-कडुवा, मधुर-मीठा और कषाय-कसैला। जो सूँघकर जाना जाय वह गन्ध है। इसके सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो भेद हैं।

पुद्गलकी जो गुणपर्याय देखकर जानी जाय वह वर्ण है। यह पांच प्रकार का है—काला, नीला, पीला, सफेद और लाल। ये स्पर्श आदि मुख्य चार हैं पर इनके उक्त प्रकार से अवान्तर भेद बीस होते हैं। उसमें भी प्रत्येक के तरतमभाव से संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये गुण हैं और कठिन आदि उन गुणोंकी पर्याय हैं। ये स्पर्शादि गुण पुद्गल में किसी न किसी रूप में सदा पाये जाते हैं, इसलिये पुद्गल के ये स्वतत्त्व हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी मत है कि इनमें से किसी एक के पाये जाने पर प्रकट या अप्रकट रूप से शेष तीन अवश्य पाये जाते हैं। हमारी इन्द्रियां द्व्यणुक आदि को तो ग्रहण करती ही नहीं, पर जिनको ग्रहण करती हैं उनमें भी जिनके स्पर्शादि गुणोंका इन्द्रियों द्वारा पूरी तरह से ग्रहण नहीं होता वे भी वहां हैं अवश्य। उदाहरणार्थ—उपरक्त किरणें (Infra-red Rays) जो कि अदृश्य ताप किरणें हैं वे हम लोगों की आँखों से लक्षित नहीं हो सकतीं, तथापि उनमें वर्ण नियम से पाया जाता है क्यों कि उल्लू और बिल्ली के नेत्र इन्हीं किरणों की सहायता से देखते हैं। इन्हें ये किरणें देखने में दीपक का काम देती हैं। कुछ ऐसे भी भाचित्रपट (photographic plates) आविष्कृत हुए हैं जो इन किरणों से प्रभावित होते हैं और जिनके द्वारा अन्धकार में भी भाचित्र (photographs) लिये जा सकते हैं।

इसी प्रकार अग्नि की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती किन्तु गन्धवहन प्रक्रिया (teleolefaction phenomenon) से स्पष्ट है कि गन्ध भी पुद्गल (अग्नि) का आवश्यक गुण है। वर्तमान में एक गन्ध वाहक यन्त्रका आविष्कार हुआ है जो गन्धको लक्षित करता है। यह यन्त्र मनुष्यकी नासिका की अपेक्षा बहुत अधिक सद्यहृष (sensitive) होता है। यह १०० गज दूरस्थ अग्निको लक्षित

करता है। इसकी सहायता से फूलों आदिकी गन्ध एक स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थानको तार द्वारा या बिना तारके ही प्रेषित की जा सकती है। स्वयं चालित अग्नि शामक (Automatic fire control) भी इससे चालित होता है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि बहुत से पुद्‌गलों की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती किन्तु और अधिक सद्यस्‍ष्ट (शीघ्र व अधिक प्रभावित होनेवाले) यंत्रों से वह लक्षित हो सकती है।

जब कि सूर्य के वर्णपट (Solar spectrum) में सात वर्ण होते हैं व प्राकृतिक या अप्राकृतिक वर्ण (natural and pigmentary colours) बहुत से होते हैं ऐसी हालत में यह प्रश्न होता है कि जैन शास्त्रों में वर्ण के मुख्य पांच ही भेद क्यों माने गये हैं। इसका यह उत्तर है कि जैन शास्त्रों में वर्ण से तात्पर्य वर्णपट के वर्णों अथवा अन्य वर्णों से नहीं है किन्तु पुद्‌गल के उस मूल गुण (fundamental property) से है जिसका प्रभाव हमारे नेत्रकी पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में रक्त, पीत, कृष्ण आदिरूप आभास कराता है। अमेरिका की अप्टिकल समिति (Optical Society of America) ने वर्ण की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि 'वर्ण' शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है जो नेत्र के कृष्णपटल (Retina) और उससे सम्बन्धित शिराओं की क्रिया से उद्‌भूत आभास का कारण है। रक्त, पीत, नील, श्वेत और कृष्ण इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

पञ्च वर्णों का सिद्धान्त समझाने की प्रक्रिया यह है कि यदि किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जाय तो सर्व प्रथम उसमें से अदृश्य (dark) ताप किरणें निस्सरित (emitted) होती हैं। उसके बाद वह रक्त वर्ण किरणें छोड़ती हैं। फिर अधिक ताप बढ़ानेसे वह पीत-वर्ण किरणें छोड़ती हैं। यदि उसका ताप और अधिक बढ़ाया जाय तो

क्रमशः श्वेत और नील रंगकी किरणें भी उद्भूत हो सकती हैं। श्री मेघनाद शाह और बी० एन० श्रीवास्तवने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कुछ तारे नील श्वेत रश्मियां छोड़ते हैं। इससे उनके तापमान की अधिकता जानी जाती है। तात्पर्य यह कि पांच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों (temperatures) पर उद्भूत हो सकते हैं। और इसलिये ये वर्ण की मूल अवस्थाएं मानी गई हैं।

वैसे जैन शास्त्रोंमें वर्णके उत्तर भेद अनन्त बतलाये हैं। वर्णपटके वर्णों (spectral colours) में देखते हैं कि यदि रक्त से लेकर कासनी (violet) तक तरंगप्रमाणों (wave-length) की विभिन्न अवस्थितियों (stages) की दृष्टि से विचार किया जाय तो इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त प्रकारके सिद्ध होते हैं, क्योंकि एक प्रकाश तरंग (light wave) दूसरी प्रकाश तरंग से प्रमाण (length) में यदि अनन्तवें भाग (infinitesimal amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरंगें दो विसदृश वर्णोंको सूचित करती हैं।

इस प्रकार प्रकृत में जो पुद्गलकी परिभाषा दी है वह वर्तमान विज्ञान से भी सम्मत है यह सिद्ध होता है॥ २३॥

जैसा कि आगे बतलाया जायगा कि पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्ध इन दो भागों में बटा हुआ है। अणु पुद्गलका शुद्धरूप है और दो या दोसे अधिक अणु सम्बद्ध होकर स्कन्ध बनते हैं। स्कन्धरूप से पुद्गलकी जो विविध अवस्थायें होती हैं उनका निर्देश प्रस्तुत सूत्रमें किया है। यहां ऐसी दस अवस्थाएं गिनाई हैं। यथा—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत।

पुद्गल के अणु और स्कन्ध भेदोंकी अवान्तर जातियां २३ हैं।

एक जाति भाषावर्गणा है। ये भाषावर्गणाएं लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। जिस काय—वस्तु (Body) से ध्वनि निकलती है उस वस्तु में कम्पन होने के कारण इन पुद्गल वर्गणाओं में भी कम्पन होता है जिससे तरंगें उत्पन्न होती हैं। ये तरंगें ही उत्तरोत्तर पुद्गल वर्गणाओं में कम्पन पैदा करती हैं जिससे शब्द एक स्थान से उद्भूत होकर भी दूसरे स्थान पर सुनाई पड़ता है। विज्ञान भी शब्दका वहन इसीप्रकार की प्रक्रिया द्वारा मानता है।

यद्यपि नैयायिक और वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं किन्तु जैन परम्परा में इसे पुद्गल द्रव्य की व्यञ्जन पर्याय माना है और युक्ति से विचार करने पर भी यही सिद्ध होता है। निश्छिद्र बन्द कमरे में आवाज करने पर वह वहीं गूँजती रहती है किन्तु बाहर नहीं निकलती। अब तो ऐसे यन्त्र तैयार हो गये हैं जिनके द्वारा शब्द तरंगे लक्षित की जाती हैं। इससे ज्ञात होता है कि शब्द अमूर्त आकाश का गुण न होकर पौद्गलिक है। इसके भाषात्मक और अभाषात्मक ये दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द के साक्षर और अनक्षर ये दो भेद हैं। जो विविध प्रकार की भाषाएँ बोल चाल में आती हैं जिनमें शास्त्र लिखे जाते हैं वे साक्षर शब्द हैं और द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों के जो ध्वनिरूप शब्द उच्चरित होते हैं वे अनक्षर शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द के वैस्रसिक और प्रायोगिक ये दो भेद हैं। मेघ आदि की गर्जना आदि वैस्रसिक शब्द हैं और प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं—तत, वितत, घन और सौषिर। चमड़े से मढ़े हुए मृदंग, भेरी और ढोल आदि का शब्द तत है। ताँतवाले वीणा सारंगी आदि वाद्यों का शब्द वितत है। झालर, घण्टा आदि का शब्द घन है और शंख, बाँसुरी आदि का शब्द सौषिर है।

शब्द के उक्त भेदों को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—
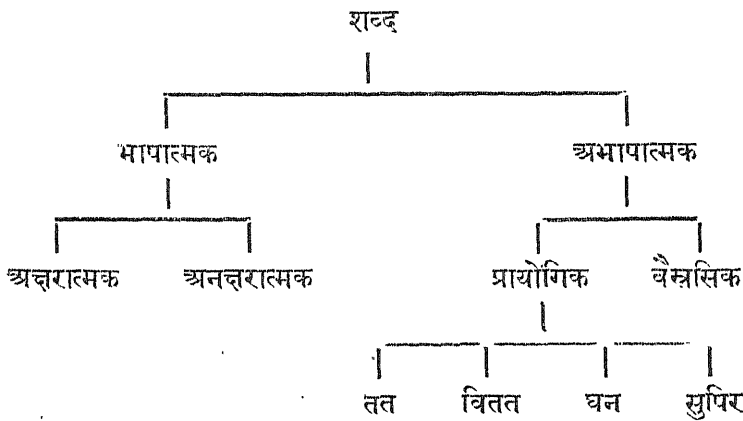
आधुनिक विज्ञान शब्द (Sound) को दो भागों में विभक्त करता है—कोलाहल (Noises) और संगीत ध्वनि (Musical Sound)। इनमें से कोलाहल वैस्रसिक वर्ग में गर्भित हो जाता है। संगीत ध्वनियों का उद्भव चार प्रकार से माना गया है—(१) तन्त्रों के कम्पन (Vibration of strings) से, (२) तनन के कम्पन (Vibration of membranes) से, (३) दण्ड और पट्टिका के कम्पन (Vibration of rods and plates) से और (४) जिह्वाल (reads) के कम्पन से व वायुप्रतर के कम्पन (Vibration of air columns) से। यह चारों क्रमशः प्रायोगिक के वितत, तत, घन और सौषिर भेद हैं।

परस्पर श्लेषरूप बन्ध के वैस्रसिक और प्रायोगिक ये दो भेद हैं। प्रयत्न के बिना विजली, मेघ, अग्नि और इन्द्र धनुष आदि सम्बन्धी जो स्निग्ध और रूक्षत्व गुणनिमित्तक बन्ध होता है वह वैस्रसिक बन्ध है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का है—अजीव विषयक और जीवाजीव विषयक। लाख और लकड़ी आदि का बन्धा अजीव विषयक प्रायोगिक

बन्ध है और कर्म तथा नोकर्म का बन्ध जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अन्त्य और आपेक्षिक ये दो दो भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व दोनों एक ही वस्तु में विवक्षा भेद से घटित न हों वे अन्त्य और जो एक ही वस्तु में घट सकें वे आपेक्षिक सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व हैं। परमाणु यह अन्त्य सूक्ष्मत्व का और जगद्व्यापी महास्कन्ध यह अन्त्य स्थूलत्व का उदाहरण है। बेल, आँवला और बेर ये आपेक्षिक सूक्ष्मत्व के और बेर, आँवला और बेल ये आपेक्षिक स्थूलत्व के उदाहरण हैं। प्रथम उदाहरण में पहली वस्तु से दूसरी में और दूसरी से तीसरी में अपेक्षाकृत सूक्ष्मता पाई जाती है और दूसरे उदाहरण में पहली वस्तु से दूसरी में और दूसरी से तीसरी में अपेक्षाकृत स्थूलता पाई जाती है।

संस्थान इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण के भेद से दो प्रकार का है। जिस आकार का 'यह इस तरह का है' इस प्रकार से निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है और जिसका निर्देश न किया जा सके वह अनित्थंलक्षण संस्थान है। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयतचतुष्कोण इत्यादि संस्थानों के आकारों का निर्देश करना सम्भव है इसलिये यह इत्थंलक्षण संस्थान है और मेघ आदि के संस्थानों का आकार इस प्रकारका है यह बतलाना सम्भव नहीं इसलिये वह अनित्थंलक्षण संस्थान है।

जो पुद्गल पिण्ड एकरूप है उसका भंग होना भेद है। इसके उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन ये छह प्रकार हैं। लकड़ी या पत्थर आदि का करोंत आदि से भेद करना उत्कर है। जौ और गेहूँ आदि का सत्तू या आटा आदि चूर्ण है। घट आदि का टुकड़े टुकड़े हो जाना खण्ड है। उड़द और मूग आदि की दाल आदि चूर्णिका है। मेघ, भोजपत्र, अभ्रक और मिट्टी आदि की तहें निकलना प्रतर है

और गरम लोहे आदि में घन आदि के मारने पर फुलिंगे निकलना अणुचटन है।

तम अन्धकार का दूसरा नाम है। इसमें वस्तुएँ दिखाई नहीं देती हैं और यह प्रकाशका प्रतिपक्षी है। यतः यह प्रकाश पथ में सघन पुद्‌गलों के आ जाने से उत्पन्न होता है अतः पौद्‌गलिक है।

छाया शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। एक तो अपारदर्शक (Opaque) पदार्थों के प्रकाश पथ में आ जाने से बननेवाली छाया जिसे अँग्रेजी में शैडो (Shadow) कहते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसका अन्तर्भाव तम में होता है। इसके सिवा छाया शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में भी हुआ है। इसप्रकार की छाया को विज्ञान के क्षेत्र में इमेज (Image) कहते हैं। यह छाया पारदर्शक अण्वीक्षों (Lenses) के प्रकाश पथ में आ जाने से अथवा दर्पणों में प्रकाश के परावर्तन (reflection) से बनती है। यह दो प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार की छाया को वास्तविक प्रतिबिम्ब कहते हैं। ये प्रकाश रश्मियों के वस्तुतः मिलने से बनते हैं। इनमें प्रमाण, वर्ण इत्यादि में भी अन्तर आ जाता है और ये विपर्यस्त (Inverted) हो जाते हैं। दूसरी प्रकार की छाया को अवास्तविक प्रतिबिम्ब (Virtual) कहते हैं। इसमें प्रकाश रश्मियाँ वस्तुतः नहीं मिलती हैं और न यह विपर्यस्त होती है। पहली प्रकार की छाया अधिकांश अण्वीक्षों के प्रकाश पथ में आ जाने से बनती है और दूसरी प्रकार की छाया अधिकांश समतल दर्पणों में प्रकाश रश्मियों के परावर्तन से बनती है। इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये प्रकाश—ऊर्जा के ही रूपान्तर हैं। विज्ञान के क्षेत्र में एक अन्य प्रकार की छाया का भी निर्देश किया गया है। ये व्यतिकरण पट्टियाँ (Interference bands) हैं जो प्रकाश की विभिन्न दो कलायुक्त (differing in fases) तरंगों के व्यतिकरण से बनती हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो

गया है कि दीप्त पट्टियों की ही भाँति अदीप्त पट्टियों (Dark bands) में से भी प्रकाश वैद्युत रीति से (Photo-electrically) विद्युदणु निकलते हैं जो गणना यन्त्र से गिने जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अदीप्त पट्टी में भी ऊर्जा होती है और इसलिये अदीप्त पट्टी भी प्रकाशाभावात्मिका नहीं है।

शास्त्रों में छाया के वर्णादिविकारपरिणता और प्रतिबिम्बमात्रात्मिका इस प्रकार जो दो भेद बतलाये हैं सो वे छाया के इन सब प्रकारों को ध्यान में रखकर ही लिखे गये हैं। इससे सिद्ध है कि छाया भी पौद्गलिक है।

नैयायिक और वैशेषिक तम को सर्वथा अभाव रूप मानते हैं पर नेत्र इन्द्रिय से उसका ज्ञान होता है इसलिये उसे सर्वथा अभाव रूप नहीं माना जा सकता। आधुनिक विज्ञान भी इसे अभावरूप नहीं मानता। वैज्ञानिकों के मतानुसार तम (Darkness) में भी उपरक्त तापकिरणों (Infrared heat rays) का सद्भाव पाया जाता है जिनसे उल्लू और बिल्ली की आँखें और भाचित्रीय पट (Photografic Plates) प्रभावित होते हैं। इस प्रकार तम का दृश्य प्रकाश से भिन्न पौद्गलिक रूप से अस्तित्व सिद्ध होता है। वह सर्वथा अभावरूप नहीं है।

सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप कहलाता है और चन्द्र, मणि तथा जुगुनू आदि का ठंडा प्रकाश उद्योत कहलाता है। अग्नि से इन दोनों में अन्तर है। अग्नि स्वयं उष्ण होती है और उसकी प्रभा भी उष्ण होती है। किन्तु आतप और उद्योत के विषय में यह बात नहीं है। आतप मूल में ठंडा होता है। केवल उसकी प्रभा उष्ण होती है और उद्योत मूल में भी ठंडा होता है और उसकी प्रभा भी ठंडी होती है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार अग्नि रासायनिक प्रक्रियाओं में उत्पन्न होती है और सूर्य में जो पुद्गल परमाणु ऊर्जारूप परिणत होते हैं वह ऊर्जा आतप है। विज्ञान ने अग्नि और आतप के भेद की ओर तो दृष्टि नहीं डाली है किन्तु आतप और उद्योत में अवश्य भेद किया है। आतप में ऊर्जा का अधिकांश तापकिरणों के रूप में प्रकट होता है और उद्योत में अधिकांश ऊर्जा प्रकाश किरणों के रूप में प्रकट होती है। इससे जैन विचारकों के वर्गीकरण की वैज्ञानिकता प्रकट होती है।

यद्यपि अभी तक वैज्ञानिक विद्वान् ऊर्जा को पौद्गलिक नहीं मानते हैं परन्तु सापेक्षवाद के सिद्धान्त (Theory of relativity) और विद्युदणु सिद्धान्त (Electronic theory) के अनुसन्धान के बाद यह सिद्ध हो गया है कि विद्युदणु (Electron) पुद्गल का सार्वभौम अनिवार्य तत्त्व है। वह एक विद्युत्कण है और इस प्रकार यह सर्वसम्मत है कि प्रकृति और ऊर्जा (Matter & energy) एक ही हैं।

मात्रा (Mass) और ऊर्जा के बीच का सम्बन्ध निम्नलिखित समीकरण से स्पष्ट हो जाता है—

ऊर्जा = मात्रा × (प्रकाश की गति)^{2}

रैस्टलैस यूनिवर्स (Restless universe) के लेखक मैक्सवार्न महोदय ने लिखा है कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार मात्रा अर्थात् प्रकृति (Matter) व ऊर्जा (Energy) अनिवार्यरूप से एक ही हैं। ये एक ही वस्तु के दो रूपान्तर हैं। मात्रा ऊर्जा के रूप में और ऊर्जा मात्रा के रूप में रूपान्तरित हो सकती है प्रकृति की परिभाषा विज्ञान इस प्रकार करता है जिसमें भार (Weight) हो और जो क्षेत्र को घेरता हो। वैज्ञानिक प्रयोगों से अब यह सिद्ध हो गया है कि ऊर्जा में भी भार होता है और इसलिये ऊर्जा का भी प्रकृति की परिभाषा में अन्तर्भाव हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकों का शब्द आदि को पुद्गल की पर्याय मानना युक्तिसंगत, तथ्यपूर्ण व विज्ञानसंगत है ॥ २४ ॥

पुद्गलों के भेद—

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

पुद्गल अणु और स्कन्धरूप हैं।

पुद्गलों में संयुक्त और वियुक्त होने की क्षमता स्पष्ट दिखाई देती है, इसी से वह अणु और स्कन्ध इन दो भागों में बटा हुआ है। कितने ही प्रकार के पुद्गल क्यों न हों वे सब इन दो भागों में समा जाते हैं।

जो पुद्गल द्रव्य अति सूक्ष्म है, जिसका भेद नहीं हो सकता, इसलिये जिसका आदि मध्य और अन्त वह आप ही है, जो किसी दो स्पर्श, एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण से युक्त है वह परमाणु है। यद्यपि पुद्गल स्कन्ध में स्निग्ध रूक्ष में से एक, शीत उष्ण में से एक, मृदु कठोर में से एक और लघु गुरु में से एक ये चार स्पर्श होते हैं। किन्तु परमाणु के अतिसूक्ष्म होने के कारण उसमें मृदु, कठोर, लघु और गुरु इन चार स्पर्शों का प्रश्न ही नहीं उठता इसलिये उसमें केवल दो स्पर्श माने गये हैं। इससे अन्य द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं इसलिये यह उनका कारण है कार्य नहीं। यद्यपि द्व्यणुक आदि स्कन्धों का भेद होने से परमाणु की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिये यह भी कथंचित् कार्य ठहरता है, तथापि परमाणु यह पुद्गल की स्वभाविक दशा है, इसलिये वस्तुतः यह किसी का कार्य नहीं है। यह इतना सूक्ष्म है जिससे इसे इन्द्रियों से नहीं जान सकते, तथापि कार्य द्वारा उसका अनुमान किया जा सकता है।

तथा जो दो या दो से अधिक परमाणुओं के संश्लेष से बनता है वह स्कन्ध है। इतनी विशेषता है कि द्व्यणुक तो परमाणुओं के संश्लेष से ही बनता है किन्तु त्र्यणुक आदि स्कन्ध परमाणुओं के संश्लेष से

भी बनते हैं तथा परमाणु और स्कन्ध के संश्लेष से या विविध स्कन्धों के संश्लेष से भी बनते हैं इसलिये अन्त्य स्कन्ध के सिवा शेष सब स्कन्ध परस्पर कार्य भी हैं और कारण भी। जिन स्कन्धों से बनते हैं उनके कार्य हैं और जिन्हें बनाते हैं उनके कारण भी।

इन अणु स्कन्ध रूप पुद्गल के मुख्यतः छह भेद किये गये हैं—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म।

(१) स्थूलस्थूल—ठोस पदार्थ जिनका आकार, प्रमाण और घनफल नहीं बदलता। जैसे लकड़ी, पत्थर और धातु आदि।

(२) स्थूल—द्रव पदार्थ, जिनका केवल आकार बदलता है घनफल नहीं। जैसे जल और तेल आदि। ये पदार्थ जम जाने पर ठोस हो जाते हैं तब इनका अन्तर्भाव स्थूलस्थूल इस भेद में होता।

(३) स्थूलसूक्ष्म—जो केवल नेत्र इन्द्रिय से गृहीत हो सकें और जिनका आकार भी बने किन्तु पकड़ में न आवें वे स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं। जैसे छाया, प्रकाश अन्धकार आदि ऊर्जाएँ (Energy)

(४) सूक्ष्मस्थूल—जो दिखाई तो न दें किन्तु स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों के द्वारा जिन्हें ग्रहण किया जा सके वे सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं। जैसे ताप ध्वनि आदि ऊर्जाएँ व वायु।

वर्गीकरण में ऊर्जा के अनन्तर वातियों को रखा गया है। भार (Weight) की दृष्टि से वातिएँ ऊर्जा की अपेक्षा अधिक स्थूल हैं किन्तु वर्गीकरण का आधार घनत्व (Dansity) न होकर दृष्टिगोचर होना या न होना है। प्रकाश, विजली आदि ऊर्जाऐं आंखों से दीखती हैं वार्तिएँ नहीं। इस प्रकार दृश्य और अदृश्य की अपेक्षा इनका वर्गीकरण किया गया है।

(५) सूक्ष्म—स्कन्ध होने पर भी जिनका किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करना शक्य नहीं है वे सूक्ष्म पुद्गल हैं। जैसे कर्मवर्गणा आदि। द्व्यणुक आदि का इसी भेद में अन्तर्भाव हो जाता है।

आधुनिक विज्ञान जगत् में जिन पुद्गल स्कन्धों का विद्युदणु (Electron) उद्युदणु (Positron) और उद्युत्कण (Proton) रूप से उल्लेख किया जाता है उनका अन्तर्भाव भी इसी भेद में किया जा सकता है, क्यों ये स्थूलस्थूल और स्थूल स्कन्ध तो हैं ही नहीं। साथ ही ये किसी इन्द्रिय के विषय भी नहीं, पर हैं ये पुद्गल ही, अतः ये सूक्ष्म इस भेद में ही आते हैं।

(६) सूक्ष्मसूक्ष्म—पुद्गल होकर भी जो स्कन्ध अवस्था से रहित हैं वे सूक्ष्मसूक्ष्म पुद्गल हैं। जैसे पुद्गल परमाणु।

नियमसार में ये छहों भेद स्कन्ध के बतलाये हैं। इस हिसाब से विचार करने पर जो स्कन्ध कर्मवर्गणाओं से भी सूक्ष्म होते हैं उनका अन्तर्भाव सूक्ष्मसूक्ष्म भेद में होता है। जैसे द्व्यणुक आदि।

इसके सिवा पुद्गलों का अन्य प्रकार से भी भेद किया जाता है। आगम में ऐसे भेद २३ बतलाये हैं। यथा—अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहार वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, तैजस वर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषा वर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, शून्य-वर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्य-वर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा, और महास्कन्धवर्गणा।

प्रथम भेद के सिवा ये सब भेद स्कन्ध के हैं। जिनमें शून्य वर्गणा केवल मध्यके अन्तरको दिखानेवाली हैं॥ २५॥

क्रम से स्कन्ध और अणु की उत्पत्ति के कारण—

भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेदादणुः ॥ २७ ॥

भेद से, संघात से और भेद, संघात दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

अणु भेद से ही उत्पन्न होता है।

स्कन्ध की उत्पत्ति तीन प्रकार से बतलाई है। कोई स्कन्ध संघात से अर्थात् जुदे जुदे द्रव्यों की एकत्व प्राप्ति से उत्पन्न होता है, कोई स्कन्ध भेद से अर्थात् खण्ड होने से उत्पन्न होता है और कोई स्कन्ध एक ही साथ हुए भेद और संघात दोनों से उत्पन्न होता है।

(१) संघात अर्थात् जुदे जुदे द्रव्यों की एकत्व प्राप्ति परमाणुओं परमाणुओं की भी होती है, परमाणुओं और स्कन्धों की भी होती है और स्कंधों स्कंधों की भी। जब दो या दो से अधिक परमाणु मिलकर स्कंध बनता है तब वह परमाणुओं के संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति कहलाती है। जब परमाणु और स्कन्ध मिलकर दूसरा स्कन्ध बनता है तब परमाणुओं और स्कन्ध के संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति कहलाती है। तथा जब दो स्कन्धों के मिलने पर तीसरे स्कन्ध की उत्पत्ति होती है तब स्कन्धों के संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति कहलाती है। जैसे दो परमाणुओं के मिलने पर स्कन्ध बनता है वह संघातजन्य द्व्यणुक स्कन्ध है। इसी प्रकार तीन, चार, संख्यात और अनन्त परमाणुओं के मिलने पर क्रम से संघातजन्य त्र्यणुक, चतुरणुक, संख्याताणुक, असंख्याताणुक और अनन्ताणुक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। ये परमाणुओं के संघात से उत्पन्न हुए स्कन्धों के उदाहरण हुए। इसी प्रकार परमाणु और स्कन्ध तथा स्कन्ध स्कन्ध के संघात से बने हुए स्कन्धों के उदाहरण जान लेना चाहिये।

(२) जब किसी बड़े स्कन्ध के टूटने से छोटे छोटे दो या दो से अधिक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं तो वे भेदजन्य स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे ईंट के तोड़ने पर दो या दो से अधिक टुकड़े होते हैं। ये सब स्कन्ध होते हुए भी भेदजन्य हैं, इसलिये भेद से भी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं यह कहा है। ये भेदजन्य स्कन्ध भी द्व्यणुक से लेकर अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

(३) तथा जब किसी एक स्कन्ध के टूटने पर टूटे हुए अवयव के साथ उसी समय अन्य स्कन्ध मिलकर नया स्कन्ध बनता है तब यह स्कन्ध भेद-संघातजन्य कहलाता है। जैसे टायर में छिद्र होने पर टायर से निकली हुई वायु उसी क्षण बाहर की वायु में जा मिलती है। यहाँ एक ही काल में भेद और संघात दोनों हैं। बाहर निकलनेवाली वायु का टायर के भीतर की वायु से भेद है और बाहर की वायु से संघात, इसलिये भेद और संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है यह कहा है। ये भेद-संघातजन्य स्कन्ध भी द्व्यणुक से लेकर अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

भेद, संघात और भेद-संघात के ये स्थूल उदाहरण है।

इसकी विशेष जानकारी के लिये षट्खण्डागम और उसकी धवला टीका देखनी चाहिये। वहाँ बतलाया है कि द्व्यणुक वर्गणा की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—भेद से, सङ्घात से और भेद-सङ्घात से। आगे की वर्गणाओं के भेद से इसकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिये तो भेद से इसकी उत्पत्ति कही है, दो अणुओं के सङ्घात से इसकी उत्पत्ति होती है इसलिये सङ्घात से इसकी उत्पत्ति कही है तथा दो द्व्यणुक भेद को प्राप्त होकर पुनः द्व्यणुक अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं इसलिये स्वस्थान की अपेक्षा भेद-सङ्घात से इसकी उत्पत्ति कही है। त्र्यणुक, चतुरणुक, संख्याताणुक, असंख्याताणुक, अनन्ताणुक, आहार वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, तैजस वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, भाषा वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, कार्मण वर्गणा और ध्रुव वर्गणा की उत्पत्ति भी ऐसे ही तीन प्रकार से होती हैं। सान्तर निरन्तर वर्गणा, प्रत्येकशरीर वर्गणा, बादरनिगोद वर्गणा, सूक्ष्मनिगोद वर्गणा और महास्कन्ध वर्गणा स्वस्थान की अपेक्षा भेद-सङ्घात से उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार स्कन्धों की उत्पत्ति कितने प्रकार से होती है इसका विवेचन किया ॥ २६ ॥

अणु की उत्पत्ति केवल भेद से बतलाई है इसका कारण यह है कि अणु पुद्गल द्रव्य की स्वाभाविक अवस्था है इसलिये उसकी उत्पत्ति संघात से नहीं हो सकती, क्योंकि संघात में दो या दो से अधिक परमाणुओं का सम्बन्ध विवक्षित है। षट्खण्डागम में भी अणु वर्गणा की उत्पत्ति इसीप्रकार से बतलाई है ॥ २७ ॥

अचाक्षुप स्कन्ध के चाक्षुप बनने में हेतु—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अचाक्षुष स्कन्ध भेद और सङ्घात से चाक्षुष होता है।

पुद्गलाणु का तो चक्षु से ग्रहण होता ही नहीं। स्कन्धों में भी कोई स्कन्ध अचाक्षुष होता है और कोई चाक्षुष। प्रस्तुत सूत्र में जो स्कन्ध अचाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रिय से अग्राह्य है वह चाक्षुष कैसे हो सकता है इसका विचार किया गया है। जो स्कन्ध पहले सूक्ष्म होने से अचाक्षुष है वह अपनी सूक्ष्मता का त्याग कर यदि स्थूल हो जाय तो चाक्षुष हो सकता है पर यह क्रिया न तो केवल भेद से ही सम्भव है, क्योंकि अचाक्षुष स्कन्ध में भेद के हो जाने पर भी उसकी अचाक्षुषता ज्यों की त्यों बनी रहती है और न केवल सङ्घात से ही सम्भव है, किन्तु इसके लिये भेद और सङ्घात दोनों की आवश्यकता है। खुलासा इस प्रकार है—

ऐसे दो स्कन्ध लो जिनमें एक अचाक्षुष है और दूसरा चाक्षुप। उनमें जो अचाक्षुष है वह चाक्षुष तभी हो सकता है जब वह चाक्षुप स्कन्ध के साथ एकत्व को प्राप्त होकर स्थूलता को प्राप्त कर ले। किन्तु समग्र अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष स्कन्ध के साथ एकत्व को नहीं प्राप्त हो सकता, इसलिये अचाक्षुष स्कन्ध का भेद होकर उसका कुछ हिस्सा

दूसरे चाक्षुष स्कन्ध के साथ मिलकर स्थूलता को प्राप्त करता है और तब जाकर अचाक्षुष स्कन्ध चाक्षुष होता है। इसप्रकार अचाक्षुप स्कन्ध केवल भेद से और केवल सङ्घात से चाक्षुष नहीं होता किन्तु भेद और सङ्घात दोनों से चाक्षुप होता है यह सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

द्रव्य का लक्षण—

*सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

द्रव्य का लक्षण सत् है।

लोक में जितने पदार्थ हैं वे सबके सब सद्रूप हैं, ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जो अस्तित्व के बहिर्मुख हो। यतः द्रव्य का मुख्य धर्म द्रवता-अन्वयशीलता है जो अस्तित्व से भिन्न नहीं, इसलिये द्रव्य का लक्षण सत् कहा है। यद्यपि द्रव्य अनेक हैं और उनकी विविधता भी सकारण है तथापि सद्रूप से सब एक हैं, इसलिये 'सत्' यह लक्षण सब द्रव्यों में घट जाता है। ॥ २९ ॥

'सत्' की व्याख्या—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् तदात्मक है वह सत् है।

जैनदर्शन के सिवा अन्य दर्शनों में सत् के विषय में चार मत मिलते हैं। एक मत यह है कि जगत् में जो कुछ है वह एक है, सद्रूप है और नित्य है। किन्तु इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि जगत् में जो कुछ है वह नाना है और विशरणशील (उत्पाद-व्ययशील) है।

सत् की परिभाषा

तीसरा मत सत् को तो मानता ही है पर इसके सिवा सत् से भिन्न असत् को भी मानता है। वह सत् में भी परमाणुद्रव्य और काल, आत्मा आदि को नित्य और कार्यद्रव्य

* श्वेताम्बर परम्परा में यह सूत्र नहीं है।

घट पट आदि को अनित्य मानता है। चौथा मत सत् के चेतन और अचेतन दो भेद करता है और उसमें चेतन को नित्य तथा अचेतन को परिणामी नित्य मानता है। एक ऐसा भी मत है जो जगत् की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता।

किन्तु जैनदर्शन में सत् की परिभाषा भिन्न प्रकार से की गई है। उसमें किसी भी पदार्थ को न तो सर्वथा नित्य ही माना है और न सर्वथा अनित्य ही। कारणद्रव्य सर्वथा नित्य और कार्यद्रव्य सर्वथा अनित्य है, यह भी उसका मत नहीं है किन्तु उसके मत से जड़ चेतन समग्र सद्रूप पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं।

अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्याय का त्याग व्यय है और अनादि पारिणामिक स्वभावरूप से अन्वय बना रहना ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सत् या द्रव्य के निज रूप हैं।

जैसे कोयला जलकर राख हो जाता है। इसमें पुद्गल की कोयलारूप पर्याय का व्यय होता है और क्षाररूप पर्याय का उत्पाद होता है किन्तु दोनों अवस्थाओं में पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व अचल रहता है। उसके प्राङ्गार (Carbon) तत्त्व का विनाश नहीं होता है। यही उसकी ध्रौव्यता है। द्रव्य विषयक उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए ही जैन सिद्धान्त में जगत्कर्ता की कल्पना को निराधार कहा गया है। द्रव्य अविनाशी है, ध्रुव है और इसलिये उसका शून्य में से निर्माण सम्भव नहीं। पुद्गल को जीव अथवा पुद्गल का निमित्त मिलने से उसमें केवल पर्यायों का ही परिवर्तन सम्भव है। जैनदर्शन का यह द्रव्यों की नित्यता का सिद्धान्त ही विज्ञान का प्रकृति की अनाश्यता का नियम (Law of Indestructibility of Matter) है। इस नियम को १८ वीं शताब्दि में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लैह्वाइजियर (Lavoisier) ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया था—'कुछ भी निर्मेय

नहीं है और प्रत्येक क्रिया के अन्त में उतनी ही प्रकृति (Matter) रहती है जितने परिमाण में वह क्रिया के आरम्भ में रहती है। केवल प्रकृति का रूपान्तर (Modification) हो जाता है।

वास्तव में इस सूत्र द्वारा जैनदर्शन का समग्र सार बतला दिया गया है। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं उन सब के गुण धर्म जुदे जुदे होकर भी वे सब एक सामान्य क्रम को लिये हुए हैं इसमें जरा भी सन्देह नहीं। पदार्थों के उस सामान्य क्रम का निर्देश ही इस सूत्र द्वारा किया गया है। इससे हमें मालूम पड़ता है कि जड़ चेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब एक ही धारा में प्रवाहित हो रहे हैं। इस तत्त्व को ठीक तरह से समझ लेने के बाद ईश्वरवाद की मान्यता तो छिन्न-भिन्न हो ही जाती है। साथ ही निमित्तवाद और इसके अन्तर्गत कर्मवाद की मान्यता की मर्यादा भी स्पष्टरूप से प्रतिभासित होने लगती है। कर्तृत्व की योग्यता स्व में है या पर में यह वाद पुराना है। सर्वथा भेदवादियों ने ऐसी योग्यता का बीज स्व को नहीं माना है क्योंकि उनके मत में जिसे स्व कहा जाय ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है। उनके इस भेद की कोई सीमा ही नहीं रही। यहाँ तक कि उन्होंने गुण गुणी में भेद मान लिया है। इसलिये उनके यहाँ कारण तत्त्व का विचार करते समय यह जिज्ञासा सहज ही उत्पन्न होती है कि जो भी पर पदार्थ कर्तारूप से स्वीकार किये जाते हैं उनमें यदि सबके सब अज्ञ हैं तो उनका सामञ्जस्य कैसे किया जा सकेगा ? उनमें कम से कम एक कारण तो बुद्धिमान् अवश्य होना चाहिये। ऐसा कारण बुद्धिमान् होकर भी यदि हीन प्रयत्न, निरिच्छ और अव्यापक हुआ तो वह बिना इच्छा के सर्वत्र सब प्रकार के कार्यों को कैसे कर सकेगा ? इसलिये इसी जिज्ञासा के उत्तरस्वरूप उन्होंने कर्तारूप से ईश्वर को स्वीकार किया है। उनके मत से जगत् में जितने भी कार्य होते हैं उन सब में ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का ज्ञान और ईश्वर का प्रयत्न कार्य करता है।

किन्तु उनकी यह जिज्ञासा यहीं समाप्त नहीं होती है। इसके आगे भी इसका क्रम चालू रहता है। तब एक नई जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यदि ऐसी स्थिति है तो फिर जगत् में विषमता क्यों दिखलाई देती है। जब सबका कर्ता ईश्वर है तो उसने सबको एकसा क्यों नहीं बनाया। वह सबको एकसे सुख, एकसी बुद्धि और एकसे भोग दे सकता था। स्वर्ग मोक्ष का अधिकारी भी सबको एकसा बना सकता था। उसने ऐसा क्यों नहीं किया। लोक में जो दुःखी, दरिद्र और निकृष्ट योनिवाले प्राणी दिखलाई देते हैं उन्हें उसे बनाना ही न था। वह ऐसा करता जिससे न तो किसी को किसी का स्वामी ही बनना पड़ता और न किसी को किसी का सेवक ही बनना पड़ता। एक तो उसे किसी का निर्माण ही नहीं करना था। यदि उसने ऐसा किया ही था तो सबको एकसे बनाता। प्रारम्भ से ही वह ऐसा ध्यान रखता जिससे किसी प्रकार की विषमता को जन्म ही न मिलता। न होता बाँस न बजती बाँसुरी। भला यह कहाँ का न्याय है कि एक नीच जाति का हो और दूसरा उच्च जाति का, एक दुःखी दरिद्र हो और दूसरा सातिशय सम्पत्तिशाली, एक चोरी जारी करके जीवन बितावे और दूसरा न्याय की तराजू लेकर इसका न्याय करे। क्या इन सब प्राणियों का निर्माण करते समय वह सो गया था। यदि यह बात नहीं है तो फिर उसने ऐसा क्यों किया।

यद्यपि इस जिज्ञासा का समाधान उनके यहाँ कर्मवाद को स्वीकार करके किया जाता है। उनका कहना है कि यह सब दोष उसका नहीं है। किन्तु यह दोष उन उन प्राणियों के कर्म का है। जिसने जैसा कर्म किया उसे उसने वैसा बना दिया। भला वह इससे अधिक और करता ही क्या। आखिर वह बुद्धिमान् ही तो ठहरा। वह ऐसा थोड़े ही कर सकता था कि जो अच्छा करे उसे भी अच्छा बनावे और जो बुरा करे उसे भी अच्छा बनावे। यदि वह ऐसा करता तो यह उसका सबसे

बड़ा पक्षपात होता। किन्तु वह ऐसा पक्षपात स्वयं कैसे कर सकता था। यदि कोई दूसरा पक्षपात करे तो उसका न्याय उसके दरबार में हो सकता है। पर यदि वह स्वयं इस प्रकार का पक्षपात करने लगे तो उसका न्याय कहाँ होगा। तब तो प्राणियों की उसके ऊपर से आस्था ही उठ जायगी। इसलिये उसने अपना यही न्याय रखा है कि जो जैसा करे उसे उसके कर्मानुसार ही योनि, बुद्धि और भोग मिलने चाहिये।

किन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि जिस आधार से यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई है वह आधार ही सदोष है। क्या भला यह युक्ति से पटने की बात है कि पदार्थ तो हो और उसका कोई निजरूप न हो? जब कि जगत् में पदार्थ हैं तो उनका निजरूप भी होना चाहिये। अन्यथा उन्हें अस्तिरूप नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार जब कि प्रत्येक पदार्थ का अपना निज स्वरूप सिद्ध हो जाता है तो बनना बिगड़ना भी उसका उसी से मानना पड़ता है। इसलिये सिद्धान्त तो यही स्थिर होता है कि प्रत्येक पदार्थ का कर्तृत्व उसका उसी में है अन्य में नहीं। फिर भी सर्वथा भेदवादियों ने इस संगत मान्यता की ओर ध्यान न देकर स्वार्थवश अनेक कल्पनाएँ कर डाली हैं और दूसरों को उन कल्पनाओं की उलझन में फँसा कर उनकी बुद्धि पर ताला लगा दिया है। इससे वे इतने मन्द बुद्धि हो गये हैं कि वे इन कल्पनाओं के जाल से सुलझ कर बाहर निकल ही नहीं पाते। यदि थोड़ी देर को यह मान भी लिया जाय कि प्रत्येक कार्य का कर्ता ईश्वर है तो वह सब प्राणियों के कर्मों का भी तो कर्ता हुआ। फिर यह सिद्धान्त कहाँ रहा कि जो जिस प्रकार का कर्म करता है उसे वह उसके कर्मानुसार ही योनि, बुद्धि और भोग देता है। तब तो यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि अच्छा बुरा जो कुछ भी होता है वह स्वयं ईश्वर ही करता कराता है। कर्म नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं ठहरती। पर ईश्वर का यह कर्तृत्व तो तब बने जब एक तो अन्य पदार्थ अन्य का

कर्ता सिद्ध हो जाय और दूसरे प्रत्येक कार्य में बुद्धिमान् की आवश्यकता समझ में आ जाय। किन्तु विचार करने पर ये दोनों ही बातें सिद्ध नहीं होती हैं। न तो एक पदार्थ दूसरे का कर्ता ही सिद्ध होता है और न प्रत्येक कार्य में बुद्धिमान की आवश्यकता ही अनुभव में आती है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्ता तो तब बने जब वस्तु में स्वकर्तृत्व की योग्यता न मानी जाय। किन्तु इसके साथ यह बात भी तो है कि जब वस्तु में स्वकर्तृत्व की योग्यता नहीं मानी जाती है तो उसमें अन्य के द्वारा कर्तृत्व की योग्यता कहाँ से आ सकती है क्योंकि जो स्वयं अपने जीवन के लिये उत्तरदायी नहीं है वह दूसरे के जीवन के लिये उत्तरदायी कैसे हो सकता है। इसलिये एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्ता है यह सिद्धान्त तो कुछ समझ में आता नहीं। युक्ति और अनुभव से भी इसकी सिद्धि नहीं होती। अनुभव में तो यही आता है और युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक पदार्थ का कर्तृत्व उसका उसी में है अन्य में नहीं। इसप्रकार जड़ और चेतन जितने भी पदार्थ हैं वे जब स्वयं अपने कर्ता सिद्ध होते हैं तो प्रत्येक कार्य के लिये बुद्धिमान् कारण की कल्पना करना भी संगत नहीं ठहरता किन्तु जो जैसा है वह उसी रूप में अपना कर्ता है यही सिद्ध होता है। यही कारण है कि प्रकृत में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य वस्तु के स्वभावरूप से स्वीकार किये गये हैं। जो भी पदार्थ है वह जिस प्रकार अपने स्वरूप में स्थित रहता है उसी प्रकार वह परिणमन शील भी है। वही स्वयं कारण है और वही स्वयं कार्य है। जो उसका त्रैकालिक अन्वयरूप स्वभाव है वह तो कारण है और जो उसकी प्रति समय परिणमनशीलता है वह कार्य है। यह प्रत्येक पदार्थ के कार्यकारणभाव की मीमांसा है। यह क्रम इसीप्रकार से चालू था, इसीप्रकार से चालू है और इसी प्रकार से चालू रहेगा। इसमें कभी भी व्यतिक्रम नहीं हो सकता है।

इस पर यह प्रश्न होता है कि यदि प्रत्येक पदार्थ के कार्यकारण-

भाव की मीमांसा इसप्रकार की है तो फिर घटादि की उत्पत्ति में कुंम्हार आदि को और गति, स्थिति आदि में धर्मादि द्रव्यों को निमित्त-कारणरूप से क्यों स्वीकार किया गया है। क्या इससे एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्ता है यह नहीं सिद्ध होता है। भेदवादियों ने भी तो इन्हें इसीरूप में कर्ता माना है। फिर क्या कारण है कि उनके उस मतका खण्डन किया जाता है। सो इस प्रश्न का यह समाधान है कि यद्यपि कार्यकारित्व की योग्यता तो उसकी उसी में है पर वह योग्यता निमित्तसापेक्ष होकर ही कार्यकारिणी मानी गई है, इसलिये प्रत्येक कार्य के होने में निमित्त को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु कार्य के होने में निमित्त का कितना स्थान है यह अवश्य ही विचारणीय है। अतः आगे इसी बात का विचार किया जाता है। निमित्त दो प्रकार के हैं—एक निष्क्रिय पदार्थ और दूसरे सक्रिय पदार्थ। निष्क्रिय पदार्थों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों की परिगणना की जाती है और सक्रिय पदार्थ अगणित हैं। इनमें से सर्व प्रथम निष्क्रिय निमित्तों की अपेक्षा विचार करने पर वे अप्रेरक निमित्त ही प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ एक पुरुष गमन करता है और धर्म द्रव्य उसके गमन करने में निमित्त होता है। अब यहाँ विचारणीय यह है कि धर्म द्रव्य ने उस पुरुष के गमन करने के लिये प्रेरणा की तब वह गमन करने के लिये प्रवृत्त हुआ या वह जब गमन करने लगा तब धर्म द्रव्य उसके गमन करने में निमित्त हुआ। ये दो ऐसे विकल्प हैं जिनका निर्णय होने पर ही निष्क्रिय निमित्तों की कार्य मर्यादा निश्चित होती है।

यह तो आगम में भी बतलाया है कि धर्म द्रव्य गति में निमित्त कारण तो है पर प्रेरक नहीं। इसका आशय यह है कि यदि गति क्रिया होती है तो वह निमित्त होता है अन्यथा नहीं। अनुभव से विचार करने पर भी यही बात समझ में आती है क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर सब पदार्थों की सर्वदा गति ही प्राप्त होगी, वे कभी भी स्थित नहीं रह

सकेंगे। किन्तु देखा यह जाता है कि जहाँ तक जिस पदार्थ को गमन करना होता है वे गमन करते हैं और जहाँ स्थित होना होता है वहाँ वे स्थित हो जाते हैं, इसलिये उक्त उदाहरण से तो यही निश्चित होता कि प्रथम विकल्प ठीक न होकर दूसरा विकल्प ही ठीक है। अर्थात् जब जीव और पुद्गल गमन करने के लिये प्रवृत्त होते हैं तभी धर्म द्रव्य गमन क्रिया में निमित्त होता है अन्यथा नहीं। इसलिये जितने भी निष्क्रिय पदार्थ हैं वे प्रेरकरूप से निमित्त नहीं हैं यह सिद्धान्त तो स्थिर हो जाता है। अब विचार केवल सक्रिय पदार्थों के विषय में ही रह जाता है सो विचार करने पर इनके विषय में भी यही निश्चित होता है कि ये भी प्रेरक निमित्त कारण नहीं हैं किन्तु धर्मादि द्रव्यों के समान ये भी उदासीन निमित्त कारण ही हैं। ये उदासीन निमित्तरूप से ही निमित्त कारण हैं ऐसा निर्णय करने के तीन कारण हैं—

१—जितने भी सक्रिय पदार्थ हैं उनमें निमित्तता की योग्यता सुनिश्चित नहीं है। एक बार वे जिस प्रकार के कार्य के होने में निमित्त होते है। दूसरी बार वे ठीक उससे विपरीत कार्य के होने में भी निमित्त होते हैं। उदाहरणार्थ—जो युवती प्रथम बार किसी को राग का विकल्प पैदा करने में निमित्त होती है वही युवती दूसरी बार उसी को विराग का विकल्प पैदा करने में भी निमित्त होती है।

२—जितने भी सक्रिय पदार्थ हैं उनमें एक काल में भी निमित्तता की योग्यता सुनिश्चित नहीं है क्योंकि विवक्षित कार्यों के प्रति वे जिस प्रकार निमित्त होते हैं उनसे विपरीत कार्यों के प्रति वे उसी समय अन्य प्रकार से भी निमित्त होते हैं। उदाहरणार्थ—जो युवती किसी एक को राग का विकल्प पैदा करती है वही दूसरे को उसी समय विराग का विकल्प पैदा करने में भी निमित्त होती है।

३–कार्य उपादानरूप होता है किन्तु निमित्त उससे जुदा है। माना कि कोई कोई निमित्त उपादान से अभिन्न प्रदेशी भी होता है। जैसे

किसी युवती को देखने से उसका ज्ञान होता है और यह ज्ञान उसके प्रति राग को पैदा करने में निमित्त होता है। पर इससे उक्त कथन में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यहाँ पर भिन्न द्रव्य उससे भिन्न कार्य के होने में कैसे निमित्त होता है इसका विचार किया जा रहा है।

इससे निश्चित होता है कि सक्रिय पदार्थ निष्क्रिय पदार्थों की तरह उदासीनरूप से ही निमित्त कारण होते हैं, प्रेरकरूप से नहीं।

शङ्का—इन बातों से तो इतना ही पता लगता है कि सक्रिय पदार्थों की निमित्तता अनियत है। इससे यह तो नहीं जाना जाता कि वे प्रेरक-रूप से निमित्त नहीं हैं ?

समाधान—जब कि सक्रिय पदार्थों में निमित्त होने की योग्यता एक काल में दो कार्यों की अपेक्षा भिन्न भिन्न प्रकार की होती है तब फिर उन्हें प्रेरकरूप से निमित्त कैसे माना जा सकता है अर्थात् नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि उक्त हेतुओं के आधार से यह निर्णय होता है कि सक्रिय पदार्थ भी अप्रेरक निमित्त हैं।

शङ्का—कभी कभी इच्छा न रहते हुए भी अनिच्छित स्थान के प्रति गति देखी जाती है। जैसे किसी शीघ्र गतिशील सवारी से यात्रा करने पर जहाँ उतरना चाहते हैं वहाँ उतरने का प्रयत्न करने पर भी आगे चले जाते हैं, इसलिये इस उदाहरण से तो यही स्थिर होता है कि सक्रिय पदार्थ प्रेरकरूप से भी निमित्त होते हैं ?

समाधान—इस उदाहरण से सक्रिय पदार्थ प्रेरकरूप से निमित्त होते हैं यह न सिद्ध होकर केवल इतना ही सिद्ध होता हैं कि गति क्रिया भिन्न प्रकार से हुई और इच्छा भिन्न प्रकार से हुई। इच्छा और गति में एकरूपता न आने पाई। शीघ्र गतिशील सवारी जिस स्थान पर जाकर रुकी वहाँ तक गति नहीं होनी थी इसका नियामक क्या ? यदि इसके नियामक का पता लग जाय तो अवश्य यह माना जा सकता है कि सक्रिय पदार्थ प्रेरकरूप से भी निमित्त है। किन्तु जब तक इस

बात का निश्चय नहीं होता तब तक केवल इतने आधार से सक्रिय पदार्थ को प्रेरक रूप से निमित्त मानना उचित नहीं है।

शङ्का—बुद्धि इसका नियामक है। बुद्धि से यह स्थिर कर लिया जाता है कि यह काम इस प्रकार से होना चाहिये। किन्तु जब वह काम प्रयत्न करने पर भी उस प्रकार से नहीं होता तो मालूम पड़ता है कि यहाँ निमित्त की बलवत्ता है। तभी तो वह काम जैसा विचारा था और जैसा प्रयत्न किया था वैसा नहीं हुआ ?

समाधान—बात यह है कि जैसे कोई कार्य अन्य के अधीन नहीं वैसे ही वह बुद्धि और प्रयत्न के भी अधीन नहीं है। कार्य अपनी गति से होता है। यदि उसका बुद्धि और प्रयत्न से मेल बैठ गया तो समझा जाता है कि यह बुद्धि और प्रयत्न से हुआ है और यदि उसका अन्य बाह्य निमित्त से मेल बैठ गया तो यह समझते हैं कि यह इससे हुआ है। तत्त्वतः प्रत्येक कार्य होता है अपनी अपनी योग्यता से ही क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक भी उसका उसी के साथ पाया जाता है। इसलिये निमित्त को किसी भी हालत में प्रेरक कारण मानना उचित नहीं है।

शङ्का—तब तो किसी भी कार्य में पुरुषार्थ का कोई स्थान ही नहीं रह जाता ?

समाधान—पुरुषार्थ का अर्थ प्रयत्न है, इसलिये जिस कार्य के होने में पुरुष का प्रयत्न निमित्त होता है वह कार्य पुरुषार्थ पूर्वक कहा जाता है, अतः कार्य में पुरुषार्थ का कोई स्थान ही नहीं है यह तो कहा नहीं जा सकता।

शङ्का—दैव का कार्य से क्या सम्बन्ध है ?

समाधान—उपादान-उपादेय सम्बन्ध तो है ही किन्तु कहीं कहीं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी है। दैव शब्द के दो अर्थ हैं—पूर्व कर्म और योग्यता। योग्यता यह प्रत्येक पदार्थ के स्वभावगत होती है, इस-

लिये इस अपेक्षा से उपादान-उपादेय सम्बन्ध है और प्रत्येक कार्य के प्रति इसका होना अनिवार्य है, क्योंकि योग्यता के बिना कोई भी कार्य नहीं होता। जितने भी कार्य होते हैं वे सब अपने अपने उपादान से ही होते हैं। किन्तु पूर्व कर्म सब कार्यों में निमित्त नहीं है। कुछ ही कार्यों के होने में वह निमित्त है। ऐसे कार्य संसारी जीव के विविध प्रकार के भाव और उसकी विविध अवस्थायें तथा शरीर, वचन, मन और श्वासोछ्वास ही माने गये हैं। इसलिये इन कार्यों से दैव का अर्थात् पूर्व कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध माना गया है। इन कार्यों के सिवा जगत् में और जितने भी कार्य होते हैं वे अन्य अन्य निमित्तों से होते हैं, पूर्व कर्म उनका निमित्त नहीं है।

शङ्का—यदि निमित्त कारण प्रेरक नहीं होता तब तो यह मानना चाहिये कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान की योग्यतानुसार ही होता है ?

समाधान—ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का—तो फिर निमित्त कारण क्यों माने गये हैं, क्योंकि इस स्थिति में निमित्तों की विशेष आवश्यकता तो नहीं रह जाती है ?

समाधान—वे हैं, अतः माने गये हैं, इसलिये उनकी आवश्यकता और अनावश्यकता का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

शङ्का—तब तो यदि कोई यह मानकर बैठ जाय कि जब जो होना होगा सो होगा, हम प्रयत्न क्यों करें, तो क्या हानि है ?

समाधान—ऐसा मानकर बैठ जाने में हानि तो कुछ भी नहीं है, पर ऐसा मानकर वह बैठता कहाँ है। जिन कार्यों के प्रति उसका राग नहीं है उनके लिये भले ही यह बहाना करे पर जिन कार्यों में उसकी रुचि है उन्हें तो वह प्रयत्नपूर्वक करना ही चाहता है। यद्यपि यह ठीक है कि प्रत्येक कार्य उपादान की योग्यतानुसार ही होता है और प्रयत्न भी तदनुकूल होता है, पर होते हैं ये दोनों स्वतन्त्र ही। केवल इनका

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से यह कहा जाता है कि यह कार्य इस प्रयत्न का फल है।

शङ्का—तब तो जगत् का क्रम सुनिश्चित-सा प्रतीत होता है?

समाधान—ऐसा मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का—यही आपत्ति है कि इससे बुद्धि को विश्राम मिल जाता है और प्रयत्न मन्द पड़ जाता है?

समाधान—ऐसा मानने से न तो बुद्धि को विश्राम ही मिलता है और न प्रयत्न ही मन्द पड़ता है, क्योंकि इनका भी अपनी अपनी दिशा में होना अनिवार्य है। होता यह है कि जिसकी बुद्धि या प्रयत्न जिस कार्य के बनने-बिगड़ने में निमित्त हो जाता है वह वहाँ सफलता या असफलता का भागी माना जाता है।

शङ्का—यदि इस दृष्टि से ईश्वर को निमित्त कारण मान लिया जाय तो क्या हानि है?

समाधान—जिस आधार से ईश्वरवाद को माना गया है उसका इस मान्यता से कोई मेल नहीं बैठता।

शङ्का—इन दोनों मान्यताओं में क्या अन्तर है?

समाधान—ईश्वरवाद की मान्यता का मुख्य आधार उसकी इच्छा और उसका प्रयत्न है। वह जिस कार्य के विषय में जैसा सोचता है और जैसा प्रयत्न करता है वह कार्य उसीप्रकार का होता है। जिस समवायी कारण से वह कार्य बना है उसकी कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती। किन्तु इस मान्यता में जड़ चेतन दोनों की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है उसमें कोई बाधा नहीं आती।

शंका—यदि इस मान्यता में निमित्त को जितना स्थान प्राप्त है उस रूप में ईश्वरवाद को मान लिया जाय तब तो कोई हानि नहीं है?

समाधान—यदि इस रूप में ईश्वरवाद को स्वीकार किया जाता है

तब तो ईश्वर की मान्यता का कोई मूल्य ही नहीं रहता। उसका मानना न मानने के समान हो जाता है।

शंका—ईश्वरवाद की मान्यता के समान यदि इस मान्यता को भी त्याग दिया जाय तो क्या हानि है?

समाधान—यह वस्तु स्वभाव का उद्घाटनमात्र है। जगत् का जो क्रम चालू है उसे ही उद्घाटित करके बतलाया गया है इसलिये इसे मान्यता शब्द द्वारा कहा गया है। किन्तु ईश्वरवाद की मान्यता केवल कल्पना का विषय है।

शंका—यदि कार्य के विषय में आंशिक परतन्त्रता मान लें तो क्या हानि है?

समाधान—यह आंशिक परतन्त्रता की मान्यता ही पूर्ण परतन्त्रता की मान्यता की जननी है। ईश्वरवाद की मान्यता इसी भावना में से पनपी है। अतः निमित्त की मुख्यता से तो आंशिक परतन्त्रता बनती ही नहीं। हाँ यदि परतन्त्रता का अर्थ इतना किया जाता है कि कार्य जैसे उपादान से होता है वैसे वह निमित्तसापेक्ष भी होता है तो ऐसी मान्यता में कोई बाधा नहीं आती। यह कार्यकारणव्यवस्था के अनुकूल है। इससे निमित्त को मान कर भी प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता यथावत् बनी रहती है।

शंका—उक्त दोनों दर्शनों में से किसे मानने में लाभ है और किसे मानने में हानि है?

समाधान—यद्यपि हानि लाभ मान्यता में नहीं है, क्योंकि वस्तु व्यवस्था जैसी है वह अपने क्रमानुसार स्वयं चल रही है पर इन मान्यताओं के आधार से जीवन पर अच्छा बुरा प्रभाव तो पड़ता ही है। यथा—

ईश्वरवाद की मान्यता से निम्नलिखित बुराइयों को जन्म मिलता है—

(१) व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होकर वह सदा परतन्त्रता का अनुभव करता है। व्यक्ति की मालिकी जाकर सदा के लिये वह नौकर मात्र रह जाता है।

(२) उसे अपने उत्थान पतन के लिये दूसरे की ओर देखना पड़ता है।

(३) उसके अपने कार्य में भी उसकी स्वतन्त्रता नहीं रहती।

(४) अच्छा बुरा जो भी होता है वह ईश्वर की कृपा का फल होने से कार्य के विषय में संशोधन की भावना लुप्त होती है।

(५) ईश्वरेच्छा के नाम पर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर हावी होने का अवसर मिलता है जिससे अनेक विषमताएँ व संघर्ष जन्म पाते हैं। आज की आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था व संस्थावाद आदि इसी के फल हैं।

तथा स्वकर्तृत्व और व्यक्तिस्वातन्त्र्य की भावना से निम्न लिखित भलाइयों को जन्म मिलता है—

(१) प्रत्येक व्यक्ति अपने को पूर्ण स्वतन्त्र अनुभव करता है। वह चेतन को तो ऐसा मानता ही है जड़ को भी ऐसा ही मानता है।

(२) प्रत्येक व्यक्ति अपने अच्छे बुरे कार्यों के प्रति स्वयं अपने को उत्तरदायी अनुभव करता है।

(३) एक व्यक्ति की दूसरे पर हावी होने की भावना का लोप होता है।

(४) निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धों के बीच में किसी अज्ञात शक्ति के न होने के कारण सहयोग प्रणाली के आधार पर संतुलन रखने में सुविधा होती है जिससे किसी भी प्रकार की विषमता को जन्म देने में व्यक्ति निमित्त नहीं होने पाता।

शंका—जब जगत् का क्रम सुनिश्चित है तब ईश्वरवाद को दोष देने में क्या लाभ है?

समाधान—ऐसा मान कर भी वर्तमान अव्यवस्था में कारण ईश्वरवाद तो है ही। जैसे विवक्षित व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र हो सकता है पर उसकी वर्तमान दुरवस्था का कारण मिथ्यात्व माना जाता है, क्योंकि उसकी वर्तमान अवस्था का कारण वही है। वैसे ही वर्तमान में सर्वत्र जो विषमता फैली हुई है उसका कारण ईश्वरवाद की मान्यता ही है। इस मान्यता का त्याग किये बिना व्यक्ति न तो अपने को पूर्ण स्वतन्त्र अनुभव कर सकता है और न संसार बन्धन से उसका छुटकारा ही हो सकता है।

शंका—यदि कहीं निमित्त और कहीं उपादान की प्रधानता मान लें तो क्या हानि है?

समाधान—ऐसा मानने से प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता का घात होता है जो इष्ट नहीं है, अतः प्रत्येक पदार्थ की धारा अपनी योग्यतानुसार चालू रहती है और उस धारा के चालू रहने में अन्य अन्य पदार्थ निमित्त होते रहते हैं ऐसा मानना ही उचित है और यही सिद्धान्त पक्ष है॥ ३०॥

नित्यत्व का स्वरूप—

तद्भावाव्ययं नित्यम्॥ ३१॥

उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न होना नित्य है।

पिछले सूत्र में वस्तु को त्रयात्मक बतलाया है। इस पर प्रश्न होता है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक साथ कैसे रह सकते हैं, क्योंकि इनके एक साथ रहने में विरोध आता है। जो उत्पाद-व्ययरूप है वह ध्रौव्यरूप नहीं हो सकता और जो ध्रौव्यरूप है वह उत्पाद-व्ययरूप नहीं हो सकता। जब कि ध्रौव्य नित्यत्व का सूचक है और उत्पाद-व्यय अनित्यत्व के सूचक हैं तब उसी को नित्य और उसी को अनित्य मानना युक्त संगत नहीं, क्योंकि इससे विरोधादि अनेक दोष

आते हैं जिससे वस्तु का अभाव प्राप्त होता है। खुलासा इस प्रकार है—नित्यत्व और अनित्यत्व इनका शीत और उष्ण के समान एक काल में एक वस्तु में रहना विरोधी है, इसलिये विरोध दोष आता है। यतः इनका एक काल में एक वस्तु में रहना विरुद्ध है अतः इनका आधार भी एक सिद्ध नहीं होता, इसलिये वैयधिकरण्य दोष आता है। एक ही वस्तु में जिन स्वरूपों की अपेक्षा भेदाभेद माना जाता है उन स्वरूपों में भी किसी अन्य अपेक्षा से भेदाभेद माना जायगा, इस प्रकार उत्तरोत्तर कल्पना करने से अनवस्था दोष आता है। वस्तु में जिस धर्म की मुख्यता से नित्यत्व धर्म माना जाता है उसी की अपेक्षा नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों मानने पर सङ्कर दोष प्राप्त होता है। यदि जिस धर्म की अपेक्षा भेद माना जाता है उसी की अपेक्षा अभेद माना जाय और जिसकी अपेक्षा अभेद माना जाता है उसी की अपेक्षा भेद माना जाय तो व्यतिकर दोष आता है। यतः वस्तु नित्यानित्यात्मक है अतः उसका किसी एक असाधारण धर्म के द्वारा निश्चय करना अशक्य है इसलिये संशय दोष प्राप्त होता है। और इस प्रकार वस्तु के संशयापन्न हो जाने के कारण उसकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती और बिना प्रतिपत्ति के वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना नहीं बनता। इसलिये पिछले सूत्र में जो सत् की व्याख्या उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप की है वह नहीं बनती ? इस प्रकार सत् की उक्त व्याख्या करने पर जो अनेक दोष प्राप्त होते हैं उनके परिहार के लिये जैन दर्शन के अनुसार नित्यत्व का स्वरूप बतलाना प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन है।

जैसा कि अन्य दर्शनों में नित्य का अर्थ कूटस्थ नित्य किया है नित्यत्व का वैसा अर्थ यदि जैन दर्शन में किया होता तो एक ही वस्तुमें नित्यत्व और अनित्यत्व के एक काल में मानने में उक्त दोष भले ही प्राप्त होते। परन्तु जैन दर्शन किसी भी वस्तु को सर्वथा नित्य नहीं मानता किन्तु कथंचित् नित्य मानता है जिसका अर्थ होता है परिणामी

नित्य। तात्पर्य यह है कि जैसे त्रिकाल में अपनी जाति का नहीं त्याग करना प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है वैसे ही उसमें रहते हुए परिणमन करना भी उसका स्वभाव है। यही उसकी परिणामीनित्यता है। इस प्रकार वस्तु को परिणामीनित्य मान लेने पर उसमें सन्तान की अपेक्षा से ध्रौव्य और परिणाम की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय के घटित होने में कोई दोष नहीं आता। जग में चेतन या अचेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं यह इसका तात्पर्य है ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त कथन की सिद्धि में हेतु—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्पित का अर्थ मुख्य और अनर्पित का अर्थ गौण है। वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसमें प्रयोजनवश जिस धर्म की मुख्यता होती है वह विवक्षावश प्रधानता को प्राप्त होकर अर्पित कहा जाता है और उससे विपरीत धर्म अनर्पित हो जाता है। उस समय उसकी विवक्षा न होने से वह गौण हो जाता है। उसका कथन नहीं किया जाता है। इसलिये एक ही पदार्थ को कभी नित्य और कभी अनित्य कहने में कोई विरोध नहीं आता है। यदि द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा रहती है तो वह नित्य कहा जाता है और पर्यायार्थिक नय की विवक्षा रहती है तो वह अनित्य कहा जाता है। जिस प्रकार एक ही मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा पुत्र कहा जाता है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता कहा जाता है। इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिये। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस समय वस्तु नित्य कही जाती है उस समय उसमें एकमात्र नित्य धर्म ही रहता है और जिस समय वह अनित्य कही जाती है उस समय उसमें एकमात्र अनित्य धर्म ही रहता है क्योंकि ऐसा मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। वस्तु जिस प्रकार नित्य है उसी प्रकार वह अनित्य भी है। एक

दृष्टि से नित्य है और दूसरी दृष्टि से अनित्य है। त्रैकालिक अन्वयरूप परिणाम की अपेक्षा नित्य है और प्रति समय होनेवाली पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इससे वस्तु की परिणामीनित्यता सिद्ध होती है। किन्तु इन दोनों धर्मों का वस्तु में एक साथ कथन नहीं किया जा सकता है। उनका क्रम से कथन करना पड़ता है, इसलिये जिस समय जिस धर्म का कथन किया जाता है उस समय उसको स्वीकार करनेवाली दृष्टि मुख्य हो जाती है और इससे विरोधी धर्म को स्वीकार करनेवाली दृष्टि गौण हो जाती है। वस्तु में विरुद्ध दो धर्मों की सिद्धि इसी प्रकार होती है ॥ ३२ ॥

पौद्गलिक बन्ध के हेतु का कथन—

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है।

स्निग्धत्व का अर्थ चिकनापन है और रूक्षत्व का अर्थ रूखापन है। ये पुद्गल के स्पर्श गुण की पर्याय हैं जो पुद्गल के परस्पर बन्ध में प्रयोजक मानी गई हैं। इन्हीं के कारण द्व्यणुक आदि स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु से अकारण बन्ध नहीं होता है किन्तु उस बन्ध में उनकी स्निग्ध पर्याय या रूक्ष पर्याय कारण होती है।

यद्यपि प्रत्येक कार्य के होने में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के कारण लगते हैं। किसी एक के बिना कार्य नहीं होता। फिर भी यहाँ पर बाह्य कारण का निर्देश न करके केवल आन्तर कारण का निर्देश किया गया है। इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि बन्ध कार्य के प्रति पुद्गल की उपादान योग्यता क्या है जिससे एक पुद्गल का दूसरे पुद्गल से बन्ध होता है। इस स्निग्ध और रूक्षरूप योग्यता के द्वारा ही द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, संख्याताणुक, असंख्याताणुक

और अनन्ताणुक स्कन्ध की उत्पत्ति होती है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

पुद्गल में ऐसी स्वाभाविक योग्यता है जिससे वह इन गुणों के कारण बन्ध को प्राप्त होता है। जीव को जिस प्रकार प्रतिसमय के बन्ध के लिये अलग अलग निमित्त लगते हैं उस प्रकार पुद्गल को ऐसे बन्ध के लिये अलग अलग निमित्त अपेक्षित नहीं है। किन्तु वह इन गुणों के कारण परस्पर में सुतरां बन्धको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

बन्धके सामान्य नियम के अपवाद—

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

जघन्य गुण—शक्त्यंशवाले अवयवों का बन्ध नहीं होता।

समान शक्त्यंशके होने पर सदृशों का बन्ध नहीं होता।

किन्तु दो शक्त्यंश अधिक आदि वाले अवयवों का बन्ध होता है।

यहाँ गुण शब्द शक्त्यंश या पर्यायवाची है। प्रत्येक गुण की पर्याय एक सी नहीं होती। वह प्रति समय बदलती रहती है। इसलिये यह प्रश्न होता है कि प्रत्येक पुद्गल हर अवस्था में क्या बन्ध का प्रयोजक माना गया है या इसके कुछ अपवाद हैं। यहाँ प्रस्तुत सूत्रों में से पहले और दूसरे सूत्र द्वारा इन्हीं अपवादों का विचार किया गया है और तीसरे सूत्र द्वारा बन्ध की योग्यता का निर्देश किया गया है।

प्रथम सूत्र में यह बतलाया गया है कि जिन परमाणुओं में स्निग्ध और रूक्ष पर्याय जघन्य हो उनका बन्ध नहीं होता। वे तब तक परमाणु दशा में ही बने रहते हैं जब तक उनकी जघन्य पर्याय नहीं बदल जाती है। इससे यह फलित होता है कि जिनकी जघन्य पर्याय नहीं

होती उनका बन्ध हो सकता है। परन्तु इसमें भी अपवाद है जो अगले सूत्र में बतलाया गया है। इसके अनुसार मध्यम या उत्कृष्ट शक्त्यंश-वाले परमाणुओं का भी बन्ध नहीं हो सकता। इनमें यद्यपि बंधने की योग्यता तो है पर ये समान शक्त्यंशवाले परमाणुओं के साथ बन्ध को नहीं प्राप्त होते इतना मात्र इसका तात्पर्य है।

इस सूत्र में सदृश पद और है। इससे यह अर्थ फलित होता है कि असमान शक्त्यंशवाले सदृश परमाणुओं का और समान शक्त्यंशवाले विसदृश परमाणुओं का बन्ध हो सकता है जो इष्ट नहीं है इसलिये तीसरे सूत्र द्वारा बन्ध की मर्यादा निश्चित की गई है। इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि दो शक्त्यंश अधिक होने पर एक पुद्गल का दूसरे पुद्गल से बन्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ एक परमाणु में स्निग्ध या रूक्ष गुण के दो शक्त्यंश हैं और दूसरे परमाणु में चार शक्त्यंश हैं तो इन दोनों परमाणुओं का बन्ध हो सकता है। एक परमाणु में स्निग्ध या रूक्ष गुण के तीन शक्त्यंश हैं और दूसरे परमाणु में पाँच शक्त्यंश हैं तो इन दो परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है। हर हालत में बंधनेवाले पुद्गलों में दो शक्त्यंशों का अन्तर होना चाहिये। इससे न्यून या अधिक अन्तर के होने पर बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ—एक परमाणु में स्निग्ध या रूक्ष गुण के दो शक्त्यंश हैं और दूसरे परमाणु में तीन या पाँच शक्त्यंश हैं तो इनका बन्ध नहीं हो सकता। परमाणुओं की बन्ध योग्यता सर्वत्र द्व्यधिकता के नियमानुसार मानी गई है।

बन्ध सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के पुद्गलों का परस्पर में होता है। सदृश का अर्थ समानजातीय और विसदृश का अर्थ असमानजातीय है। एक रूक्ष पुद्गल के प्रति दूसरा रूक्ष पुद्गल समानजातीय है और स्निग्ध पुद्गल असमानजातीय है। इसी प्रकार एक स्निग्ध पुद्गल के प्रति दूसरा स्निग्ध पुद्गल समानजातीय है और

रूक्ष पुद्गल असमानजातीय है। द्व्यधिक गुण के नियमानुसार यद्यपि सदृश का सदृश के साथ और सदृश का विसदृश के साथ बन्ध होता है पर जघन्य शक्त्यंश वाले पुद्गल के लिये यह नियम लागू नहीं है। वह जघन्य शक्त्यंश के रहते हुए सदा अबद्ध दशामें रहता है। यदि उसकी जघन्य पर्याय न रह कर वह बदल जाती है तो उक्त नियम के अनुसार वह भी बन्ध के योग्य हो जाता है।

अब इसी विषय को कोष्ठक द्वारा स्पष्ट करके बतलाते हैं—

क्रमांक	गुणांश	सदृश बन्ध	विसदृशबन्ध
१	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२	जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
३	जघन्य + द्व्यधिक	नहीं	नहीं
४	जघन्य + त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५	जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८	जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

श्वेताम्बर परम्परा में इन सूत्रों के अर्थ में मतभेद है। वहाँ एक तो गुणांशों की समानता रहने पर विसदृशों का बन्ध माना है दूसरे गुणांशों की विसदृशता रहने पर सदृशों का बन्ध माना है और तीसरे 'द्व्यधिकादि' सूत्र में आदि पद को प्रकारवाची न मान कर उससे तीन, चार आदि गुणों का ग्रहण किया है॥ ३४-३६॥

बन्ध के समय होनेवाली अवस्था का निर्देश—

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ❀ ॥ ३७ ॥

बन्ध के समय दो अधिक शक्त्यंश दो हीन शक्त्यंश का परिणमन करानेवाले होते हैं।

पुद्गलों का किस अवस्था में बन्ध होता है और किस अवस्था में बन्ध नहीं होता है इसका निर्देश कर देने पर प्रश्न होता है कि जिन रूक्ष और स्निग्ध शक्त्यंशवाले पुद्गलों का बन्ध होता है बन्ध के बाद उनकी वैसी स्थिति बनी रहती है या उनमें एकरूपता आ जाती है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए यहाँ बतलाया गया है कि बन्ध के समय दो अधिक शक्त्यंशवाले पुद्गल दो हीन शक्त्यंशवाले पुद्गल का परिणमन करानेवाले होते हैं। यह तो प्रत्यक्ष से ही दिखाई देता है कि जिस प्रकार गीला गुड़ उस पर पड़ी हुई धूलि को अपने रूप में परिणमा लेता है उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुणवाला पुद्गल हीन गुणवाले पुद्गल का परिणमन करानेवाला होता है। इस प्रकार यद्यपि हीन शक्त्यंशवाला पुद्गल अधिक शक्त्यंशवाले पुद्गल रूप परिणम जाता है तथापि उनकी पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है इसलिये उन बँधे हुए पुद्गलों में एकरूपता आ जाती है। जिस प्रकार वस्त्र में शुक्ल और कृष्ण तन्तुओं का संयोग होता है ऐसा उनका संयोग नहीं होता किन्तु वे परस्पर में इस प्रकार मिल जाते हैं जिससे उनमें भेदकी प्रतीति नहीं होती ॥ ३७ ॥

❀ श्वेताम्बर परम्परा में 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' ऐसा सूत्र पाठ है। तदनुसार उसमें एक सम का दूसरे सम को अपने स्वरूप में मिलाने रूप अर्थ भी इष्ट है।

प्रकारान्तर से द्रव्य का स्वरूप—

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

गुण और पर्यायवाला द्रव्य होता है।

पहले द्रव्य का लक्षण बतला आये हैं। यहाँ प्रकारान्तर से उसका लक्षण बतलाया जाता है।

जिसमें गुण और पर्याय हो वह द्रव्य है। गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी। प्रत्येक द्रव्य में कार्यभेद से अनन्त शक्तियों का अनुमान होता है। इन्हीं की गुण संज्ञा है। ये अन्वयी स्वभाव होकर भी सदा काल एक अवस्था में नहीं रहते हैं किन्तु प्रति समय बदलते रहते हैं। इनका बदलना ही पर्याय है। गुण अन्वयी होते हैं, इस कथन का यह तात्पर्य है कि शक्ति के मूल स्वभाव का कभी भी नाश नहीं होता। ज्ञान सदा काल ज्ञान बना रहता है। तथापि जो ज्ञान इस समय है वही ज्ञान दूसरे समय में नहीं रहता। दूसरे समय में वह अन्य प्रकार का हो जाता है। इससे मालूम पड़ता है कि प्रत्येक गुण अपनी धारा के भीतर रहते हुए भी प्रति समय अन्य अन्य अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है। गुणों की इन अवस्थाओं का नाम ही पर्याय है। इससे उन्हें व्यतीरेकी कहा है। वे प्रति समय अन्य अन्य होती रहती हैं। ये गुण और पर्याय मिलकर ही द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनके सिवा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ये दोनों उसके स्वरूप हैं। गुण और पर्याय रूप से ही द्रव्य अनुभव में आता है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

पहले यद्यपि द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव बतला आये हैं और यहाँ उसे गुण पर्यायवाला बतलाया है पर विचार करने पर इन दोनों लक्षणों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जो वस्तु वहाँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्द द्वारा कही गई है वही यहाँ

गुण और पर्याय शब्द द्वारा कही गई है। उत्पाद और व्यय ये पर्याय के दूसरे नाम हैं और ध्रौव्य यह गुण का दूसरा नाम है, इसलिये द्रव्य को चाहे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव कहो या गुण और पर्यायवाला कहो, दोनों का एक ही अर्थ है। गुण और पर्याय ये लक्ष्य स्थानीय हैं तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये लक्षण स्थानीय हैं, इसलिये गुण का लक्षण ध्रौव्य प्राप्त होता है तथा पर्याय का लक्षण उत्पाद और व्यय प्राप्त होता है। जिसका लक्षण किया जाय उसे लक्ष्य कहते हैं और जिसके द्वारा वस्तु की पहचान की जाय उसे लक्षण कहते हैं। गुण की मुख्य पहिचान उसका सदाकाल बने रहना है और पर्याय की मुख्य पहिचान उसका उत्पन्न होते रहना और विनष्ट होते रहना है।

यहाँ द्रव्यों को लक्ष्य तथा गुण और पर्याय को उसका लक्षण कहा है। इससे सहज ही इनमें भेद की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः इनमें भेद नहीं है। जो द्रव्य है वही गुण और पर्याय हैं तथा जो गुण और पर्याय हैं वही द्रव्य है। इसी प्रकार पर्याय भी गुणों से सर्वथा जुदी नहीं है। गुणों का अन्वय स्वभाव ही गुण शब्द द्वारा कहा जाता है और उनकी विविध रूपता ही पर्याय शब्द द्वारा कही जाती है। सार यह है कि विश्लेषण करने पर इन सबकी पृथक् पृथक् प्रतीति होती है, वस्तुतः वे पृथक् पृथक् नहीं हैं।

इस विषय को ठीक तरह से समझने के लिये सोनेका दृष्टान्त ठीक होगा। सोना पीतत्व आदि अनेक धर्म और उनकी तरतमरूप अवस्थाओं के सिवा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। कोई सोना कम पीला होता है और कोई अधिक पीला होता है। कोई गोल होता है और कोई त्रिकोण या चतुष्कोण होता है। सोना इन सब पीतत्व आदि शक्तियों में और उनकी प्रति समय होनेवाली विविध प्रकार की पर्यायों में व्याप्त कर स्थित है। सब द्रव्यों का यही स्वभाव है। अपने गुण पर्यायों के सिवा उनकी और स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

द्रव्य छः हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें साधारण और असाधारण दोनों प्रकार के अनन्त गुण और उनकी विविध प्रकार की पर्यायें तादात्म्य रूप से स्थित हैं। साधारण गुण वे कहलाते हैं जो एकाधिक द्रव्यों में या सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सब द्रव्यों में पाये जानेवाले साधारण गुण हैं और अमूर्तत्व यह पुद्गल के सिवा शेष द्रव्यों में पाया जानेवाला साधारण गुण है। असाधारण गुण वे कहलाते हैं जो प्रत्येक द्रव्य की अपनी विशेषता रखते हैं। जीव में चेतना आदि, पुद्गल में रूप आदि, धर्म में गतिहेतुत्व आदि, अधर्म में स्थितिहेतुत्व आदि, आकाश में अवगाहनत्व आदि और काल में वर्तनहेतुत्व आदि उस उस द्रव्य के विशेष गुण हैं। ये प्रत्येक द्रव्य की अनुजीवी शक्तियाँ हैं। इनसे ही उस उस द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता जानी जाती है। जिस द्रव्य के जितने गुण हैं उतनी ही प्रति समय उनकी पर्यायें होती हैं। पर्यायें बदलती रहती हैं।

द्रव्य को गुण पर्यायवाला कहने का हेतु यही है ॥ ३८ ॥

काल द्रव्य की स्वीकारता और उसका कार्य—

*** कालश्च ॥ ३९ ॥**

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

काल भी द्रव्य है।

वह अनन्त समय (पर्याय) वाला है।

पहले काल के उपकारों पर प्रकाश डाल आये हैं परन्तु वह भी द्रव्य है ऐसा विधान नहीं किया है इसलिये यहाँ उसे द्रव्य रूप से स्वीकार किया गया है।

---

* श्वेताम्बर परम्परा में 'कालश्चेत्येके' ऐसा पाठ है। तदनुसार वे काल को एकमत से द्रव्य स्वीकार नहीं करते।

प्रत्येक द्रव्य का प्रति समय अपनी विविध पर्यायों के द्वारा उत्पाद व्यय होता है। यह उत्पाद व्यय अकारण तो हो नहीं सकता। जैसे जीव और पुद्गल की गति में धर्म द्रव्य साधारण कारण है और गतिपूर्वक होनेवाली स्थिति में अधर्म द्रव्य साधारण कारण है वैसे ही प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय जो नई नई पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे अकारण नहीं हो सकतीं। उनका भी कोई साधारण कारण होना चाहिये। यहाँ जो भी साधारण कारण रूप से स्वीकार किया गया है वही काल द्रव्य है।

इसमें वर्तनाहेतुत्व आदि असाधारण गुण हैं और अमूर्तत्व, अचेतनत्व, सूक्ष्मत्व आदि साधारण गुण हैं। तथा इनकी उत्पाद व्ययरूप प्रति समय होनेवाली पर्यायें हैं। इसलिये द्रव्य के दोनों लक्षण घटित होने से यह भी द्रव्य है।

काल द्रव्य परमाणु के समान एक प्रदेशी है। वह द्व्यणुक आदि के समान संख्यात प्रदेशी, धर्म द्रव्य के समान असंख्यात प्रदेशी और आकाश के समान अनन्त प्रदेशी नहीं है।

काल द्रव्य प्रति समय होनेवाली पर्याय का साधारण कारण है इसलिये उसे अणुरूप स्वीकार किया गया है। ऐसे कालाणु असंख्यात हैं जो लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थित हैं।

यद्यपि दिन रात का भेद सूर्य आदि के निमित्त से होता है इसलिये ऐसी प्रतीति होती है कि कालिक परिवर्तन का मुख्य कारण पुद्गल है। पर जहाँ सूर्यादि नहीं हैं कालिक भेद तो वहाँ भी होता है। वह सर्वथा अकस्मात् नहीं हो सकता इसलिये उसके मुख्य कारण रूप से काल द्रव्य स्वीकार किया गया है।

जैसे वर्तमान समय है ऐसे ही अतीत अनन्त समय हो गये हैं और आगे अनन्त समय होंगे। समय उसकी एक पर्याय है। अतीत

अनागत और वर्तमान सब मिला कर वे अनन्त होती हैं इसलिये काल द्रव्य अनन्त समयवाला कहा गया है।

मन्द गति से एक पुद्गल परमाणु को लोकाकाश के एक प्रदेश पर से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना काल लगता है उसका नाम एक समय है। ऐसे अनन्त समयवाला काल द्रव्य है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ ३९-४० ॥

गुण का स्वरूप—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

जो सदा द्रव्य में रहनेवाले हैं और स्वयं गुण रहित हैं वे गुण हैं।

पहले द्रव्य के लक्षण का निर्देश करते समय गुण का कथन किया था, इसलिये यहाँ उसका स्वरूप बतलाया गया है।

शंका—पर्याय कार्य है और गुण कारण है। गुण और पर्याय दोनों ही द्रव्य में पाये जाते हैं और दोनों ही निर्गुण हैं इसलिये 'द्रव्याश्रया निर्गुणाः' यह केवल गुण का लक्षण नहीं ठहरता, क्योंकि यह पर्याय में भी पाया जाता है।

समाधान—माना कि यह लक्षण पर्याय में भी घटित होता है पर इसमें 'सदा' विशेषण लगा देने से पर्याय की निवृत्ति हो जाती है क्योंकि पर्याय उत्पाद विनाशशील है। वे गुणों के समान सदा द्रव्य में नहीं रहतीं पर गुण नित्य होने से सदा द्रव्य में रहते हैं।

गुण शक्तिविशेष का नाम है। उसमें अन्य शक्ति का वास नहीं इसलिये उसे निर्गुण कहा है। ऐसे गुण प्रत्येक द्रव्य में अनन्त होते हैं ॥ ४१ ॥

परिणाम का स्वरूप

⊛ तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है।

परिणाम पर्याय का दूसरा नाम है। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है उसी के भीतर उसमें परिवर्तन होता है। जैसे मनुष्य बालक से युवा और युवा से वृद्ध होता है पर वह मनुष्यत्व का त्याग नहीं करता वैसे ही प्रत्येक द्रव्य अपनी धाराके भीतर रहते हुए परिवर्तन करती रहती है। वह न तो सर्वथा कूटस्थ नित्य है और न सर्वथा क्षणिक ही। ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य अलग रहा आवे और उसमें परिणाम अलग से हुआ करे किन्तु ऐसा है कि द्रव्य स्वयं मूल जातिका त्याग किये बिना प्रति समय भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। इनकी इन अवस्थाओं का नाम ही परिणाम है।

ये सब द्रव्यों में अनादि और सादि के भेद से दो प्रकार के होते हैं। प्रवाह की अपेक्षा वे अनादि हैं, क्योंकि परिणाम का प्रवाह प्रत्येक द्रव्य में अनादि काल से चालू है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। उसका न तो आदि है और न अन्त है। तथा विशेष की अपेक्षा सादि हैं। प्रति समय नया नया परिणाम होता रहता है॥ ४२॥

⊛ इसके बाद श्वेताम्बर परम्परा में 'अनादिरादिमांश्च, रूपिष्वादिमान्, योगोपयोगौ जीवेषु' ये तीन सूत्र और माने हैं।

छठा अध्याय

सात तत्त्वों में से जीव और अजीव तत्त्व का निरूपण किया जा चुका है। अब आस्रव तत्त्व का निरूपण करते हैं।

योग और आस्रव का स्वरूप—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

वही योग आस्रव है।

पातञ्जल योग दर्शन में योग का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध किया है। जैन ग्रंथों में भी अन्यत्र इसका यह अर्थ देखने को मिलता है। किन्तु प्रकृत में योग का अर्थ इससे भिन्न है यह बतलाना प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन है।

तपाये हुए लोहे को पानी में डालने पर जैसे पानी अति वेग से परिस्पन्दित होने लगता है वैसे ही वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय के रहते हुए मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और कायवर्गणा के आलम्बन से होनेवाला आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द—हलन चलन योग कहलाता है। आशय यह है कि संसारी जीव के मध्य के आठ प्रदेशों को छोड़ कर शेष सब प्रदेश प्रति समय उद्वेलित होते रहते हैं। जो आत्मप्रदेश प्रथम क्षण में मस्तक के पास हैं वे ही अनन्तर क्षण में पैरों के पास और पैरों के प्रदेश मस्तकके पास पहुँचते हैं। संसार अवस्था में यह कम्पनव्यापार क्रिया प्रति समय

योग और योगस्थान

होती रहती है। इसी कम्पन व्यापार से कर्म और नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है। जैन सिद्धान्त में इस क्रिया को ही योग कहा है। तथापि आत्म प्रदेशों का यह कम्पन व्यापार सब आत्म प्रदेशों में एक-सा न होकर न्यूनाधिकरूप में होता है जिससे उसका तारतम्य स्थापित होता है और इसी तारतम्य के कारण विविध प्रकार के योगस्थान बनते हैं।

शंका—योग और योगस्थान में क्या अन्तर है ?

समाधान—आत्म प्रदेश परिस्पन्द का नाम योग है और योग की विविधता के कारण तरतमरूपसे प्राप्त हुए स्थानका नाम योगस्थान है।

यह योग आलम्बनके भेद से तीन प्रकार का है—काययोग, वचन-योग और मनोयोग। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिकादि सात प्रकार की शरीर वर्गणाओं के पुद्गलों के आलम्बन से होनेवाला आत्म प्रदेश परिस्पन्द काययोग है। शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन वर्गणाओं का आलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई आन्तरिक वचन लब्धि के होने पर वचन वर्गणा के आलम्बन से जो वचनरूप परिणाम के अभिमुख आत्मा में प्रदेशों का परिस्पन्द होता है वह वचन योग है। तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम रूप आभ्यन्तर मनोलब्धि के होने पर मनोवर्गणाओं के आलम्बन से मनः परिणाम के अभिमुख आत्मा का जो प्रदेश परिस्पन्द होता है वह मनोयोग है। यद्यपि सयोग केवली के भी तीनों प्रकार का योग होता है तथापि वहाँ वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण का क्षय होने पर तीनों प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द योग है ऐसा व्याख्यान करना चाहिये, क्योंकि सयोगकेवली के क्षायोपशमिक भाव नहीं होता।

तीनों योगों का स्वरूप

इनमें से एकेन्द्रिय जीवके केवल काययोग होता है, क्योंकि उसके वचनयोग और मनोयोग की कारणभूत सामग्री नहीं पाई जाती। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी तक के जीवों के काय और वचन ये दो योग होते हैं। उसमें भी भाषापर्याप्ति की समाप्ति के पूर्व तक काय योग ही होता है। संज्ञी जीवों के तीनों योग होते हैं। उसमें भी वचनयोग भाषा पर्याप्ति की समाप्ति के अनन्तर समय से और मनोयोग मनःपर्याप्ति की समाप्ति के अनन्तर समय से हो सकता है। तथापि एक काल में एक जीव के एक ही योग होता है। विवेक यह है कि जिस जाति की वर्गणाएँ जब आत्म प्रदेश परिस्पन्द में कारण होती हैं तब वही योग होता है।

किसके कितने योग होते हैं

यह तीनों प्रकार का योग ही आस्रव है। आस्रव को द्वार की उपमा दी गई है। जिस प्रकार नाले आदि के मुख द्वारा जलाशय में पानी का प्रवेश होता है उसी प्रकार योग द्वारा ही कर्म और नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होकर उनका आत्मा से सम्बन्ध होता है इसलिये योग को आस्रव कहा है॥ १-२॥

योग के भेद और उनका कार्य—

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

शुभ योग पुण्य का और अशुभ योग पाप का आस्रव है।

प्रस्तुत सूत्र में योग के दो भेद किये गये हैं एक शुभ योग और दूसरा अशुभ योग। मन, वचन और काय ये प्रत्येक योग शुभ और अशुभ के भेद से दो दो प्रकार के हो जाते हैं। यद्यपि योग आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द को कहते हैं, इसलिये उसमें शुभाशुभ की कल्पना सम्भव नहीं है। तथापि यहाँ योग के शुभत्व और अशुभत्व का कारण भिन्न

परिणामोंके आधार से योग के भेद

है। जैसे लोक में जिस उद्देश्य से क्रिया की जाती है वह क्रिया उसी प्रकार की मानी जाती है। प्रशस्त उद्देश्य से की गई क्रिया प्रशस्त गिनी जाती है और अप्रशस्त उद्देश्य से की गई क्रिया अप्रशस्त गिनी जाती है, वैसे ही शुभ परिणामों से जो योग होता है वह शुभ योग है और अशुभ परिणामों से जो योग होता है वह अशुभ योग है।

शंका—शुभ और अशुभ के भेद से कर्म दो प्रकार के बतलाये हैं। इनमें से जो शुभ कर्म के बन्ध का कारण हो वह शुभ योग है और जो अशुभ कर्म के बन्ध का कारण हो वह अशुभ योग है। यदि शुभयोग और अशुभयोग का यह अर्थ किया जाय तो क्या आपत्ति है?

समाधान—बन्ध कार्य है और योग कारण है, इसलिये कार्य की अपेक्षा कारण में शुभत्व और अशुभत्व की कल्पना करना उचित नहीं है। तत्त्वतः योग में शुभत्व और अशुभत्व परिणामों की अपेक्षा प्राप्त होता है, इसलिये शुभ परिणामों से निर्वृत्त योग को शुभ कहा है और अशुभ परिणामों से निर्वृत्त योग को अशुभ कहा है।

हिंसा, चोरी अब्रह्म आदि अशुभ काययोग है और दया, दान, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग है। असत्य भाषण, कठोर भाषण, असभ्य प्रलाप आदि अशुभ वाग्योग है और सत्य भाषण, मृदु भाषण सभ्य भाषण, आदि शुभ वाग्योग है। दूसरों के वध का चिन्तन करना, ईर्ष्या करना, डाह करना आदि अशुभ मनोयोग है और दूसरों के रक्षा का चिन्तन करना, दूसरों के गुणोत्कर्ष में प्रसन्न होना आदि शुभ मनोयोग है।

शंका—क्या शुभ योग से पुण्य कर्म का ही आस्रव होता है और अशुभ योग से पापकर्म का ही आस्रव होता है या इसमें कुछ विशेषता है?

समाधान—शुभ योग से पुण्य कर्म का और अशुभ योग से पाप कर्म का आस्रव होता है यह प्रधानता की अपेक्षा कथन किया है।

वस्तुतः प्रत्येक योग से दोनों प्रकार के कर्मों का आस्रव होता है। यद्यपि कर्मों में पुण्य और पाप का विभाग अनुभाग की प्रधानता से किया जाता है। जिन कर्मों का रस—अनुभाग शुभप्रद है वे पुण्य कर्म और जिन कर्मोंका अनुभाग अशुभप्रद है वे पाप कर्म। कर्मसिद्धान्त का ऐसा नियम है कि विशुद्ध परिणामों से शुभ कर्मों का अनुभाग बन्ध उत्कृष्ट होता है और अशुभ कर्मों का अनुभाग-बन्ध जघन्य होता है तथा संक्लेशरूप परिणामों से अशुभ कर्मों का अनुभागबन्ध उत्कृष्ट होता है और शुभ कर्मों का अनुभाग बन्ध जघन्य होता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि शुभ परिणामों के रहते हुए भी दोनों प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है और अशुभ परिणामों के रहते हुए भी दोनों प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है तथापि जैसे शुभ परिणाम पुण्य कर्मों के तीव्र अनुभाग के कारण हैं और अशुभ परिणाम पाप कर्मों के तीव्र अनुभाग के कारण हैं वैसे ही शुभ और अशुभ योग के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। अर्थात् शुभ योग से पुण्य कर्मों का अधिक बन्ध होता है और अशुभ योग से पाप कर्मों का अधिक बन्ध होता है। आशय यह है कि जिन कर्मों में पुण्य और पाप का विभाग है उनमें से पुण्य कर्मों का प्रकृति और प्रदेशबन्ध शुभ योग की बहुलता से होता है और पाप कर्मों का प्रकृति और प्रदेशबन्ध अशुभ योग की बहुलता से होता है। प्रस्तुत सूत्र में बन्ध की इसी प्रधानता को ध्यान में रख कर सूत्रकारने शुभ योग पुण्यकर्मों का आस्रव है और अशुभ योग पाप कर्मों का आस्रव है यह कहा है॥३॥

स्वामिभेद से आस्रव में भेद—

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

कषाय सहित और कषाय रहित आत्मा का योग क्रम से साम्परायिक कर्म और ईर्यापथ कर्म के आस्रवरूप होता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। जिसके इन चार कषायों में से किसी एक का उदय विद्यमान है वह कषाय सहित आत्मा है और जिसके किसी भी कषाय का उदय नहीं है वह कषाय रहित आत्मा है। दसवें गुणस्थान तक सभी जीव कषाय सहित हैं और ग्यारहवें से लेकर शेष सब जीव कषाय रहित हैं।

आत्मा का सम्पराय—संसार बढ़ाने वाला कर्म या सम्पराय—पराभव करनेवाला कर्म साम्परायिक कर्म कहलाता है। जैसे गीले चमड़े पर पड़ी हुई धूलि उसके साथ चिपक जाती है वैसे ही योग द्वारा ग्रहण किया गया जो कर्म कषाय के कारण आत्मा से चिपक जाता है वह साम्परायिक कर्म है। यद्यपि ईर्याका अर्थ गमन है पर यहाँ उसका अर्थ योग लिया गया है, इसलिये ईर्यापथ कर्म का अर्थ केवल योग द्वारा प्राप्त होनेवाला कर्म होता है। आशय यह है कि जैसे सूखी भीत पर धूलि आदि के फेकने पर वह उससे न चिपक कर तत्काल जमीन पर गिर जाती है वैसे ही योग से ग्रहण किया गया जो कर्म कषाय के अभाव में आत्मा से न चिपक कर तत्काल अलग हो जाता है वह ईर्यापथ कर्म है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बन्ध के चारों भेद साम्परायिक कर्म में पाये जाते हैं और ईर्यापथ कर्म में प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ये दो ही भेद पाये जाते हैं, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं पाये जाते। चूँकि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कारण कषाय है तथा प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण योग है इसी से कषाय सहित आत्मा का योग साम्परायिक आस्रव बतलाया है और कषाय रहित जीव का योग ईर्यापथ आस्रव बतलाया है॥ ४॥

साम्परायिक कर्मास्रव के भेद—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

पूर्व के अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रव के इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियारूप भेद हैं जो क्रम से पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं।

यद्यपि सम्पराय का अर्थ कषाय होने से केवल कषायों को ही साम्परायिक आस्रव के भेदों में गिनाना था तथापि विशेष परिज्ञान के लिये इन्द्रिय, अव्रत और क्रियाओं को भी साम्परायिक आस्रव के भेदों में गिनाया है। कषायों के सद्भाव में ही इन्द्रियाँ इष्टानिष्ट विषयों में प्रवृत्त होती हैं, हिंसादिक अव्रतों में प्रवृत्ति भी कषायमूलक ही होती है और पच्चीस क्रियायें भी कषायों की विविधता का ही फल हैं इसलिये इन सबको साम्परायिक आस्रव के भेदों में गिनाया है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनका वर्णन अध्याय दो सूत्र उन्नीस में आ चुका है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। इनका विशेष वर्णन अध्याय आठ सूत्र नौ में किया है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच अव्रत हैं। इनका विशेष वर्णन अध्याय सात सूत्र तेरह से सत्रह तक है। क्रिया पच्चीस हैं जिनका स्वरूप इस प्रकार है—

१—जो चैत्य, गुरु और प्रवचन की पूजा का कारण होने से सम्यक्त्व के बढ़ानेवाली है वह सम्यक्त्व क्रिया है। २—जो मिथ्यात्व के उदय से अन्य देव की उपासना रूप प्रवृत्ति होती है वह मिथ्यात्व क्रिया है। ३—शरीर आदि द्वारा जाने आने आदि रूप प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है। ४—संयत या त्यागी का अविरति की ओर झुकाव होना समादान[1] क्रिया है। ५—ईर्यापथ की निमित्तभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है।

१—वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर आंगोपांग नाम कर्म के आलम्बन से काययोग, वचनयोग और मनोयोग की रचना में समर्थ पुद्गलों का ग्रहण करना समादान क्रिया है। रा० वा०, श्लोक वा०।

१—क्रोध के आवेश से होनेवाली प्राद्वेषिकी क्रिया है। २—दुष्ट-भाव युक्त होकर किसी काम के लिये प्रयत्न करना कायिकी क्रिया है। ३—हिंसा के कारणभूत उपकरणों का ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। ४—प्राणियों को दुःख उत्पन्न करनेवाली पारितापिकी क्रिया है। ५—आयु, इन्द्रिय, बल और प्राणों का वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है।

१—रागवश रमणीय रूप के देखने का अभिप्राय रखना दर्शन क्रिया है। २—प्रमादवश होकर स्पर्श करने योग्य वस्तुओं के स्पर्श करने की वृत्ति स्पर्शन क्रिया है। ३—नये नये शस्त्रों को बनाना प्रात्ययिकी क्रिया है। ४—स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने, आने और रहने के स्थान में मल मूत्र आदि का त्याग करना समन्तानुपातन क्रिया है। ५—अनवलोकित और अप्रमार्जित भूमि पर शरीर आदि का रखना अनाभोग क्रिया है।

१—दूसरे के करने योग्य क्रिया को स्वयं कर लेना स्वहस्त क्रिया है। २—पापादान आदि प्रवृत्ति विशेष के लिये स्वीकारता देना निसर्ग क्रिया है। ३—दूसरे ने जो सावद्य कार्य किया हो उसे प्रकाशित कर देना विदारण क्रिया है। ४—चारित्र मोहनीय के उदय से शास्त्रोक्त क्रिया को पालन न कर सकने के कारण उसका विपरीत कथन करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। ५—धूर्तता और आलस्य के कारण शास्त्रोक्त विधि के पालन करने में अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है।

१—छेदना, भेदना और मारना आदि क्रियाओं में स्वयं रत रहना और दूसरों के द्वारा वैसा करने पर आनन्द मानना आरम्भ क्रिया है। २—परिग्रह का नाश न होने के लिये किया जानेवाला प्रयत्न पारिग्राहिकी क्रिया है। ३—ज्ञान और दर्शन आदि के विषय में छलपूर्ण व्यवहार करना माया क्रिया है। ४—मिथ्यादर्शन क्रिया के अनुकूल सामग्री जोड़ने में जो जुटा है उसको 'तू ठीक करता है' इत्यादि कह

कर प्रशंसा आदि द्वारा दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। ५—संयम का घात करनेवाले कर्मों का उदय होने से त्यागरूप प्रवृत्ति का न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

पाँच पाँच के हिसाब से ये पच्चीस क्रियायें हैं। ये सबकी सब कषाय मूलक होने से साम्परायिक आस्रव का कारण हैं। सम्यक्त्व क्रिया में भी प्रशस्त राग रहता है, अन्यथा चैत्यादिकी भक्ति, श्रद्धा और पूजा बन नहीं सकती है। मुनियों की ईर्यासमिति आदि जो पाँच समितियाँ बतलाई हैं वे सबकी सब प्रवृत्तिमूलक ही हैं। उन्हीं का ज्ञापन करने के लिये ईर्यापथ क्रिया का निर्देश किया है। इसमें भी बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति पाई जाती है जो प्रशस्त रागपूर्वक होती है, इसलिये यह भी साम्परायिक आस्रव का कारण है। यद्यपि ईर्यापथ कर्म के आस्रव का कारण योग भी ईर्यापथ क्रिया कहा जा सकता है, तथापि यहाँ साम्परायिक आस्रव के भेद गिनाये गये हैं, इसलिये ईर्यापथ क्रिया का पूर्वोक्त अर्थ करना ही उचित जान पड़ता है॥ ५॥

आस्रव के कारण समान होने पर भी परिणाम भेद से आस्रव में जो विशेषता आती है उसका निर्देश—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः॥६॥

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इनके भेद से उसकी अर्थात् आस्रव की विशेषता होती है।

पिछले सूत्र में आस्रव के जो भेद बतलाये हैं उनमें इन तीव्रभाव, मन्दभाव, आदि के कारण और भी विशेषता आ जाती है। अर्थात् एक एक आस्रव का भेद इन तीव्रभाव आदि के कारण अनेक प्रकार का हो जाता है जिससे पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रिया इनमें से किसी एक एक कारण के रहने पर भी उससे होनेवाला कर्मबन्ध अनेक प्रकार का हो जाता है।

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों की प्रबलता से जो उत्कट परिणाम होता है वह तीव्रभाव है। मन्दभाव इससे विपरीत है। दर्शन क्रिया के समान होने पर भी परिणामों की तीव्रता और मन्दता के कारण उसमें अन्तर आ जाता है जिससे न्यूनाधिक कर्मबन्ध होता है। उदाहरणार्थ—ऐसे दो व्यक्ति हैं जिनमें से एक की बोलपट देखने की अभिरुचि तीव्र है और दूसरे की मन्द तो इन दो व्यक्तियों में से मन्द आसक्ति पूर्वक देखनेवाले की अपेक्षा तीव्र आसक्ति से देखनेवाला व्यक्ति आस्रव भेद के कारण अधिक कर्मबन्ध करेगा और मन्द आसक्तिवाला न्यून कर्मबन्ध करेगा।

यह मारने योग्य है ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है और अहंकार या प्रमादवश बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञातभाव है। बाह्य क्रिया के समान होने पर भी इन भावों के कारण आस्रव में अन्तर आ जाता है जिससे न्यूनाधिक कर्मबन्ध होता है। उदाहरणार्थ—ऐसे दो व्यक्ति हैं जिनमें से एक हिंसा करना चाहता है और दूसरे का भाव शरसन्धान साधने का है। इनमें से पहले ने जानकर हिंसा की और दूसरे के द्वारा शरसन्धान साधते हुए बिना जाने हिंसा हो गई तो इन दो में से प्रथम आस्रव के कारणों में भेद हो जाने से अधिक बन्ध करेगा और दूसरा न्यून।

अधिकरण का मतलब आधार से है। इसके जीव और अजीव रूप अनेक भेद आगे कहे जानेवाले हैं। इस कारण से भी आस्रव में भेद हो कर कर्मबन्ध में विशेषता आती है। जैसे—दो प्राणी हैं जो छू कर जान रहे हैं। उनमें से एक एकेन्द्रिय है और दूसरा पञ्चेन्द्रिय। यद्यपि इन दोनों की क्रिया एक है तथापि आधार भेद से आस्रव में भेद होकर इनके न्यूनाधिक कर्मबन्ध होता है। एकेन्द्रिय जीव न्यून कर्मबन्ध करता है और पञ्चेन्द्रिय इससे अधिक कर्मबन्ध करता है। यह जीवाधिकरण का उदाहरण है। इसी प्रकार अजीवाधिकरण का

उदाहरण भी जान लेना चाहिये। जैसे—एक मनुष्य को प्रथम दिन उग्र अस्त्र दिया गया और दूसरे दिन मामूली, जिससे पहले दिन उसका हिंसा करने का भाव द्विगुणित हो गया और दूसरे दिन वह मन्द पड़ गया। इस प्रकार अजीवाधिकरण के भेद से आस्रव में भेद हो कर कर्मबन्ध न्यूनाधिक होता है। प्रथम दिन तीव्र अस्त्र होने के कारण परिणामों में तीव्रता आगई थी जिससे अधिक कर्मबन्ध हुआ और दूसरे दिन मामूली अस्त्र होने के कारण हिंसा करने में उत्साह न रहा, इसलिये मन्द कर्मबन्ध हुआ।

शक्ति विशेष वीर्य कहलाता है। इससे भी आस्रव में भेद होकर कर्मबन्ध में फरक पड़ जाता है। उदाहरणार्थ - ऐसे दो व्यक्ति हैं जो जनता की सेवा करना चाहते हैं। किन्तु एक हीनबल है और दूसरा अधिकबल। जो हीनबल है वह इसलिये अप्रसन्न रहता है कि उससे सेवा नहीं बन पाती और दूसरा इसके विपरीत प्रसन्न रहता है। यतः इससे भी आस्रव में भेद होता है इसलिये यह भी न्यूनाधिक कर्मबन्ध का कारण है।

इस प्रकार इन तीव्रभाव आदि के कारण आस्रव अनेक प्रकार का हो जाता है इसलिये इसके कार्यरूप से कर्मबन्ध में भी फरक पड़ जाता है यह प्रस्तुत सूत्र का भाव है॥ ६॥

अधिकरण के भेद-प्रभेद—

अधिकरणं जीवाजीवाः॥ ७॥

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः॥ ८॥

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्॥९॥

अधिकरण जीव और अजीवरूप है।

जिसमें पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के भेद से तीन प्रकार का; योगभेद से तीन प्रकार का; कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का तथा कषाय भेद से चार प्रकार का होता हुआ परस्पर मिलाने से १०८ भेदरूप है।

तथा पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रम से दो भेद, चार भेद, दो भेद और तीन भेदवाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है।

संसार चक्र जीव और अजीव के सम्बन्ध का फल है; शुभाशुभ कर्मों का बन्ध भी इन्हीं के निमित्त से होता है इसलिये आस्रव के अधिकरण जीव और अजीव बतलाये हैं। यहाँ अधिकरण से जीव और अजीव द्रव्य लिये हैं, तथापि वे विविध प्रकार की पर्यायों से आक्रान्त होते हैं, इसलिये पर्यायों के भेद से उनमें भेद होजाता है॥ ७॥

यहाँ समग्र जीवों की ऐसी अवस्थायें क्रोधकृत कायसंरम्भ आदि के भेद से १०८ बतलाई हैं। इन १०८ अवस्थाओं में से प्रत्येक सकषाय जीव किसी न किसी अवस्था से युक्त अवश्य होता है। प्रमादी जीव का प्राणों का वियोग करना आदि के लिये प्रयत्न का आवेश संरम्भ है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ किसी भी कार्य के करने का संकल्प करना संरम्भ है। संकल्पित कार्य के लिये साधनों का जुटाना समारम्भ है और उस कार्य को करने लगना आरम्भ है। कार्य तीन प्रकार के होते हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक, इसलिये ये संरम्भादिक तीन उक्त तीनों कार्यों के भेद से नौ प्रकार के हो जाते हैं। ये नौ प्रकार के कार्य या तो स्वयं कृत होते हैं या अन्य से कराये जाते हैं या अनुमत होते हैं, इसलिये कृत, कारित और अनुमोदना के भेद से वे सत्ताईस प्रकार के हो जाते हैं। ये सत्ताईस भेद या तो क्रोध के विषय होते हैं, या मान के, या माया के, या लोभ के विषय होते हैं। इसलिये इन सत्ताईस भेदों को चार कषायों से गुणित करने पर कुल एक सौ आठ भेद

होते हैं। ये ही सब जीवों की विविध अवस्थायें हैं जो कर्मबन्ध की कारण हैं। इनमें से किसी न किसी अवस्था के जरिये प्रत्येक जीव निरन्तर कर्मबन्ध करता रहता है। इन अवस्थाओं को समझने के लिये निम्न लिखित कोष्ठक उपयोगी है—

संरम्भ १	समारम्भ २	आरम्भ ३	
काय ०	वचन ३	मन ६	
कृत ०	कारित ९	अनुमत १८	
क्रोध ०	मान २७	माया ५४	लोभ ८१

इस कोष्ठक में जीवाधिकरण के सब भेद और उनकी संख्या लाने के क्रम का निर्देश किया गया है ॥ ८ ॥

जो मूर्त पदार्थ शरीर आदि के द्वारा जीवों के उपयोग में आकर कर्मबन्ध के कारण होते हैं वे सब अजीवाधिकरण हैं। यदि जीवों के उपयोग में आनेवाले मूर्त स्कन्ध द्रव्यों को गिनाया जाय तो वे अगणित हो जाते हैं, इसलिये यहाँ उन्हें न गिना कर उनकी क्रिया परक वे अवस्थायें गिनाई हैं जो जीव के सम्पर्क से हुआ करती हैं। ऐसी अवस्थायें चार हैं। जैसे निर्वर्तना—रचना, निक्षेप-रखना, संयोग-मिलाना और निसर्ग-प्रवर्तन। निर्वर्तना के मूलगुणनिर्वर्तना और

उत्तरगुण निर्वर्तना ये दो भेद हैं। मूलपद से पाँचों शरीर, वचन, मन श्वासोच्छवास इनका ग्रहण होता है तथा उत्तरपद से काष्ठकर्म, पुस्तकर्म और चित्रकर्म आदि का ग्रहण होता है। पाँचों शरीरों, वचन, मन और श्वासोछवास की जो रचना अन्तरङ्ग साधनरूप से जीवों की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होकर कर्मबन्ध का कारण होती है वह मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण है। तथा जो प्रतिमा, काष्ठकर्म, पुस्तकर्म और चित्रकर्म आदि बहिरङ्ग साधनरूप से जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होती हुई कर्मबन्ध का कारण होती है वह उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण है।

निक्षेपाधिकरण के अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण ये चार भेद हैं। किसी भी वस्तु को बिना देखी हुई भूमि आदि पर या बिना देखे ही किसी वस्तु का कहीं पर रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप है। देख कर भी ठीक तरह से प्रमार्जन किये बिना ही वस्तु को रख देना दुष्प्रमार्जितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही सहसा अर्थात् उतावली से वस्तु को रख देना सहसानिक्षेप है। उपयोग के बिना ही किसी वस्तु को कहीं पर रख देना अनाभोगनिक्षेप है। ये चारों प्रकार के निक्षेप जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में हेतु होने से कर्मबन्ध के कारण होते हैं।

संयोग के भक्तपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसंयोगाधिकरण ऐसे दो भेद हैं। विरुद्ध अन्न, जल आदि का संयोग करना जो जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में हेतु होता हुआ कर्मबन्ध का कारण होता है भक्तपानसंयोगाधिकरण है। तथा पात्र, पीछी आदि उपकरणों का संयोग करना जो जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में हेतु होता हुआ कर्मबन्ध का कारण होता है उपकरणसंयोगाधिकरण है।

निसर्गाधिकरण के शरीर, वचन और मन ये तीन भेद हैं। शरीर

का प्रवर्तन शरीरनिसर्गाधिकरण है। वचन का प्रवर्तन वचननिसर्गाधिकरण है और मन का प्रवर्तन मनोनिसर्गाधिकरण है। ये भी जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में हेतु होने से कर्मबन्ध के कारण हैं ॥ ९ ॥

आठ प्रकार के कर्मों के आस्रवों के भेद—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

स्वभावमार्दवञ्च ॥ १८ ॥

निश्शीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्य-करणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभाव-नाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थङ्करत्वस्य ॥ २४ ॥

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गो-त्रस्य ॥ २५ ॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण कर्म और दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

निज आत्मा में, पर आत्मा में या उभय आत्माओं में स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

भूत-अनुकम्पा, व्रति-अनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदि का उचित ध्यान रखना तथा क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।

कषाय के उदय से होने वाला आत्मा का तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव है।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह का भाव नरकायुका आस्रव है।

माया तिर्यञ्चायु का आस्रव है।

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह का भाव मनुष्यायु का आस्रव है।

और स्वभाव की मृदुता भी मनुष्यायु का आस्रव है।

निःशीलत्व और निर्व्रतत्व तथा पूर्वोक्त अल्प आरम्भ आदि का भाव सभी आयुओं के आस्रव हैं।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के आस्रव हैं।

* और सम्यक्त्व भी देवायु का आस्रव है।

योग की वक्रता और विसंवादन ये अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

इनके विपरीत अर्थात् योग की सरलता और अविसंवादन ये शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में निर्दोप वृत्ति, सतत ज्ञानोपयोग, सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति क अनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अरहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओं को नहीं छोड़ना, मार्ग प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये सब तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव हैं।

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का उच्छादन और असद्गुणों का उद्भावन ये नीच गोत्रकर्म के आस्रव हैं।

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानता ये उच्चगोत्र कर्म के आस्रव हैं।

विघ्न करना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

अब तक सामान्य से समग्र कर्मों के आस्रव-बन्ध के कारण बतलाये। अब प्रत्येक कर्म के आस्रवों-बन्धहेतुओं का वर्णन करते हैं। यद्यपि सब कर्मों का प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होता है तथा स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है फिर भी निमित्तभेद

---

* सम्यक्त्व मनुष्यायु का भी आस्रव है यह जान कर भाष्यकार ने इस सूत्र को नहीं रखा ऐसा जान पड़ता है।

से कषाय की अवान्तर जातियों में अन्तर हो कर वे प्रमुखता से अलग अलग कर्मों के बन्धहेतु होते हैं, यही बात अगले सूत्रों में बतलाई गई है। तथापि इस प्रकरण को विधिवत् समझने के पहले कर्मों की बन्ध विषयक कुछ बातों पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है—

१—गुणस्थान क्रम से यह नियम है कि प्रारम्भ के नौ गुणस्थानों तक आयु कर्म के सिवा शेष सात कर्मों का बन्ध निरन्तर हुआ करता है और आयुकर्म का बन्ध मिश्र गुणस्थान के सिवा अप्रमत्त गुणस्थान तक आयुबन्ध के योग्य काल और परिणामों के होने पर होता है। इसके सिवा दसवें गुणस्थान में मोहनीय के बिना शेष छः कर्मों का तथा अगले तीन गुणस्थानों में एक सातावेदनीय का बन्ध होता है। अतः इस प्रकरण में जो प्रत्येक कर्म के बन्ध कारण बतलाये जा रहे हैं सो उसका यह अभिप्राय नहीं कि विवक्षित कर्म के बन्ध कारणों के रहने पर केवल उसी कर्म का बन्ध होगा अन्य कर्म का नहीं, किन्तु इसका यह अभिप्राय है कि उस समय उस कर्म का तत्काल बँधनेवाले दूसरे कर्मों की अपेक्षा अधिक अनुभागबन्ध होगा। इसी विवक्षा से ये आगे प्रत्येक कर्म की अपेक्षा आस्रव के विभाग किये गये हैं।

२—दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि बन्ध के कारणों में सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयमरूप आत्म-परिणामों को भी गिनाया गया है पर तत्त्वतः ये बन्ध के कारण न होकर मुक्ति के ही कारण हैं। फिर भी यहाँ इनको बन्ध के कारणों में गिनाने का यह अभिप्राय है कि इनके सद्भाव में योग और कषाय से अमुक कर्म का ही बन्ध होता है अन्य का नहीं। उदाहरणार्थ मनुष्य और तिर्यञ्चगति में सम्यग्दर्शन के रहने पर देवायु का ही बन्ध होता है, अन्य तीन आयुओं का नहीं। इसी से सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध के कारणों में गिनाया है।

तत्त्वज्ञान के निरूपण के समय व्याख्यान नहीं करनेवाले पुरुष का भीतर ही भीतर जलते रहना प्रदोष है। तत्त्वज्ञान के पूछने पर या उसके साधन माँगने पर, अपने पास वे होने पर भी छिपाने के अभिप्राय से यह कहना कि मैं नहीं जानता या मेरे पास वह वस्तु नहीं है, निह्नव है। तत्त्वज्ञान अभ्यस्त और परिपक्व हो तथा वह देने योग्य भी हो फिर भी जिस कारण से वह नहीं दिया जाता है वह मात्सर्य है। ज्ञान या ज्ञान के साधनों की प्राप्ति में बाधा डालना अन्तराय है। दूसरे के द्वारा तत्त्वज्ञान पर प्रकाश डालते समय शरीर से या वाणी से उसका निषेध करना आसादन है। किसी का किसी खास विषय का ज्ञान निर्दोष है तो भी उसमें दूषण लगाना उपघात है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रवों का स्वरूप

शङ्का—आसादन और उपघात में क्या अन्तर है?

समाधान—प्रशस्त ज्ञान के रहते हुए भी उसकी विनय न करना, दूसरे के सामने उसकी प्रशंसा न करना आदि आसादन है और ज्ञान को अज्ञान मानकर उसके नाश करने का अभिप्राय रखना उपघात है, यही इन दोनों में अन्तर है।

ये प्रदोषादिक यदि ज्ञान, ज्ञानी और उसके साधनों के विषय में किये गये हों तो ज्ञानावरण कर्म के आस्रव—बन्धहेतु होते हैं और दर्शन तथा दर्शन के साधनों के विषय में किये गये हों तो दर्शनावरण कर्म के आस्रव—बन्धहेतु होते हैं ॥१०॥

पीड़ारूप परिणाम दुःख है। किसी उपकारी या प्रिय वस्तु का सम्बन्ध टूटने पर जो घबराहट पैदा होती है वह शोक है। अपवाद आदि के निमित्त से मन में कलुषता बढ़कर जो तीव्र सन्ताप होता है वह ताप है। सन्ताप आदि के कारण गद्गद स्वर से आँसू गिराने के साथ विलाप करते हुए चिल्लाकर रोना आक्रन्दन है। मार डालना वध है। वियुक्त

असातावेदनीय कर्म के आस्रवों का स्वरूप

हुए व्यक्ति के गुणों का स्मरण कर ऐसा रोना जिससे सुननेवाले को दया पैदा हो परिदेवन है।

यद्यपि केवल दुःख के कहने से इन सब का ग्रहण हो जाता है तथापि दुःख के अवान्तर भेदों को दिखलाने के लिये पृथक् रूप से इनका निर्देश किया है।

शङ्का—यदि दुःखादिक अपने में, दूसरे में या दोनों में उत्पन्न करने से उत्पन्न करनेवाले के लिये असातावेदनीय कर्म के आस्रव होते हैं तो फिर अर्हन्मतानुयायी केशलोच, उपवास, आतापन योग और आसन आदि में क्यों विश्वास करते हैं, क्योंकि ये भी दुःख के निमित्त होने से असातावेदनीय कर्म के आस्रव ठहरते हैं ?

समाधान—जो दुःखादिक क्रोध आदि के आवेश से होते हैं वे असातावेदनीय कर्म के आस्रव होते हैं, अन्य नहीं। मुनि जो केशलोच और उपवास आदि विधिविधान करता है वह दुःख के लिये नहीं, किन्तु इन्द्रिय, मन और बाह्य परिस्थिति पर विजय पाने के लिये ही करता है; इसलिये उसके उनके करने से परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है, दुःख नहीं। सर्वत्र यह मान लेना ठीक नहीं कि जिन कारणों से एक को सन्ताप होता है उन्हीं कारणों से दूसरे को भी सन्ताप होना ही चाहिये। यह साधना का विषय है जिसने इन्द्रिय, मन और कषायों पर विजय पा ली है वह बाह्य जगत् की अपेक्षा दुःख के कारण रहने पर भी दुखी नहीं होता और जिसने उन पर विजय नहीं पाई है वह दुःख के अत्यल्प कारण मिलने पर भी अत्यन्त दुखी होने लगता है, इसलिये केशलोच आदि व्रतों के पालन करने में यति की मानसिक रुचि होने के कारण वे उसके लिये दुःख के कारण नहीं होते। जैसे कोई वैद्य चीरफाड़ में निमित्त होने पर भी पापभागी नहीं होता, क्योंकि उसका उद्देश्य दूसरे को रोगमुक्त करना है, वैसे ही संयमी या व्रती श्रावक संसार से छुटकारा पाने के लिये छुटकारा पाने के साधनों

में जुट जाता है तो भी वह उनके निमित्त से पापकर्म का बन्धक नहीं होता। बन्ध और निर्जरा परिणामों पर अवलम्बित है। बाह्य क्रिया पर नहीं, इसलिये संक्लेशरूप परिणामों से की गई जो क्रिया बन्ध की प्रयोजक होती है विशुद्ध परिणामों से की गई वही क्रिया निर्जरा का कारण भी हो सकती है। अतएव केशलोच आदि व्रतों को असातावेदनीय के बन्ध का हेतु मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार ये दुःखादिक या इसी प्रकार के अन्य निमित्त जब अपने में दूसरे में या दोनों में उत्पन्न किये जाते हैं तो वे उत्पन्न करनेवाले के असातावेदनीय कर्म के बन्ध के हेतु होते हैं॥ ११॥

सातावेदनीय कर्म के आस्रवों का स्वरूप

दया से मन भीगा हुआ होने के कारण दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख मानने का भाव अनुकम्पा है। प्राणीमात्र पर अनुकम्पा रखना भूतानुकम्पा है। एकदेश व्रतधारी गृहस्थ और सकल व्रतधारी संयत इन दोनों पर विशेषरूप से अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है। अनुग्रह बुद्धि से जिसमें अपनी ममता अतएव स्वामित्व है ऐसी वस्तु दूसरे को अर्पण करना दान है। जो संसार से विरत है किन्तु रागांश शेष है ऐसे साधु का संयम सरागसंयम है। सूत्र में आये हुए आदि पद का अर्थ है संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप। योग शब्द का अर्थ युक्त होना है। ये जो भूतानुकम्पा आदि बतलाये हैं इनमें युक्त होने से सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है यह इसका तात्पर्य है। इतना ही नहीं किन्तु क्षान्ति और शौच भी सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं। क्रोधादि दोषों का निवारण करना क्षान्ति है और लोभ तथा लोभ के समान अन्य दोषों का शमन करना शौच है।

इस प्रकार ये सब कारण तथा अरहन्तों की पूजा करने में तत्पर रहना, बाल और वृद्ध तपस्वियों की वैयावृत्य करना आदि कारण भी सातावेदनीय कर्म के आस्रव—बन्धहेतु हैं॥ १२॥

जिन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई है वे केवली कहलाते हैं। इनके द्वारा उपदेशे गये और अतिशय ऋद्धिवाले गणधरों द्वारा स्मरण करके रचे गये ग्रन्थ श्रुत कहलाता है। रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का समुदाय सङ्घ कहलाता है। अहिंसा, मार्दव आदि को धर्म कहते हैं। देव चार प्रकार के हैं। इन सबका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है। जिसमें जो दोष नहीं हैं उनका उसमें उद्भावन करना अवर्णवाद है। जैसे—केवली के परम औदारिक शरीर की प्राप्ति हो जाती है। केवलज्ञान के प्राप्त होने के पूर्व ही क्षीणमोह गुणस्थान में उनके शरीर से मलादि दोष और त्रस-स्थावर (निगोद) जीव नष्ट हो जाते हैं। सयोगकेवली अवस्था में फिर इनकी उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। धातुओं की हीनाधिकता के कारण जो शरीर का उपचय और अपचय होता है वह केवली के नहीं होता, इसलिये उन्हें पहले के समान कवलाहार की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे नोकर्म का आहार करके ही शरीर को स्थित रखने में समर्थ हैं, तथापि केवली को कवलाहारजीवी बतलाना और इसकी पुष्टि के लिये दूसरे संसारी जनों का उदाहरण उपस्थित करना केवली का अवर्णवाद है। श्रुत में यति धर्म और गृहस्थधर्म ये दो धर्म बतलाये हैं। यति जीवन में पूरी और गृहस्थ एकदेश अहिंसा को पालते हैं। गृहस्थ एकदेश अहिंसा का पालन करता हुआ भी त्रसहिंसा से अपने को बचाता है इसलिये यद्यपि श्रुत में यति और श्रावक द्वारा मांसभक्षण का उल्लेख नहीं है तथापि जिस ग्रन्थ में यति या श्रावक की ऐसी कल्पित घटना लिखी गई हो जिससे मांसभक्षण आदि की पुष्टि होती हो, उस ग्रन्थ को श्रुत मानना श्रुतावर्णवाद है। या श्रुत में मांसभक्षण बतलाया है यह कहना श्रुतावर्णवाद है। साधु जो कुछ भी अनुष्ठान करते हैं आत्मशुद्धि के लिये करते हैं, व्रत नियमों का पालन भी वे इसी हेतु करते हैं। तथापि यह अपवाद

दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रवों का स्वरूप

करना कि साधुलोग अशुचि रहते हैं, स्नान नहीं करते। स्नान न करने से साधुत्व का क्या सम्बन्ध है? इससे थोड़े ही साधुत्व प्राप्त होता है इत्यादि सङ्घ का अवर्णवाद है। मुख्य धर्म है विकारों पर विजय पाना जिसकी प्राप्ति अहिंसा द्वारा ही हो सकती है। अहिंसा से ही प्राणी यह सीखता है कि जिससे दूसरे प्राणियों का जीवन सङ्कट में पड़कर वर्गकलह को प्रोत्साहन मिले वह भी हिंसा है। आत्मा को वैतृष्ण्य बनाने का अहिंसा सर्वोत्कृष्ट साधन है। प्राणी अपनी वासनाओं पर अहिंसा के बिना विजय नहीं पा सकता, इसलिये व्यवहार से और परमार्थ से अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है तथापि अपनी आसुरी प्रवृत्ति के आधीन होकर अहिंसा धर्म की खिल्ली उड़ाना और यह कहना कि अहिंसा के स्वीकार करने से मानव जाति और राष्ट्र का पतन हुआ है आदि धर्म का अवर्णवाद है। यद्यपि देव अमृताहारी हैं तथापि उन्हें मांस और सुरा का सेवन करनेवाला बतलाना और उनके निमित्त से तैयार किये गये मांस और सुरा को देवता का प्रसाद मानकर स्वयं भक्षण करना आदि देवावर्णवाद है।

ये वा इसी प्रकार के और भी जितने दोष सम्भव हों वे सब दर्शन-मोहनीय कर्म के आस्रव-बन्ध हेतु हैं॥ १३॥

चरित्रमोहनीय के आस्रवों का स्वरूप

स्वयं कषाय करना और दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वी जनों के व्रतों में दूषण लगाना तथा संक्लेशकर लिंगों और व्रतों का धारण करना आदि चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव हैं। सत्य धर्म का उपहास करना, गरीब मनुष्य की मश्करी करना, बहुत बकवास और ठट्ठेबाजी की प्रवृत्ति चालू रखना आदि हास्य नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में संलग्न रहना, व्रतों और शीलों के पालने में अरुचि रखना रति नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। दूसरों में अरति-बेचैनी उत्पन्न करना, रति आराम का नाश करना और पापी

मनुष्यों की संगति करना आदि अरति नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। स्वयं शोकातुर रहना तथा ऐसी चेष्टाएँ करना जिससे दूसरे शोकातुर हों आदि शोक नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। स्वयं भय खाना, दूसरों को भय उत्पन्न करना, आदि भय नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। कुशल क्रिया और कुशल आचरण से ग्लानि करना आदि जुगुप्सा नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। असत्य बोलने की आदत, परदोष दर्शन और राग की तीव्रता आदि स्त्री नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। गुस्सा का कम आना, अनुत्सुकता और स्वदार सन्तोष आदि पुंनोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं तथा कषाय की बहुलता, गुह्य इन्द्रियों का विच्छेद करना और पर स्त्री आलिंगन आदि नपुंसक नोकषाय वेदनीय कर्म के आस्रव हैं॥ १४॥

नरकायु कर्म के आस्रवों का स्वरूप

प्राणियों को दुःख पहुँचानेवाला व्यापार आरम्भ है तथा यह वस्तु मेरी है अर्थात् मैं इसका मालिक हूँ इस प्रकार का संकल्प परिग्रह है। जब बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह का भाव हो, हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति हो, दूसरों का धन अपहरण करने की भावना रहे, विषयों में अत्यन्त आसक्ति बनी रहे, मरण के समय रौद्र ध्यान हो जाय, मान की तीव्रता हो, पत्थर की रेखा के समान रोष हो, चारित्र मिथ्यात्वप्रचुर हो, लोभ से सतत जकड़ा रहे तब वे नरकायु के आस्रव होते हैं।

इसी प्रकार और जितने भी अशुभ भाव हैं वे सब नरकायु के आस्रव जानना चाहिये॥ १५॥

तिर्यञ्चायु के आस्रव

निमित्त मिलने पर माया कषाय के उदय से जो छल प्रपञ्च करने का भाव या कुटिल भाव पैदा होता है वह माया है। जब धर्म तत्त्व के उपदेश में स्वार्थवश मिथ्या बातों को मिलाकर प्रचार किया जाय, जीवन में शील का पालन न किया जाय, दूसरों के छिद्र देखने की प्रवृत्ति बनी रहे, मरने के समय अशुभ

लेश्या व आर्तध्यान रहे, कुटिल तरह से कार्य करने में रुचि हो तब वे तिर्यञ्चायु के आस्रव होते हैं।

इसी प्रकार और जितने भाव हैं वे सब तिर्यञ्चायु के आस्रव जानना चाहिये ॥ १६ ॥

मनुष्यायु के आस्रव

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह का भाव होना, जीवन में विनय और भद्रता का होना, सरलता पूर्वक व्यवहार करना, कषाय का कम होना, मरते समय संक्लेश रूप परिणामों का न होना आदि मनुष्यायु के आस्रव हैं। तथा बिना उपदेश के स्वभाव से मृदुता का होना मनुष्यायु और देवायु दोनों के आस्रव हैं ॥ १७-१८ ॥

पहले नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु के जुदे-जुदे आस्रव बतला आये हैं तथा देवायु के आस्रव बतलानेवाले हैं। इनके सिवा चारों

चारों आयुओं के आस्रव

आयुओं के सामान्य आस्रव भी हैं यही बतलाना प्रस्तुत सूत्र का प्रयोजन है। क्रोध और लोभ आदि का त्याग करना शील है तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत ये भी शील कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य और अचौर्य आदि व्रत हैं। उक्त शीलों से रहित होना निःशीलत्व है और व्रतों से रहित होना निर्व्रतत्व है। ये निःशीलत्व और निर्व्रतत्व चारों आयुओं के आस्रव हैं। यहाँ निःशीलत्व और निर्व्रतत्व देवायु का आस्रव मुख्यतया भोगभूमिजों की अपेक्षा से बतलाया है, क्योंकि भोगभूमि के प्राणी शीलों और व्रतों से रहित होने पर भी नियम से देवायु का ही बन्ध करते हैं ॥ १९ ॥

देवायु कर्म के आस्रव

पाँच महाव्रतों के स्वीकार कर लेने पर भी रागांश का बना रहना सराग-संयम है। इसका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक है। व्रताव्रत रूप परिणाम संयमासंयम है। इसके कारण गृहस्थ के त्रसहिंसा से विरति रूप और स्थावर हिंसा से अविरतिरूप परिणाम होते हैं। परवशता के कारण भूख प्यास की बाधा

सहना, ब्रह्मचर्य पालना, जमीन पर सोना, मल-मूत्र का रोकना आदि अकाम कहलाता है और इस कारण जो कर्मों की निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। बाल अर्थात् आत्म-ज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि पुरुषों का पञ्चाग्नि तप, अग्नि प्रवेश, नख केश का बढ़ाना, ऊर्ध्वबाहु होकर खड़े रहना और अनशन आदि बालतप कहलाता है। ये सब देवायु के आस्रव हैं ॥ २० ॥

वैमानिक देवों की आयु के आस्रव

पिछले सूत्र में सामान्य से चारों निकायवाले देवों की आयु के आस्रव बतलाये हैं। तथापि जो केवल वैमानिक देवों की आयु के आस्रव हैं वे उससे ज्ञात नहीं होते, जिनका ज्ञान होना आवश्यक है, अतः इसी बात का ज्ञान कराने के लिये प्रकृत सूत्र की अलग से रचना हुई है। आशय यह है कि सम्यग्दर्शन के होने पर एक वैमानिक देवों की आयु का ही आस्रव होता है। सरागसंयम और संयमासंयम ये सम्यग्दर्शन के होने पर ही हो सकते हैं इसलिये ये भी वैमानिक देवों की आयु के आस्रव हैं ऐसा समझना चाहिये।

शंका—सम्यग्दर्शन आत्मा का निर्मल परिणाम है इसलिये उसे कर्मबन्ध का कारण मानना युक्त प्रतीत नहीं होता ?

समाधान—सम्यग्दर्शन स्वयं कर्मबन्ध का कारण नहीं है, किन्तु उसके सद्भाव में यदि आयु कर्म का बन्ध होता है तो वह वैमानिक देवों की आयु का ही होता है, यह इस सूत्र का भाव है।

शंका—देव और नारकी सम्यग्दर्शन के सद्भाव में मनुष्यायु का ही बन्ध करते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन के सद्भाव में केवल देवायु का आस्रव बतलाना युक्त नहीं प्रतीत होता ?

समाधान—इस सूत्र में जो प्राणी मरकर चारों गतियों में जन्म ले सकते हैं उनकी अपेक्षा से विचार किया गया है, ऐसे प्राणी मनुष्य और तिर्यंच ही हो सकते हैं। इनके सम्यक्त्व के सद्भाव में यदि आयु

कर्म का बन्ध हो तो वैमानिक देवों की आयु का ही हो सकता है अन्य आयु का नहीं ॥ २१ ॥

अशुभ नामकर्म के आस्रव

सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ इस प्रकार मन, वचन और काय की कुटिलता योगवक्रता है। अन्यथा प्रवृत्ति कराना विसंवादन है। ये तथा मिथ्यादर्शन, पिशुनता, चित्त की अस्थिरता, घट बढ़ देना लेना, परनिन्दा और आत्म प्रशंसा आदि अशुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

शंका—योगवक्रता और विसंवादन में क्या अन्तर है ?

समाधान—स्वयं सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ यह योगवक्रता है और दूसरे से ऐसा कराना विसंवादन है, यही इन दोनों में अन्तर है ॥ २२ ॥

शुभ नामकर्म के आस्रव

ऊपर जो अशुभ नामकर्म के आस्रव बतलाये हैं उनसे उलटे सब शुभ नामकर्म के आस्रव हैं। उदाहरणार्थ—अपने मन, वचन और काय को सरल रखना, जो सोचा हो वही कहना और वैसा ही करना। दूसरे को अन्यथा प्रवृत्ति कराने में नहीं लगाना, चुगलखोरी का त्याग करना, सम्यग्दर्शन, चित्त को स्थिर रखना आदि शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव

सम्यग्दर्शन के साथ जो लोक कल्याण की भावना होती है वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधन गुरु आदि के प्रति उचित आदर रखना विनयसंपन्नता है। अहिंसा, सत्य आदि व्रत हैं और इनके पालने में सहायक क्रोध त्याग आदि शील हैं, इनका निर्दोष रीति से पालन करना शीलव्रतानतिचार है। जीवादि स्वतत्त्व विषयक सम्यग्ज्ञान में निरन्तर समाहित रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। सांसारिक भोग सम्पदाएँ दुःख की कारण हैं उनसे निरन्तर डरते रहना अभीक्ष्णसंवेग है। अपनी शक्ति को बिना छिपाए हुए मोक्षमार्ग में उपयोगी

पड़नेवाले अभयदान और ज्ञानदान का देना यथाशक्ति त्याग है। अपनी शक्ति को बिना छिपाये हुए ऐसा कायक्लेश आदि तप करना जिससे मोक्षमार्ग की वृद्धि हो यथाशक्ति तप है। तपश्चर्या में अनुरक्त साधुओं के ऊपर आपत्ति आने पर उसका निवारण करना और ऐसा प्रयत्न करना जिससे वे स्वस्थ रहें साधुसमाधि है। गुणी पुरुष के कठिनाई में आ पड़ने पर जिस विधि से वह दूर हो जाय वह प्रयत्न करना वैयावृत्यकरण है। अरहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में परिणामों की निर्मलता पूर्वक अनुराग रखना अरहंतभक्ति, आचार्य-भक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति है। छह आवश्यक क्रियाओं को यथासमय करते रहना आवश्यकापरिहाणि है। मोक्षमार्ग को स्वयं जीवन में उतारना और समयानुसार उपयोगी कार्यों द्वारा सर्वसाधारण जनता का उसके प्रति आदर उत्पन्न करना मार्गप्रभावना है। जैसे गाय बछड़े पर स्नेह करती है वैसे ही साधर्मी जनों पर निष्काम स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है। ये दर्शनविशुद्धि आदि तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव हैं।

शंका—तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करनेवाले प्राणी के क्या ये समग्र कारण होते हैं या इनमें से कुछ कारणों के होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है?

समाधान—तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करनेवाले के ये सब कारण होना ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी के एक दर्शनविशुद्धि के होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है और किसी के दो से लेकर सोलह कारणों के विकल्प से होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है। पर इन सब में दर्शनविशुद्धि का होना अनिवार्य है॥ २४॥

सच्चे या झूठे दोषों के प्रकट करने की वृत्ति निन्दा कहलाती है।

दूसरों की निन्दा करना परनिन्दा है। सच्चे या झूठे गुणों के प्रकट करने की वृत्ति प्रशंसा कहलाती है। अपनी बड़ाई करना आत्मप्रशंसा है। दूसरे में सद्गुणों के रहने पर भी उनका अपलाप करना, यह कहना कि इसमें कोई भी अच्छा गुण नहीं है, सद्गुणोच्छादन है। दूसरे में कोई दुर्गुण नहीं है तथापि उसमें दुर्गुणों की कल्पना करना, यह कहना कि यह दुर्गुणों का पिटारा है, असद्गुणोद्भावन है। इसका यह भी अर्थ है कि अपने में कोई भी अच्छे गुण नहीं है तथापि यह कहना कि मुझमें अनेक आश्चर्यकारी गुण हैं असद्गुणोद्भावन है। ये तथा अपनी जाति, कुल, बल, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, आज्ञा और श्रुत का गर्व करना, दूसरों की अवज्ञा व अपवाद करना दूसरों के यश का अपहरण करना, दूसरों की कृति पर अपना नाम डालना, दूसरों की खोज को अपनी बताना, दूसरों के श्रम पर जीना आदि नीचगोत्र कर्म के आस्रव हैं ॥ २५ ॥

नीचगोत्र कर्म के आस्रव

पहले नीच गोत्रकर्म के जो आस्रव बतलाये हैं उनसे उलटे सब उच्चगोत्र कर्म के आस्रव हैं। उदाहरणार्थ अपनी निन्दा करना अर्थात् अपने दोषों की छानबीन करते रहना, पर की प्रशंसा करना, दूसरों के अच्छे गुणों को प्रकट करना, अपने दुर्गुणों को स्वयं कह देना, दूसरों के दुर्गुण झकना, पूज्य व्यक्तियों के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, किसी बात में बड़े होने पर भी अहंकार नहीं करना आदि ॥ २६ ॥

उच्च गोत्रकर्म के आस्रव

किसी की दानवृत्ति का विनाश करना या किसी को किसी सद्गुण आदि का लाभ हो रहा है जिससे उसकी आत्मा का विकाश होना सम्भव है तो वैसा निमित्त न मिलने देना, या किसी की भोग, उपभोगवृत्ति में बाधा डालना, शक्ति के अपहरण का प्रयत्न करना आदि विघ्नकरण है। ऐसा करने से अन्तराय कर्म का आस्रव होता है।

अन्तराय कर्म के आस्रव

ये पृथक् पृथक् कर्म के आस्रव अर्थात् कर्मबन्ध के हेतु हैं। इनमें से जब जो हेतु होता है तब प्रमुखता से उस कर्म का बन्ध होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ २७ ॥

सातवाँ अध्याय

आस्रव तत्त्व का व्याख्यान करते समय प्रारम्भ में ही यह कहा है कि शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्रव होता है। अब देखना यह है कि वे कौन से शुभ कार्य हैं जिनसे पुण्य कर्म का आस्रव होता है? इस अध्याय में इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये व्रत और दान का विशेषरूप से वर्णन किया गया है।

व्रत का स्वरूप—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।

हिंसा, असत्य आदि का स्वरूप इसी अध्याय में आगे बतलाया गया है। उसे समझ कर हिंसा और असत्य आदि रूप प्रवृत्ति जो कि अपने जीवन में घुल मिल गई है उसे बाहर निकाल फेकना और जीवन भर के लिये वैसा न करने का दृढ़ संकल्प कर लेना व्रत है।

ये व्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग। इन सब में अहिंसा व्रत प्रथम है क्योंकि खेत में उगे हुए धान्य की रक्षा के लिये जैसे बाड होती है वैसे ही अहिंसा व्रत के योग्यतापूर्वक पालने के लिये ये सत्यादिक व्रत माने गये हैं। यद्यपि एक अहिंसा व्रत को अच्छी तरह से पालने पर सत्यादिक सभी व्रत पल जाते हैं, इसलिये मूल में एक अहिंसा व्रत ही है तथापि सत्य आदि व्रतों के स्वीकार करने से अहिंसाव्रत की ही पुष्टि होती है इस-लिये व्रतों का विभाग करके वे पाँच बतलाये गये हैं।

सूत्रकारने यहाँ व्रतका लक्षण निवृत्तिपरक किया है तथापि उन्होंने

यह निवृत्ति असत्प्रवृत्तियों की बतलाई है। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये असत् प्रवृत्तियाँ हैं जो प्राणीमात्र के जीवन में ज्ञात और अज्ञातभाव से घर किये हुए हैं, इसलिये इनके त्याग का उपदेश देने से व्रत में सत्प्रवृत्तियों का स्वीकार अपने आप फलित हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये सत्प्रवृत्तियाँ हैं जो इनके विपरीत हिंसादिक के त्याग करने से प्राप्त होती हैं। वास्तव में देखा जाय तो निवृत्ति और प्रवृत्ति ये एक ही व्रत के दो पर्यायनाम हैं जो दृष्टिभेद से प्राप्त हुए हैं। जब कोई प्राणी अपने जीवन में हिंसा नहीं करने का निर्णय करता है तो उसका फलित अर्थ होता है कि उसने अपने जीवन में अहिंसा के पालने का निश्चय किया है। इसी प्रकार जब कोई प्राणी अपने जीवन में अहिंसा के पालने का निश्चय करता है तो उसका फलित अर्थ होता है कि उसने अपने जीवन में हिंसा के त्याग देने का निश्चय किया है, इसलिये यद्यपि सूत्रकार ने असत्प्रवृत्तियों का त्याग व्रत बतलाया है तथापि उससे सत्प्रवृत्तियों का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है।

शंका—रात्रि भोजन विरमण नाम का छठा व्रत है उसका सूत्रकार ने निर्देश क्यों नहीं किया ?

समाधान—आगे चलकर अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें बतलाई गई हैं उनमें एक आलोकितपानभोजन नामक भावना भी है। उसका अर्थ है देख कर खाना पीना। रात्रि में प्रकाश की कमी रहने के कारण और त्रस जीवों का संचार अधिक होने के कारण देख कर खाना पीना नहीं बन सकता, अतः जीवन में आलोकितपानभोजन इस भावना के स्वीकार कर लेने से ही रात्रिभोजन का त्याग हो जाता है, इसी से सूत्रकार ने रात्रिभोजनविरमण नामक व्रत का पृथक् से निर्देश नहीं किया ?

शंका—वर्तमान काल में बिजली और गैस आदि के इतने तेज

प्रकाश उपलब्ध हो गये हैं जिससे दिन के समान देखा जा सकता है, तथा भोजन के स्थान में त्रस जीवों का अधिक संचार न हो यह व्यवस्था भी की जा सकती है; ऐसी अवस्था में यदि रात्रि में भोजन किया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—यह व्यवस्था यदि किसी व्यक्ति को उपलब्ध भी हो गई तो भी रात्रि में भोजन करने का समर्थन नहीं किया जा सकता। इसके दो कारण हैं, प्रथम तो यह कि कोई व्यवस्था एक व्यक्ति की दृष्टि से नहीं की जाती है। यदि एक व्यक्ति को सुविधायें प्राप्त हैं और उनका उपयोग करने की उसे अनुज्ञा भी मान ली जाय तो अन्य व्यक्ति उन सुविधाओं के अभाव में भी उससे अनुचित लाभ उठाने की सोच सकते हैं और इस प्रकार व्रत में शिथिलता आकर जोवन में उसका स्थान ही नहीं रहता। दूसरे कोई साधारण नियम किसी खास देश या ख़ास काल को ध्यान में रख कर नहीं बनाये जाते हैं। क्या जिस व्यक्ति को उक्त सुविधायें प्राप्त हैं और इसलिये जिसने रात्रि में भोजन करने की आदत डाल ली है कालान्तर में या घर छोड़कर अन्यत्र जाने पर भी उसकी वे सुविधायें वैसी ही बनी रहेंगी; ऐसा कहा जा सकता है, यदि नहीं तो फिर जहाँ उसे वे सुविधायें न रहेंगीं वहाँ अपनी आदत के विरुद्ध वह दिन में भोजन कैसे करने लगेगा। अर्थात् नहीं कर सकेगा, इसलिये राजमार्ग यही है कि अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये रात्रि में भोजन न किया जाय।

यदि थोड़ी देर को यह भी मान लिया जाय कि बिजली आदि का प्रकाश सर्वदा सबको उपलब्ध हो सकेगा तो भी रात्रि-भोजन का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सूर्य की किरणों में जो गुण हैं वे बिजली आदि के प्रकाश में नहीं पाये जाते। सच तो यह है कि रात्रि का उपयोग विश्राम के लिये करना चाहिये, अन्य कोई भी काम रात्रि में करना उचित नहीं है।

शङ्का—आजकल रात्रि में दूध और पानी लेने की तो पूरी छूट है हां, साथ ही अन्न के सिवा मेवा-मिष्टान्न के लेने में भी आपत्ति नहीं की जाती। इसमें तिल, सिंघाड़ा और राजगिर जैसे पदार्थ भी आ जाते हैं। रात्रि में गेहूँ आदि धान्य के बने हुए पदार्थों के न लेने पर भी अन्य प्रकार से रात्रि का भोजन तो हो ही जाता है, फिर रात्रि-भोजन त्याग व्रत की लीक पीटने में क्या राम है? जब रात्रि में भोजन करने के लिये इतनी सुविधायें मिल गई तब अन्न से बने पदार्थों के भोजन की सुविधा दे देने में आपत्ति ही क्या है?

समाधान—रात्रि में किसी भी प्रकार का भोजन नहीं करना चाहिये, यह मूल व्रत है। इस दृष्टि से विचार करने पर मेवा-मिष्टान्न की बात तो जाने दीजिये, रात्रि में पानी भी नहीं लिया जा सकता; तथापि कुछ पढ़े-लिखे और पैसेवाले लोगों ने इतनी सुविधायें प्राप्त कर लीं तो इसका यह अर्थ नहीं कि अन्न की भी छूट दे दी जाय। रात्रि-भोजनविरमण व्रत का जो भी हिस्सा शेष है उसकी रक्षा होनी ही चाहिये, उसीसे लोगों का ध्यान पुनः बदल सकता है और वे पूरी तरह से इस व्रत के पालने के लिये कटिबद्ध हो सकते हैं।

शङ्का—आखिर इस व्रत का इतना आग्रह क्यों?

समाधान—जिन जिन बातों से अहिंसा की रक्षा हो उन तमाम बातों पर दृढ़ रहना यह प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। सच पूछा जाय तो जैनी अहिंसा के प्रतीक हैं। और तमाम धर्मों ने या उनके अनुयायियों ने हिंसा और अहिंसा के भेद को भुला दिया है। बौद्धधर्म जो श्रमण धर्म का अङ्ग माना जाता है उसके अनुयायी भी अब मांस आदि का भक्षण करना अनुचित नहीं मानते। एक जैनी ही ऐसे हैं जिन्होंने विकृत या अविकृत हर हालत में अहिंसा की रक्षा की है। यतः रात्रि में भोजन करने से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, अतः रात्रि में भोजन करने का निषेध किया जाता है।

शङ्का—रात्रि में भोजन न करने के और क्या लाभ हैं ?

समाधान—रात्रि में भोजन न करने से आरोग्य की वृद्धि होती है, जठर को विश्राम मिलता है जिससे उसकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है, भले प्रकार निद्रा आती है और ब्रह्मचर्य के पालन करने में सहायता मिलती है जो प्राणीमात्र का तेजोमय जीवन है। इन सब लाभों को ध्यान में रखकर रात्रि में भोजन का न करना ही उचित है।

शङ्का – उक्त कारणों से यह तो समझ में आया कि रात्रि में भोजन न करना चाहिये, तथापि रात्रि में भोजन नहीं करना यह उचित होते हुए भी इसे राष्ट्र ने या बहुसंख्यक लोगों ने तो माना नहीं है। इसे तो बहुत ही थोड़े लोग पालते हैं, इसलिये ऐसे प्रसङ्गों पर, जहाँ बहुसंख्यक अन्य लोग रहते हैं और रात्रि को भोजन न करने की प्रतिज्ञावाले बहुत ही अल्पमात्रा में होते हैं, इस व्रत के पालने में बहुत कठिनाई जाती है। उदाहरणार्थ—कारखानों में, जहाँ समय से काम होता है और छुट्टी भी समय से ही मिलती है, मजदूर या क्लर्क इस व्रत को कैसे पाल सकते हैं ? यदि यह सोचा जाता है कि रात्रिभोजनविरमण व्रत का जीवन में कठोरता से पालन हो तो इस समस्या को सुलझाना ही होगा। यह आज की समस्या है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है।

समाधान—इस समस्या के महत्त्व को हर कोई जानता है। यह भी मालूम है कि इस कारण से या ऐसे ही अन्य कारणों से इस व्रत में शिथिलता आई है। पर यदि प्रत्येक व्यक्ति चाहे तो इसका भी हल निकल सकता है। सर्वप्रथम प्रत्येक को यह सोचने की आवश्यकता है कि धर्म का मुख्य प्रयोजन आत्मशुद्धि है। और आत्मशुद्धि बिना स्वावलम्बन के हो नहीं सकती। यह जीवन को सबसे बड़ी कमजोरी है कि यह जीव अपने से पृथग्भूत पदार्थों का आलम्बन लेता है और उनके अभाव में दुखी होता है। वास्तव में देखा जाय तो गृहस्थ धर्म और यति धर्म की सार्थकता इसी में है कि ऐसी कमजोरी को जो कि

जीवन में घुल-मिल गई है दूर किया जाय, क्योंकि इस कमजोरी को हटाये बिना मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है

सर्वप्रथम यह श्रद्धा करनी होती है कि मैं भिन्न हूँ और ये शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि भिन्न हैं। जब यह श्रद्धा दृढ़ हो जाती है तब वह इन शरीरादि के त्याग के लिये यथाशक्ति प्रयत्नशील होता है। जो पर का रञ्चमात्र भी सहारा लिये बिना स्वावलम्बनपूर्वक जीवन यापन करने का अभिलाषी है वह यति धर्म को स्वीकार करता है और जो एकाएक ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाता है वह गृहस्थ धर्म को स्वीकार करता है। गृहस्थ शनैः शनैः स्वावलम्बन की शिक्षा लेता है। जैसे जैसे स्वावलम्बनपूर्वक जीवन बिताने में उसके दृढ़ता आती जाती है वैसे ही वैसे वह पर पदार्थों के आलम्बन को छोड़ता जाता है और अन्त में वह भी पूर्ण स्वावलम्बी बन जाता है। माना कि यति शरीर के लिये आहार लेता है, मलमूत्र का त्याग भी करता है। थकावट आदि के आने पर थोड़ा विश्राम भी करता है, स्व में चित्त के न रमने पर अन्य को उपदेश आदि भी देता है, केश आदि के बढ़ जाने पर उनका उत्पाटन भी करता है और तीर्थयात्रादि के लिये गमनागमन भी करता है, इसलिये यह शङ्का होती है कि यति को स्वावलम्बी कैसे कहा जाय ? प्रश्न है तो मार्मिक और किसी अंश में जीवन की कमजोरी को व्यक्त करनेवाला भी, पर इस कमजोरी को एकाएक निकाल फेंकना असम्भव है। शरीर का सम्बन्ध ऐसा है जिसका त्याग एक झटके में नहीं किया जा सकता। जैसे धन, पुत्र आदि जुदे हैं वैसे शरीर जुदा नहीं है। शरीर और आत्मप्रदेश एक क्षेत्रावगाही हो रहे हैं और इनका परस्पर संश्लेष भी हो रहा है, अतः शरीर के रहते हुए यावन्मात्र प्रवृत्ति में इनका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है। यही कारण है कि पूर्ण स्वावलम्बन (यतिधर्म) की दीक्षा ले लेने पर भी संसार अवस्था में जीवन्मुक्त अवस्था के मिलने के पूर्वतक बहुत-सी शरीराश्रित क्रियायें करनी

पड़ती हैं। यदि उन क्रियाओं से सर्वथा उपेक्षाभाव रखा जाता है तो आत्माश्रित ध्यान, भावना आदि क्रियाओं का किया जाना ही कठिन हो जाता है। पर इतने मात्र से उसकी स्वावलम्बन पूर्वक जीवन यापन की भावना लुप्त नहीं हो जाती है, क्योंकि शरीर के साथ रागभाव के रहते हुए बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक शरीरमूलक सब प्रकार की क्रियाओं को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता है। जिन क्रियाओं के नहीं करने से शरीर की स्थिति बनी रह सकती है वे क्रियायें तो छोड़ दी जाती हैं किन्तु जो क्रियायें शरीर की स्थिति के लिये आवश्यक हैं उन्हें स्वीकार करना पड़ता है। दृष्टि शरीर के अवलम्बन को कम करते हुए स्वावलम्बन की ही रहती है। यह शरीर के लिये की जानेवाली क्रियाओं को प्रशस्त नहीं मानता और कारणवश ऐसी क्रिया के नहीं करने पर परम आनन्द का अनुभव करता है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्ममात्र स्वावलम्बन की शिक्षा देता है। अतः जो व्यक्ति जीवन की कमजोरी वश जीवन में पूर्ण स्वावलम्बी बनने की प्रतिज्ञा नहीं कर पाता अतएव गृहस्थ धर्म को स्वीकार करता है या वैसी श्रद्धा के आधार से अपने जीवन यापन का निर्णय करता है उसे पर वस्तुओं के ऐसे अवलम्बनों का तो त्याग करना ही चाहिये जिन्हें वह छोड़ सकता है। रात्रि में भोजन करना, बिड़ी सिगरेट पीना, नशा के दूसरे कार्य करना ये ऐसे काम हैं जिनसे एक तो आत्मा मलिन होता है, दूसरे इन्हें छोड़ देने से शरीर की कोई हानि नहीं होती। और ऐसा करने से आंशिक स्वावलम्बन की शिक्षा भी मिलती है, अतः किसी भी परिस्थिति में रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये। माना कि किसी कारखाने आदि में काम करने पर अनेक परतन्त्रताओं का सामना करना पड़ता है और चालू जीवन को सरलता पूर्वक बिताना दूभर हो जाता है पर यही स्थल तो परीक्षा का कहा जा सकता है। मानस

परिणाम की सच्ची परीक्षा तो यहीं होती है। रात्रि भोजन का त्यागी होने के नाते जीवन में जो स्वावलम्बन की शिक्षा ली है उसका दृढ़ता पूर्वक कहाँ तक पालन होता है यह ऐसे स्थल पर ही समझा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को उस धर्म (स्वावलम्बन) को दृढ़ता पूर्वक पालना चाहिये जो कि उसके प्रारम्भिक कर्तव्यों में सम्मिलित है। धर्म व्यक्तिगत वस्तु है इसलिये अपने पतन और उत्थान के लिये व्यक्ति ही दायी है। कमजोरी के स्थलों का निर्देश करके धर्म की रक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु जो स्थल कमजोरी के हैं उन स्थलों पर दृढ़ बने रहने से ही धर्म की रक्षा होती है।

आज कल एक नई प्रथा और चल पड़ी है। अधिकतर व्याह शादियों में या सार्वजनिक प्रसंगों पर रात्रि को भी सामूहिक भोज दिया जाने लगा है। कहीं इसमें अन्न का बचाव रखा जाता है, कहीं अन्न के स्थान में सिंघाड़े आदि से काम लिया जाता है और कहीं तो अन्न का ही वर्ताव किया जाता है। यह रोग बढ़ता ही जा रहा है। बाह्य प्रलोभन इतना अधिक रहता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति कमजोरी का शिकार हो जाता है। माना कि यह प्रत्येक का व्यक्तिगत दोष है कि वह ऐसे स्थल पर अपने प्रारम्भिक कर्तव्य को भूल जाता है पर जब तक जीवन में स्वावलम्बन का महत्त्व नहीं समझा है और जीवन परावलम्बी बना हुआ है तब तक सहयोग प्रणाली के आधार से इतना तो होना ही चाहिये कि उस द्वारा ही कम से कम ऐसी कमजोरी की शिक्षा न दी जाय जिसका प्रारम्भ में त्याग करना आवश्यक है। हुआ क्या है कि वर्तमान में सबकी दृष्टि फिर गई है। सब अपने अपने आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को ही भूल गये हैं। मन्दिर में जाकर स्वावलम्बन की पूर्ण शिक्षा देनेवाली मूर्ति के दर्शन करते हैं अवश्य पर हृदय पर स्वावलम्बन का भाव अङ्कित नहीं होने पाता। वहाँ भी प्रलोभन के इतने अधिक साधन उपस्थित कर दिये गये हैं

जिससे दृष्टि प्रलोभनों में ही उलझ जाती है। प्रलोभनों से दृष्टि फिरने ही नहीं पाती। घर प्रलोभनों को लेकर ही वापिस आते हैं। अब तो ऐसे स्थल भी निश्चित कर दिये गये हैं जो इन प्रलोभनों का सजीव प्रचार करते हैं। पद्मपुरी इसका मुख्य उदाहरण है। वर्तमान अवस्था में यह सांस्कृतिक तीर्थस्थान नहीं कहा जा सकता। इससे कामना की शिक्षा मिलती है त्याग और स्वावलम्बन की नहीं। महावीर जी का प्रचार भी इसी भावना से किया जाने लगा है। यों तो यह प्रयत्न सैकड़ों वर्षों से चालू है। शासन देवताओं के नाम पर सकाम पूजा को इसी से प्रोत्साहन मिला है। कुछ ऐसी स्तुतियाँ और पूजायें भी बन गई हैं जिनसे सांस्कृतिक दृष्टिकोण बदल कर अनेक प्रकार के प्रलोभनों की शिक्षा मिलती है। कुछ स्तुति पाठ अंशतः अपने मौलिक रूप में भले ही हों पर उनका भी ऐसी कल्पित कथाओं से सम्बन्ध जोड़ा गया है जिससे वे ऐहिक तृष्णा की पूर्ति में काम आने लगे हैं। इस वृत्ति का अन्त कहाँ होगा यह कहना कठिन है। व्यक्ति कमजोरी का शिकार हो यह दूसरी बात है किन्तु तीर्थंकरों की शिक्षाओं का मुख ही विपरीत दिशा में फेर दिया जाय यह कहाँ तक उचित है? जिन धर्म के उपदेशकों को यह सोचने की बात है। वे स्वयं व्यक्तिगत प्रलोभन से बचकर और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को हृदयंगम कर ऐसा कर सकते हैं। उन्हें अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करने की आवश्यकता है। यदि उपदेशकों का दृष्टिकोण बदल जाय तो एक रात्रि भोजन के त्याग का प्रचार ही क्या जैन संस्कृतिकी निर्मल धारा पुनः प्रवाहित की जा सकती है।

व्रत के भेद—

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

हिंसादिक से एकदेश विरति अणुव्रत है और पूर्ण विरति महाव्रत है।

हिंसादिक का त्याग करना चाहिये यह विहित मार्ग है, क्योंकि असत्प्रवृत्तियों से छुटकारा पाना ही व्रत है। किन्तु त्यागोन्मुख प्रत्येक प्राणी द्वारा इन सबका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एकसा नहीं हो सकता; जिसकी जितनी शक्ति होगी वह उतना ही त्याग कर सकता है। इसलिये यहाँ हिंसा आदि दोषों की निवृत्ति के एकदेश और सर्वदेश ये दो भाग कर दिये हैं। यदि हिंसा आदि दोषों से एकदेश निवृत्ति होती है तो वह अणुव्रत कहलाता है और सर्वदेश निवृत्ति होती है तो वह महाव्रत कहलाता है।

संसारी जीवों के त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं। काय से ऐसी प्रवृत्ति ही नहीं करना जिससे इन दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा हो। यदि प्रवृत्ति करना भी हो तो समितिपूर्वक प्रवृत्ति करना। मुख से हिंसाकारी वचन नहीं बोलना और मन में किसी भी प्रकार की हिंसा का विकल्प नहीं रखना। इसी प्रकार असत्य आदि के त्याग के विषय में भी जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि दोषों से काय, वचन और मन द्वारा हर प्रकार से छूट जाना महाव्रत है तथा इन सब दोषों से एकदेश छुटकारा पाना अणुव्रत है॥ २॥

व्रतों की भावनायें —

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्ये-ष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥

उन व्रतों को स्थिर करने के लिये प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनायें हैं।

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसा व्रत की पाँच भावनायें हैं।

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण ये सत्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्षशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीरसंस्कारत्याग ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं।

इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना ये अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनायें हैं।

स्वीकृत व्रतों का पालना बिना परिकर के सम्भव नहीं। व्रतोन्मुख या व्रतारूढ़ हुए प्रत्येक प्राणी को व्यावहारिक जीवन की उन प्रवृत्तियों से बचना होगा जो हिंसा आदि अव्रतों की पोषक हों और उन प्रवृत्तियों की ओर निरन्तर ध्यान देना होगा जिनसे अहिंसा आदि व्रतों की पुष्टि होती हो; प्रस्तुत प्रकरण में ऐसी प्रवृत्तियों का ही सदा ध्यान रखना भावना बतलाया है। इन भावनाओं को जीवन में भले प्रकार से उतार लेने पर अहिंसादि व्रतों का अच्छी तरह से पालन होता है। प्रत्येक व्रत की ये भावनायें पाँच पाँच हैं जिनका नाम निर्देश स्वयं सूत्रकार ने किया है; खुलासा निम्रकार है—

मुख से अच्छे बुरे किसी भी प्रकार के शब्द न बोलकर मौन धारण करना वचनगुप्ति है। मन को अशुभ ध्यान से बचाकर आत्म हितकारी विचारों में लगाना मनोगुप्ति है। किसी को क्लेश न हो इसलिये यतनापूर्वक चार हाथ भूमि शोधते हुए गमन करना ईर्यासमिति है। शास्त्र, पीछी और कमण्डलु को लेते और रखते समय अवलोकन व प्रमार्जन करके लेना या रखना आदाननिक्षेपणसमिति है। खाने पीने की वस्तु को भलीभाँति देखभालकर लेना और लेने के बाद भी वैसे ही देख भालकर खाना पीना आलोकितपानभोजन है। इस प्रकार ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें हैं।

क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना क्रमशः क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान और हास्यप्रत्याख्यान है। तथा निर्दोष बोलना अनुवीचिभाषण है। इस प्रकार ये सत्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

शङ्का—बोलते समय हँसी आ जाने से अर्थ का अनर्थ होना सम्भव है इसलिये हास्यत्याग का सत्यव्रत के साथ सम्बन्ध तो समझ में आता है पर क्रोध, लोभ और भय के त्याग का सत्यव्रत के साथ क्या सम्बन्ध है यह समझ में नहीं आता ?

समाधान—अधिकतर लोग क्रोध, लोभ और भय के वश होकर असत्य बोलते हैं, इसलिये सत्यव्रत के पालने के लिये इनका त्याग करना आवश्यक है; यही समझकर सत्यव्रत की भावनाओं में इन क्रोधादिक के त्याग का उपदेश दिया है।

पर्वत की गुफा, वृक्ष के कोटर आदि में निवास करना शून्यागारावास है। जिस आवास का दूसरे ने त्याग कर दिया हो और जो मुक्तद्वार हो उसमें निवास करना विमोचितावास है। जिस स्थान में अपन ने निवास किया हो, ध्यान लगाया हो या तत्त्वोपदेश दिया हो वहाँ दूसरे साधु को आने से नहीं रोकना परोपरोधाकरण है। भिक्षा के

नियमों का उचित ध्यान रखकर ही भिक्षा लेना भैक्षशुद्धि है और साधर्मी से 'यह मेरा कमण्डलु है इसे तू नहीं ले सकता' इत्यादि रूप से विसंवाद नहीं करना सधर्माविसंवाद है। इस प्रकार ये अचौर्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

निवासस्थान दो प्रकार के हो सकते हैं एक वे जो प्राकृतिक होते हैं। जैसे—पर्वतों की गुफा आदि और दूसरे वे जो बनवाये जाते हैं किन्तु बनवाकर जो अतिथियों के लिये छोड़ दिये जाते हैं या जिनका स्वामी उन्हें यों ही मुक्तद्वार छोड़कर अन्यत्र चला गया है इसलिये जिनमें ठहरने के लिये दूसरे किसी को रुकावट नहीं है। इस प्रकार ये दोनों प्रकार के स्थान अस्वामिक होने से यदि साधु ऐसे ही स्थानों को अपने उपयोग में लाता है अन्य स्थानों को नहीं तो इससे अचौर्यव्रत की रक्षा होती है इसलिये तो शून्यागारावास और विमोचितावास ये दो अचौर्यव्रत की भावनायें बतलाई हैं। जिन स्थानों में साधु ठहर गया हो वहाँ दूसरे को आने से यदि वह रोके तो उस स्थान में उसकी निजत्व की कल्पना सम्भव होने से चोरी का दोष लगता है, इसी दोष से बचने के लिये परोपरोधाकरण यह तीसरी भावना बतलाई है। भिक्षा-शुद्धि के जो स्वाभाविक नियम बतलाये हैं उनके अनुसार ही साधु भिक्षा ले सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। अन्य प्रकार से लेने पर चोरी का दोष आता है, क्योंकि उस प्रकार से लेना विहित मार्ग नहीं है। इससे तृष्णा की वृद्धि होती है, इसलिये इस दोष से बचने के लिये चौथी भावना बतलाई है। पीछी और कमण्डलु ये शुद्धि के तथा शास्त्र यह ज्ञानार्जन का उपकरण है। जैसे गृहस्थ धन, धान्य आदि परिग्रह का स्वामी होता है वैसे साधु इनका स्वामी नहीं होता। तथापि यह कहने से कि यह मेरा कमण्डलु है तुम इसे नहीं ले सकते, उसमें ममत्व प्रकट होता है और यह भाव चोरी है, इसलिये इस प्रकार के दोष से बचने के लिये सधर्माविसंवाद पाँचवीं भावना बतलाई है।

इस प्रकार ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं।

जिन कथाओं के सुनने और वाचने आदि से स्त्रीविषयक अनुराग जागृत हो ऐसी कथाओं के सुनने और बाचने आदि का त्याग करना स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग है। स्त्रियों के मुख, आँख, कुच और कटि आदि सुन्दर अङ्गों को देखने से काम भाव जागृत होता है, इसलिये साधु को एक तो स्त्रियों के सम्पर्क से अपने को बचाना चाहिये, दूसरे यदि वे दर्शनादिक को आवें तो नीची दृष्टि रखने का अभ्यास करना चाहिये और इच्छापूर्वक उनकी ओर नहीं देखना चाहिये, यह तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग है। गृहस्थ अवस्था में विविध प्रकार के भोग भोगे रहते हैं उनके स्मरण करने से कामवासना बढ़ती है, इसलिये उनका भूलकर भी स्मरण नहीं करना पूर्वरतानुस्मरणत्याग है। गरिष्ठ और प्रिय खानपान का त्याग करना वृष्येष्टरसत्याग है। तथा किसी भी प्रकार का अपने शरीर का संस्कार नहीं करना जिससे स्वपर के मन में आसक्ति पैदा हो सकती हो स्वशरीरसंस्कारत्याग है। इस प्रकार ये ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनायें हैं।

संसार में सब प्रकार के विषय विद्यमान हैं कुछ मनोज्ञ और कुछ अमनोज्ञ। जो मन को प्रिय लगें वे मनोज्ञ विषय हैं और जो मन को प्रिय न लगें वे अमनोज्ञ विषय हैं। मनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने से राग और अमनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने से द्वेष बढता है। यदि मनोज्ञ विषयों में राग न किया जाय और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष न किया जाय तो उनके सञ्चय और त्याग की भावना ही जागृत न हो और इस प्रकार अपरिग्रहव्रत की रक्षा होती रहे। इसी से मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शरागद्वेषवर्जन, मनोज्ञामनोज्ञरसरागद्वेषवर्जन, मनोज्ञामनोज्ञगन्धरागद्वेषवर्जन, मनोज्ञामनोज्ञवर्णरागद्वेषवर्जन और मनोज्ञामनोज्ञशब्दरागद्वेषवर्जन ये अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनायें बतलाई हैं।

ये प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनायें महाव्रत की अपेक्षा बतलाई

हैं तथापि इन्हीं के अनुरूप अणुव्रतों की भी भावनायें होती हैं। अणुव्रतों से महाव्रतों का स्थान प्रथम है इसलिये भावनाओं के कथन में प्रमुखता से उन्हीं को स्थान दिया है ॥३-८॥

कुछ अन्य सामान्य भावनायें जिनसे उक्त वृतों की पुष्टि हो—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

हिंसा आदि पाँच दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन भावने योग्य है।

अथवा हिंसा आदिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिये।

प्राणीमात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में करुणावृत्ति और अविनेयों में माध्यस्थ भाव की भावना करनी चाहिये।

संवेग और वैराग्य के लिये जगत के स्वभाव और शरीर के स्वभाव की भावना करनी चाहिये।

कोई भी प्राणी हिंसादि दोषों का त्याग तभी कर सकता है जब उनमें उसे अपना अहित दिखाई दे, क्योंकि जब तक यह न हो कि हिंसा आदिक दोष इसलोक और परलोक दोनों लोकों में अहितकर हैं और निंद्य हैं तब तक उनका त्याग नहीं किया जा सकता। इसीसे प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार ने हिंसादि दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य के दर्शन करने की भावना का उपदेश दिया है। अपाय का अर्थ विनाश है और अवद्य का अर्थ निन्द्य है। जो प्राणी हिंसादि दोषों का सेवन करता है उसका यह लोक और परलोक दोनों बिगड़

जाते हैं और वह उभय लोक में निन्दा का पात्र भी होता है, इसलिये हिंसादि दोषों का त्याग करना श्रेयस्कर है, यह प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय है ॥ ६ ॥

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से भय खाता है। वह चाहता है कि न तो मुझे दुःख प्राप्त हो और न दुःख के साधन ही प्राप्त हों। किन्तु ऐसा तब हो सकता है जब वह सुख और दुःख के साधनों में विवेक प्राप्त करके दुःख के साधनों के त्याग द्वारा सुख के साधनों को दृढ़ता से स्वीकार करे। देखा जाता है कि रक्षा स्वपर हितकारी है और हिंसा स्वपर दुःखकारी, इससे ज्ञात होता है कि हिंसा का त्याग करके अहिंसादि धर्मों को स्वीकार करना ही सुख का मार्ग है। तथापि इन हिंसादि दुःख के साधनों का पूरी तरह से त्याग तब हो सकता है जब इनमें भली प्रकार से दुःखदर्शन का अभ्यास किया जाय, इसी से यहाँ हिंसा आदि दोषों को दुःख रूप से मानने की वृत्ति के सतत अभ्यास करते रहने का उपदेश दिया है। इस प्रकार हिंसादि दोषों में दुःखभावना के जागृत होने से प्राणी उनसे विरत होकर सुख के मार्ग में लग जाता है ॥ १० ॥

पहले की तरह हिंसादि दोषों के त्याग द्वारा अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का सतत अभ्यास करते रहना भी उपयोगी बतलाया है। मैत्री का अर्थ है सबमें अपने समान समझने की भावना। इससे अपने समान ही और सबको दुःखी न होने देने की भावना जागृत होती है। यह सामान्य भावना है, क्योंकि इसका विषय प्राणीमात्र है। शेष तीन इसके अवान्तर भेद हैं, क्योंकि यह मैत्री भावना ही कहीं पर प्रमोदरूप, कहीं पर करुणारूप और कहीं पर माध्यस्थरूप से प्रस्फुटित होती है। जिससे अपना गुणोत्कर्ष होना सम्भव है वहाँ वह प्रमोदरूप हो जाती है। जिससे अन्तःकरण द्रवित हो उठता है वहाँ पर वही करुणा का

रूप धारण कर लेती है और जिससे विद्वेष की भावना जागृत होना सम्भव है वहाँ वह उसका प्रशमन करने के लिये माध्यस्थ का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार एक मैत्री भावना ही पात्रभेद से तीन प्रकार की हो जाती है यह इसका तात्पर्य है, इसलिये मैत्री भावना का विषय प्राणीमात्र बतलाया है और शेष भावनाओं के विषय उस उस भावना के अनुसार अलग अलग बतलाये हैं ॥ ११ ॥

यद्यपि इन भावनाओं से अहिंसा आदि व्रतों की पुष्टि होती है तथापि इसके लिये संवेग और वैराग्य भावना का होना और भी जरूरी है, क्योंकि इनके बिना अहिंसा आदि व्रतों का प्राप्त होना और प्राप्त हुए व्रतों का पालना सम्भव नहीं है। फिर भी इन दोनों की प्राप्ति जगत्स्वभाव और कायस्वभाव के चिन्तवन से होती है इसलिये प्रस्तुत सूत्र में संवेग और वैराग्य की प्राप्ति के लिये इन दोनों का चिन्तवन करना आवश्यक बतलाया है।

इस जग में जीव नाना योनियों में दुःख भोग रहे हैं, उन्हें सुख का लेश भी प्राप्त नहीं। जीवन जल के बुलबुले के समान विनश्वर है इत्यादि रूप में जग के स्वभाव का चिन्तवन करने से उसके प्रति मोह दूर होकर उससे संवेग-भय पैदा होता है। इसी प्रकार शरीर की अस्थिरता, अशुचिता और निःसारता आदि रूप स्वभाव का चिन्तवन करने से उससे वैराग्य उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

हिंसा का स्वरूप—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

प्रमत्तयोग से प्राणों का विनाश करना हिंसा है।

पहले हिंसादि दोषों से निवृत्त होना व्रत बतलाया है पर वहाँ उन हिंसादि दोषों के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला गया है जिनका स्वरूप समझना जरूरी है, अतः आगे इन दोषों के स्वरूप पर प्रकाश

डाला जाता है। उसमें भी सर्वप्रथम इस सूत्रद्वारा हिंसा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

सूत्र में प्रमत्तयोग से प्राणों के विनाश करने को हिंसा बतलाया है, इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि प्राणों का विनाश करना हिंसा है पर वह प्रमत्तयोग से किया हुआ होना चाहिये। जो प्राणों का विनाश प्रमत्तयोग से अर्थात् राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति के कारण होता है वह तो हिंसा है शेष नहीं यह इस सूत्रका तात्पर्य है। यहाँ प्रमत्तयोग कारण है और प्राणों का विनाश कार्य है। आगम में प्राण दो तरह के बतलाये हैं द्रव्यप्राण और भावप्राण। प्रमत्तयोग के होने पर द्रव्य प्राणों का विनाश होता ही है ऐसा कोई नियम नहीं है, हिंसा के अन्य निमित्त मिल जाने पर द्रव्य प्राणों का विनाश होता भी है और नहीं मिलने पर नहीं भी होता है। इसी प्रकार कभी कभी प्रमत्तयोग के नहीं रहने पर भी द्रव्य प्राणों का विनाश देखा जाता है। उदाहरणार्थ—साधु ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हैं। उनके रञ्चमात्र भी प्रमत्तयोग नहीं होता, तथापि कदाचित् गमन करने के मार्ग में अचानक क्षुद्र जन्तु आकर और पैर से दब कर मर जाता है। यहाँ प्रमत्तयोग के नहीं रहने पर भी प्राणव्यपरोपण है, इसलिये मुख्यतया प्रमत्तयोग से जो भाव प्राणों का विनाश होता है वह हिंसा है ऐसा यहाँ तात्पर्य समझना चाहिये।

हिंसाका लाक्षणिक अर्थ

जैन आगम में हिंसा विकार का पर्यायवाची माना गया है। जीवन में जो भी विकार विद्यमान है उससे प्रतिक्षण आत्मगुणों का ह्रास हो रहा है। यह विकारभाव कभी-कभी भीतर ही भीतर काम करता रहता है और कभी कभी बाहर प्रस्फुटित होकर उसका काम दिखाई देने लगता है। किसी पर क्रोध करना, उसको मारने के लिये उद्यत होना, गाली देना, अपमान करना, झूठा लाञ्छन लगाना, सन्मार्ग के विरुद्ध साधनों को जुटाना

हिंसा का मथितार्थ

आदि उस विकार के बाहरी रूप हैं और आत्मोन्नति या आत्मोन्नति के साधनों से विमुख होकर रागद्वेष रूप परिणति का होना उसका आभ्यन्तर रूप है। ऐसे विकार भाव से आत्मगुणों का हनन होता है इसलिये तत्त्वतः इसी का नाम हिंसा है।

मुख्यतया प्रत्येक की दृष्टि अपने जीवन के संशोधन की न होकर बाहर की ओर जाती है। वह इतना ही विचार करता है कि मैंने अन्य जीवों पर दया की, उन्हें नहीं मारा तो मेरे द्वारा अहिंसा का पालन हो गया। वह अपने जीवन का रंचमात्र भी संशोधन नहीं करता, भीतर छिपे हुए विकार भाव को नहीं देखता। इससे वह हिंसा को करते हुए भी अपने को अहिंसक समझ बैठता है। जगत् में जो विशृंखलता फैली हुई है वह इसका प्रांजल उदाहरण है। तत्त्वतः भूल कहाँ हो रही है। उसकी खोज होनी चाहिये। इसके बिना हिंसा से अपनी रक्षा नहीं हो सकती और न अहिंसा का मर्म ही समझ में आ सकता है।

जीवन की सबसे बड़ी भूल ही हिंसा का कारण है

मनुष्य के जीवन में यह सबसे बड़ी भूल है जिससे वह ऐसा मान बैठा है कि दूसरे का हिताहित करना मेरे हाथ में है। जिसने जितने अधिक बाहरी साधनों का संचय कर लिया है वह उतना अधिक अपने को शक्तिमान् अनुभव करता है। साम्राज्य लिप्सा, पूँजीवाद, वर्गवाद और संस्थावाद इसका परिणाम है। ईश्वरवाद को इसी मनोवृत्ति ने जन्म दिया है। जगत् में बाहरी विषमता का बीज यही है। अतीत काल में जो संघर्ष हुए या वर्तमान में जो भी संघर्ष हो रहे हैं उन सबका कारण यही है। जब मनुष्य अपने जीवन में इस तत्त्वज्ञान को स्वीकार कर लेता है कि अन्य से अन्य का हित या अहित होता है तब उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि फिर कर बहिर्मुखी हो जाती है। वह बाह्य साधनों के जुटाने में लग जाता है। उनके जुटाने में सफल होने पर उसे अपनी सफलता मानता है। जीवन में बाह्य साधनों को स्थान नहीं है

यह बात नहीं है किन्तु इसकी एक मर्यादा है। दृष्टि को अन्तर्मुखी रखते हुए अपने जीवन की कमजोरी के अनुसार बाह्य साधनों का आलम्बन लेना और बात है किन्तु इसके विपरीत बाह्य साधनों को ही सब कुछ मान बैठना और बात है।

तत्त्वतः प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और अपने में परिपूर्ण है। उसमें जो भी परिवर्तन होता है वह उसकी अपूर्णता का द्योतक न होकर उसकी योग्यतानुसार ही होता है इसलिये किसी भी पदार्थ को शक्ति का संचय करने के लिये किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं लेनी पड़ती। निमित्त इतना बलवान् नहीं होता कि वह अन्य द्रव्य में से कुछ निकाल दे या उसमें कुछ मिला दे। द्रव्य में न कुछ आता है और न उसमें से कुछ जाता ही है। अनन्तकाल पहले जिस द्रव्य का जो स्वरूप था आज भी वह जहाँ का तहाँ और आगामी काल में भी वह वैसा ही बना रहेगा। केवल पर्याय क्रम से बदलना उसका स्वभाव है इसलिये इतना परिवर्तन उसमें होता रहता है। माना कि यह परिवर्तन सर्वथा अनिमित्तक नहीं होता है किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि यह निमित्ताधीन होता है। जैसे वस्तु की कार्यमर्यादा निश्चित है वैसे सब प्रकार के निमित्तों की कार्यमर्यादा निश्चित नहीं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य और आकाश द्रव्य ये ऐसे निमित्त हैं जो सदा एक रूप में कार्य के प्रति निमित्त होते हैं। धर्म द्रव्य सदा गति में निमित्त होता है। अधर्म द्रव्य स्थिति में निमित्त होता है। काल द्रव्य प्रति समय की होनेवाली पर्याय में निमित्त होता है और आकाश द्रव्य अवगाहना में निमित्त होता है। इन द्रव्यों के निमित्तत्व की यह योग्यता नियत है। इसमें त्रिकाल में भी अन्तर नहीं आता। इन द्रव्यों का अस्तित्व भी इसी आधार पर माना गया है। किन्तु इनके सिवा प्रत्येक कार्य के प्रति जो जुदे जुदे निमित्त माने गये हैं वे पदार्थ के स्वभावगत कार्य के अनुसार ही निमित्त कारण होते हैं। वे अमुक ढंग के कार्य के प्रति ही

निमित्त हैं ऐसी व्यवस्था उनकी निश्चित नहीं है। उदाहरणार्थ एक युवती एक ही समय में साधु के लिये वैराग्य के होने में निमित्त होती है और रागी के लिये राग के होने में निमित्त होती है। इसका यही अर्थ है कि जिस पदार्थ की जिस काल में जिस प्रकार की स्वभावगत कार्यमर्यादा होती है उसी के अनुसार अन्य पदार्थ उसके होने में निमित्त कारण होता है। इसलिये जीवन में निमित्त का स्थान होकर भी वस्तु की परिणति को उसके आधीन नहीं माना जा सकता। यह तात्त्विक मीमांसा है जिसका सम्यग्दर्शन न होने के कारण ही जीवन में ऐसी भूल होती है जिससे यह दूसरे के बिगाड़ बनाव का कर्ता अपने को मानता है और बाह्य साधनों के जुटाने में जुटा रहता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर इस परिणति का नाम ही हिंसा है। हमें जगत् में जो विविध प्रकार की कषाय मूलक वृत्तियाँ दिखलाई देती हैं वे सब इसके परिणाम हैं। जगत् की अशान्ति और अव्यवस्था का भी यही कारण है। एक बार जीवन में भौतिक साधनों ने प्रभुता पाई कि वह बढ़ती ही जाती है। धर्म और धर्मायतनों में भी इसका साम्राज्य दिखलाई देने लगा है। अधिकतर पढ़े लिखे या त्यागी लोगों का मत है कि वर्तमान में जैन धर्म का अनुयायी राजा न होने के कारण अहिंसा धर्म की उन्नति नहीं हो रही है। मालूम पड़ता है कि उनका यह मत आन्तरिक विकार का ही द्योतक है। तीर्थंकरों का शारीरिक बल ही सर्वाधिक माना गया है किन्तु उन्होंने स्वयं अपने जीवन में ऐसी असत्कल्पना नहीं की थी और न वे शारीरिक बल या भौतिक बल के सहारे धर्म का प्रचार करने के लिये उद्यत ही हुए थे। भौतिक साधनों के प्रयोग द्वारा किसी के जीवन की शुद्धि हो सकती है यह त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। उन्माद से उन्माद की ही वृद्धि होती है। यह भौतिक साधनों का उन्माद ही अधर्म है। इससे आत्मा की निर्मलता का लोप होता है और वह इन साधनों के बल पर संसार पर छा जाना चाहता है।

उत्तरोत्तर उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ती जाती हैं जिससे संसार में एकमात्र घृणा और द्वेष का ही प्रचार होता है। वर्तमान काल में जो विविध प्रकार के वाद दिखलाई देते हैं वे इसी के परिणाम हैं। संसार ने भीतर से अपनी दृष्टि फेर ली है। सब बाहर की ओर देखने लगे हैं। जीवन की एक भूल से कितना बड़ा अनर्थ हो रहा है यह समझने और अनुभव करने की वस्तु है। यही वह भूल है जिसके कारण हिंसा पनपकर फूल फल रही है।

शास्त्रकारों ने इस हिंसा के दो भेद किये हैं—भावहिंसा और द्रव्य हिंसा। भावहिंसा वही है जिसका हम ऊपर निर्देश कर आये हैं।

हिंसा के भेद व उसके कारण

द्रव्य हिंसा में अन्य जीव का विघात लिया गया है। यह भावहिंसा का फल है इसलिये इसे हिंसा कहा गया है। कदाचित् भावहिंसा के अभाव में भी द्रव्यहिंसा होती हुई देखी जाती है पर उसकी परिगणना हिंसा की कोटि में नहीं की जाती है। हिंसा का ठीक अर्थ आत्म परिणामों की कलुषता ही है। कदाचित् कोई जड़ पदार्थ को अपकारी मानकर उसके विनाश का भाव करता है और उसके निमित्त से वह नष्ट भी हो जाता है। यहाँ यद्यपि किसी अन्य जीव के द्रव्य प्राणों का नाश नहीं हुआ है तो भी जड़ पदार्थ को छिन्न भिन्न करने में निमित्त होनेवाला व्यक्ति हिंसक ही माना जायगा; क्योंकि ऐसे भावों से जो उसके आत्मा की हानि हुई है उसी का नाम हिंसा है।

संसारी जीव के कषायमूलक दो प्रकार के भाव होते हैं—रागरूप और द्वेषरूप। इनमें से द्वेषमूलक जितने भी भाव होते हैं उन सबकी परिगणना हिंसामें की जाती है। कदाचित् ऐसा होता है जहाँ विद्वेष की ज्वाला भड़क उठने का भय रहता है। ऐसे स्थल पर उपेक्षा भाव के धारण करने की शिक्षा दी गई है। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति अपनी स्त्री, भगिनी, माता या कन्या का अपहरण करता है या धर्मायतन का

ध्वंस करता है तो बहुत सम्भव है कि ऐसा करनेवाले व्यक्ति के प्रति विद्वेषभाव हो जाय। किन्तु ऐसे समय में स्त्री आदि की रक्षा का भाव होना चाहिये उसे मारने का नहीं। हो सकता है कि रक्षा करते समय उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाय। यदि रक्षा का भाव हुआ तो वही आपेक्षिक अहिंसा है और मारने का भाव हुआ तो वही हिंसा है। मुख्यतया ऐसी हिंसा को ही संकल्पी हिंसा कहते हैं। कहीं कहीं यह हिंसा अन्य कारणों से भी होती है। जैसे शिकार खेलना आदि सो इसकी परिगणना भी संकल्पी हिंसा में होती है। संकल्पी हिंसा उसका नाम है जो इरादतन की जाती है। कसाई आदि जो भी हिंसा करते हैं उसे भी इसी कोटि की हिंसा समझना चाहिये। माना कि उनकी यह आजीविका है पर गाय आदि को मारते समय हिंसा का संकल्प किये बिना वध नहीं हो सकता इसलिये यह संकल्पी हिंसा ही है। आरम्भी और संकल्पी हिंसा में इतना अन्तर है कि आरम्भ में गृहनिर्माण करना, रसोई बनाना, खेती बाड़ी करना आदि कार्य की मुख्यता रहती है। ऐसा करते हुए जीव मरते हैं अवश्य पर इसमें सीधा जीव को नहीं मारा जाता है और संकल्प में जीव वध की मुख्यता रहती है। यहाँ कार्यका श्रीगणेश जीव वध से ही होता है।

रागभाव दो प्रकार का माना गया है—प्रशस्त और अप्रशस्त। जीवन शुद्धि के निमित्तभूत पदार्थों में राग करना प्रशस्त राग है और शेष अप्रशस्त राग है। है तो यह दोनों प्रकार का रागभाव हिंसा ही परन्तु जब तक रागभाव नहीं छूटा है तब तक अप्रशस्त राग से प्रशस्त राग में रहना उत्तम माना गया है। इसी से शास्त्रकारों ने दान देना पूजा करना, जिन मन्दिर बनवाना, पाठशाला खोलना, उपदेश करना, देश की उन्नति करना आदि कार्यों का उपदेश दिया है।

जीवन में जिसने पूर्ण स्वावलम्बन को उतारने की अर्थात् मुनिधर्म की दीक्षा ली है उसे बुद्धिपूर्वक सब प्रकार के राग द्वेष के त्याग करने

का विधान है। क्योंकि बुद्धिपूर्व किसी भी प्रकार का राग द्वेष बना रहना जीवन की बड़ी भारी कमजोरी है। इस दृष्टि से तो सब प्रकार के विकार भाव हिंसा ही माने गये हैं। यही कारण है कि मुनि को सब प्रकार की प्रवृत्ति के अन्त में प्रायश्चित करना पड़ता है। किन्तु गृहस्थ की स्थिति इससे भिन्न है। उसका अधिकतर जीवन प्रवृत्ति मूलक ही व्यतीत होता है। वह जीवन की कमजोरी को घटाना चाहता है। जो कमजोरी शेष है उसे बुरा भी मानता है पर कमजोरी का पूर्णतः त्याग करने में असमर्थ रहता है, इसलिये वह जितनी कमजोरी के त्याग की प्रतिज्ञा करता है उतनी उसके अहिंसा मानी गई है और जो कमजोरी शेष है वह हिंसा मानी गई है। किन्तु यह हिंसा व्यवहार मूलक ही होती है अतः इसके इसका निषेध नहीं किया गया है। पहले जिस आपेक्षिक अहिंसा की या आरम्भजन्य हिंसा की हम चर्चा कर आये हैं वह गृहस्थ की इसी वृत्ति का परिणाम है। यह हिंसा संकल्पी हिंसा की कोटि की नहीं मानी गई है॥ १३ ॥

असत्य का स्वरूप—

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

असत् बोलना अनृत अर्थात् असत्य है।

कोई वस्तु है पर उसका बिलकुल निषेध करना, जैसी है वैसी नहीं बतलाना या बोलते समय अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना असत् वचन हैं। जो प्राणी अपने जीवन में इस प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है वह असत्य दोष का भागी होता है।

शंका—माता, पिता या अध्यापक बालक को सुमार्ग पर लाने के लिये और आचार्य शिष्य को शासन करते समय कठोर वचन बोलते हैं, तो क्या यह सब कथन असत्य की कोटि में आता है?

समाधान—नहीं।

शंका—इसका क्या कारण है ?

समाधान—बात यह है कि केवल कठोर वचन बोलना ही असत्य नहीं है किन्तु जो वचन प्रमत्तयोग से बोला जाता है वह असत्य है। प्रमत्तयोग से किसी भी प्रकार का वचन क्यों न बोला गया हो वह सबका सब असत्य है और प्रमाद के बिना बोला गया सब वचन सत्य है। यद्यपि गुरु आदि कठोर वचन बोलते हैं परन्तु उनके वैसा वचन प्रयोग करने में प्रमाद कारण नहीं है इसलिये ऐसे वचन को असत्य नहीं माना जा सकता है।

शंका—राजकर्मचारियों में अनाचार के फैल जाने से अपने बचाव के लिये जनता को जो असत्य बोलना पड़ता है उसका अन्तर्भाव इस असत्य में होता है क्या ?

समाधान—अवश्य होता है।

शंका—यदि ऐसा है तो असत्य दोष से कोई भी नहीं बच सकता है ?

समाधान—यह ख्याल गलत है कि असत्य दोष से कोई भी नहीं बच सकता है, ऐसे अवसरों पर मिलकर उस व्यवस्था को ही बदल देना चाहिये जिससे जीवन में असत् प्रवृत्ति का संचार होता हो। भले ही इसके लिये अधिक से अधिक त्याग करना पड़े परन्तु समाज में और राष्ट्र में सदाचार और सत्प्रवृत्ति को जीवित रखने के लिये ऐसा किया जाना आवश्यक है। अन्यथा सत्य का ढिंढोरा पीटना ढकोसला मात्र होगा।

शंका—क्या वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के चालू रहते हुए सत्य वचन का पाला जाना सम्भव है ?

समाधान—आर्थिक व्यवस्था किसी भी प्रकार की क्यों न हो। वह बाह्य आलम्बन मात्र है। यहाँ तो अन्तरंग कारणों पर विचार करना है। अन्तरंग से उन कारणों का त्याग होना चाहिये जिनसे

असत् कथन को प्रोत्साहन मिलता हो। यह दूसरी बात है कि वर्तमान कालीन आर्थिक व्यवस्था मनुष्य के अध्यात्म जीवन पर गहरा प्रहार कर रही है और इसलिये सहयोग प्रणाली के आधार से इसमें संशोधन होना चाहिये पर ऐसी विषम परिस्थिति के वशीभूत होकर अपने अध्यात्म जीवन में दाग लगाना किसी भी हालत में उचित नहीं है। उसकी तो रक्षा होनी ही चाहिये। सत्य ऐसा नहीं है जो बाहरी जीवन पर अवलम्बित हो। वह तो प्राणीमात्र के अध्यात्म जीवन की निर्मल धारा का सुफल है, अतः जैसे बने वैसे सत्य की रक्षा में सदा तत्पर रहना चाहिये ॥ १४ ॥

चोरी का स्वरूप—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय अर्थात् चोरी है।

साधारणतया यह नियम है कि माता पिता से जिसे जंगम या स्थावर जो द्रव्य प्राप्त होता है वह और अपने जीवन में जितना कमाता है वह या भेट आदि में जो द्रव्य मिलता है वह उसकी मालिकी का होता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति दूसरे किसी की मालिकी की छोटी या बड़ी किसी भी प्रकार की बिना दी हुई वस्तु को लेता है तो वह लेना स्तेय अर्थात् चोरी है।

शंका—वर्तमान काल में पूँजीवादी परम्परा दृढ़ता से रूढ़ हो जाने के कारण कुछ ऐसे नियम प्रचलित हो गये हैं जिनसे एक ओर श्रमिकों को पर्याप्त श्रम का फल नहीं मिल पाता और इसके लिये संगठित आवाज बुलन्द करने पर राजशक्ति द्वारा वे कुचल दिये जाते हैं और दूसरी ओर साधनों के बल पर ही प्रत्येक पूँजीपति पूँजी के ढेर के ढेर संग्रह करता जाता है। अब यदि कोई व्यक्ति इस अवस्था से ऊबकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किसी पूँजीपति के द्रव्य में से

कुछ द्रव्य चुरा लेता है तो क्या उसका वैसा करना चोरी में सम्मिलित समझा जायगा ?

समाधान—अवश्य।

शंका—तो गरीब जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे की जाय ?

समाधान—इसके लिये संगठित प्रयत्न करना चाहिये और मिलकर उस अवस्था को बदल देना चाहिये जिससे साधनों के अभाव में सर्व साधारण जनता का उत्पीड़न होता हो।

शंका—प्रत्येक संसारी प्राणी श्वास लेता है और कर्म नोकर्म को भी ग्रहण करता है सो उसका वैसा करना क्या चोरी में सम्मिलित समझा जाना चाहिये, क्योंकि ये सब वस्तुएँ बिना दी हुई रहती हैं ?

समाधान—यद्यपि यह सही है कि बिना दी हुई वस्तु का लेना चोरी है तथापि इन उपर्युक्त वस्तुओं में दानादानका व्यवहार सम्भव नहीं, इसलिये इनका प्राप्त होना चोरी में सम्मिलित नहीं है।

शंका—साधुओं का गली कूचा आदि के द्वार में से प्रवेश करना व इतर जनों का नदी, तालाब आदि का पानी लेना, दातौन तोड़ना आदि भी तो अदत्तादान है, इसलिये इनके ग्रहण करने में चोरी का दोष लगना चाहिये ?

समाधान—जो वस्तुएँ सामान्य रूप से सबके उपयोग के लिये होती हैं और जिस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता, अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार उनके ग्रहण करने में चोरी का दोष नहीं लगता। उपर्युक्त वस्तुएँ ऐसी हैं जिन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता, अतः उनका ग्रहण करना अदत्तादान नहीं है और इसलिये उनके ग्रहण करने में चोरी का दोष नहीं है।

यह चोरी का व्यवहारपरक अर्थ है। वास्तविक अर्थ यह है कि जीवन की किसी भी प्रकार की कमजोरी को छिपाना चोरी है।

जीवन में कमजोरी हैं और होती रहेंगी पर न तो उनपर परदा डालना ही उचित है और न उनके अनुसार प्रवृत्ति करना ही उचित है यह उक्त कथन का भाव है। जो गृहस्थ या मुनि अपनी अपनी मर्यादा के बाहर कमजोरी के शिकार होते हैं और उसे छिपाते हैं वे चोरी के अपराधी हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिये ॥ १५ ॥

अब्रह्म का स्वरूप—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

मैथुन अब्रह्म है।

स्त्री और पुरुष का जोड़ा मिथुन कहलाता है और राग परिणाम से युक्त होकर इनके द्वारा की गई स्पर्शन आदि क्रिया मैथुन है। यह मैथुन ही अब्रह्म है। यद्यपि यहाँ मिथुन शब्द से स्त्री और पुरुष का जोड़ा लिया गया है तथापि वे सभी सजातीय और विजातीय जोड़े जो कामोपसेवन के लिये एकत्र होते हैं मिथुन शब्द से लिये जाने चाहिये, क्योंकि आज कल अप्राकृतिक कामोपसेवन के ऐसे बहुत से प्रकार देखे जाते हैं जिनकी पहले कभी कल्पना ही नहीं की गई थी। इसी प्रकार केवल पुरुष या केवल स्त्री का कामराग के आवेश में आकर जड़ वस्तु के अवलम्बन से या अपने हस्त आदि द्वारा कुटिल काम क्रिया का करना भी अब्रह्म है। यद्यपि यहाँ जोड़ा नहीं है तथापि दो के संयोग से जो कामसेवन किया जाता है वह न्यूनाधिक प्रमाण में अन्य अचेतन पदार्थ के निमित्त से या हस्तादिक के निमित्त से सध जाता है इसलिये ऐसा मिथ्याचार अब्रह्म ही है। इससे स्वास्थ्य, सम्पत्ति, सद्विचार, सदाचार आदि अनेक सद्गुणों की हानि होती है।

शंका—मैथुन को ही अब्रह्म क्यों कहा है?

समाधान—जिसके सद्भाव में अहिंसा आदि धर्मों की वृद्धि होती है वह ब्रह्म है। मैथुन एक ऐसा महान् दुर्गुण है जिसके जीवन में घर कर लेने पर किसी भी उत्तम गुण का वास नहीं रहता, इससे उत्तरोत्तर

हिंसा आदि दोषों की ही पुष्टि होती है इसीसे मैथुन को अब्रह्म कहा है। दूसरे ब्रह्म का अर्थ अपने आत्मस्वरूप को छोड़ कर स्त्री आदि पर वस्तु में मुख्यता से रममाण होना है अतः काम सेवन को अब्रह्म कहा है॥ १६॥

परिग्रह का स्वरूप—

मूर्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

मूर्छा परिग्रह है।

मूर्छा का अर्थ है किसी भी वस्तु में अपनत्व का अनुभव करना या उसे अपनी मालिकी की समझना। संसार में जड़ और चेतन छोटे बड़े अनेक पदार्थ हैं उनमें यह संसारी प्राणी मोह या रागवश अपनत्व की या अपने मालिकीपन की कल्पना करता रहता है। उनके संयोग में यह हर्ष मानता है और वियोग में दुःख। उनके अर्जन, संचय और संरक्षण के लिये यह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। अब तो इन बाह्य पदार्थों के ऊपर स्वामित्व स्थापित करने के लिये और ऐसा करके अपने अपने देशवासियों की सुख सुविधा बढ़ाने के लिये राष्ट्र राष्ट्र में युद्ध होने लगे हैं। अब न्याय नीति के प्रचार और असदाचार के निवारण के लिये युद्ध न होकर अपने अपने व्यापार विस्तार आदि कारणों से युद्ध होते हैं। इधर इस द्वन्द्व में एक ओर साधन सामग्री की समविभागीकरण की भावना काम कर रही है तो दूसरी ओर उसके उच्चाटन में सारी शक्ति का उपयोग किया जा रहा है। वास्तव में देखा जाय तो इन सब प्रवृत्तियों की तह में मूर्छा ही काम करती है इस लिये सूत्रकार ने मूर्छा को ही परिग्रह कहा है।

शंका—यतः सूत्रकार ने मूर्छा को परिग्रह बतलाया है अतः धन धान्य आदि पदार्थ परिग्रह नहीं प्राप्त होते और ऐसी हालत में जो

साधु अन्य पदार्थों को रखते हुए भी मूर्छा रहित हैं उन्हें अपरिग्रही माना जाना चाहिये ?

समाधान—सूत्रकार ने परिग्रह परिमाणव्रत के अतीचार बतलाते हुए धन धान्य आदि पदार्थों के अतिक्रमण करने को उसके अतीचार बतलाये हैं। इससे एक बात का तो पता लगता ही है कि जहाँ सूत्रकार परिग्रह का लक्षण करते हुए मूर्छा को परिग्रह बतलाते हैं वहाँ उसके त्याग का उपदेश देते हुए वे बाह्य पदार्थ धन धान्य आदि का त्याग मुख्यता से कराना चाहते हैं। यदि सूत्रकार की इस वर्णनशैली पर सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाय तो उससे यह बात अपने आप फलित हो जाती है कि वे धन धान्य आदि बाह्य पदार्थों को तो परिग्रह मानते ही रहे क्योंकि मूर्छा के बिना इनका सद्भाव बन नहीं सकता, किन्तु इनके अभाव में भी जो इन पदार्थों की आसक्ति होती है वह भी परिग्रह है यह बतलाने के लिये उन्होंने मूर्छा को परिग्रह कहा है। मूर्छा व्यापक है और धन धान्य आदि व्याप्य, यही कारण है कि सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण कहते समय मूर्छा पर जोर दिया है किन्तु मूर्छा का त्याग बाह्य वस्तुओं का त्याग किये बिना हो नहीं सकता, इसलिये परिग्रहत्यागमें बाह्य पदार्थों के त्याग पर अधिक जोर दिया है। इस स्थिति में पात्र और वस्त्रधारी साधु अपरिग्रही नहीं माना जा सकता है।

शंका—यदि अपरिग्रही साधुको वस्त्र पात्र आदिका त्याग करना आवश्यक है तो इसके समान उसे पीछी और कमण्डलु का त्याग करना भी आवश्यक होना चाहिये ?

समाधान—यद्यपि साधु एक पीछी, कमण्डलु ही क्या वह अणु मात्र भी परिग्रह का त्यागी होता है, अन्यथा वह सकल परिग्रहका त्यागी नहीं बन सकता है तथापि उसे जो पीछी कमण्डलु के रखने की शास्त्राज्ञा है सो वह उसे अपने उपयोग के लिये नहीं है किन्तु संयम की

रक्षा के लिये इनका रखा जाना आवश्यक बतलाया है । पीछी के बिना भूमिका शोधन और सूक्ष्म जन्तुओंका वारण नहीं किया जा सकता है और कमण्डलु के बिना मल मूत्र के विसर्जन के बाद शुद्धि नहीं की जा सकती है, इसलिये जैसे शास्त्रज्ञान का साधन होनेसे स्वाध्यायके लिये उसका ग्रहण करना परिग्रह में सम्मिलित नहीं है वैसे ही पीछी और कमण्डलु संयम के पालने में सहायक होनेसे उपयोग के लिये उनका लेना भी परिग्रह में सम्मिलित नहीं है । तात्पर्य यह है कि साधु पीछी और कमण्डलु को स्वेच्छा से नहीं लेता है किन्तु संयम की रक्षा के लिये वे होते हैं इसलिये उन्हें रखना पड़ता है, इसलिये उनमें उसकी मूर्च्छा न होने से वे परिग्रह में सम्मिलित नहीं हैं ।

शंका—जैसे संयम को रक्षाके लिये पीछी और कमण्डलु माने गये हैं वैसे ही वस्त्र और पात्र आदि का रखा जाना भी आवश्यक है यदि ऐसा मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—पीछी और कमण्डलु का होना जितना आवश्यक है उतना वस्त्र पात्र आदिका होना आवश्यक नहीं है क्यों कि पात्र और चीवर के नहीं होने पर भी बिना बाधा के साधु का जीवन यापन हो सकता है । साधु घर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिक का त्याग इस लिये करता है कि वह पूर्ण स्वावलम्बन पूर्वक निर्विकार भाव से अपना जीवन यापन कर सके क्यों कि उसने उस महान् व्रतकी दीक्षा ली है जिसका अन्य पदार्थों का संयोग रहते हुए निभ सकना कभी भी सम्भव नहीं है । जब कि वह कर्म और नोकर्म से पल्ला छुड़ाने के लिये प्रत्यक्ष युद्ध के मैदान में सफल योद्धा की भांति उतर आया है तब क्या उससे ऐसी क्रियाका होना सम्भव है जो इसे इनसे बांधे रहे । गृहस्थी में रहते हुए पूरी तरह से यह युद्ध इसलिये नहीं लड़ा जा सकता है क्यों कि वहां ममकार और अहंकार भावको प्रोत्साहन मिलता रहता है

जो कि संसार की जड़ है। गृहस्थी के त्याग का उपदेश इसीलिये दिया जाता है। इस प्रकार जो ममकार और अहंकार भाव गृहस्थी के रहते हुए सम्भव है वही भाव वस्त्र पात्र आदि के होने पर भी होता है यही कारण है कि साधुत्वकी प्राप्ति के लिये उनका भी त्याग करना आवश्यक बतलाया गया है। बाह्य वस्तु में रंचमात्र मूर्छा के रहते हुए अंशतः भी साधुत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। साधुत्वकी प्राप्ति के साथ यह एक क्रम है जिससे उसके वस्त्र पात्र आदि स्वयं छूट जाते हैं। इसलिये इनके त्यागका उपदेश दिया गया है।

शंका—जब कि शरीर पर है और उससे जब तक इस आत्मा का सम्बन्ध बना हुआ है तब तक शरीर की रक्षा के लिये यदि साधु आहारादि के समान वस्त्रादि को ग्रहण करता है तो इसे उसकी कमजोरी क्यों समझा जाता है। यदि स्वावलम्बन पूर्वक जीवन बिताने के लिये त्याग करना ही इष्ट हो तो सबका त्याग होना चाहिये, अन्यथा आवश्यक बाह्य पदार्थों के स्वीकार करने में आपत्ति ही क्या है?

समाधान—यहां यह देखना है कि शरीर के लिये क्या आवश्यक है? भोजन और पानी तो अनावश्यक माना नहीं जा सकता है और यह तब तक आवश्यक है जब तक शरीर इसे स्वीकार करता है। हां जब शरीर ही इसे अस्वीकार कर देता है तब इसका त्याग करना अनुचित नहीं माना जाता है। इस प्रकार जब कि शरीर के लिये भोजन और पानी आवश्यक हो जाते हैं तो उनके मल मूत्र बनने पर उनका विसर्जन करना भी आवश्यक हो जाता है और यह विसर्जन की क्रिया विना पानी के सम्पन्न नहीं की जा सकती है, इसलिये पानी के लिये कमण्डलु का रखना भी आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार जब तक उसके शरीर का परिग्रह लगा हुआ है तब तक उसका उठना, बैठना आदि क्रियाओं का किया जाना भी आवश्यक है। यद्यपि ये क्रियाएं जमीन पर की जाती हैं पर वहां यह देखना होता है कि वह

निर्जन्तु तो है। प्राय: देखा यह जाता है कि सर्वत्र चींटी आदि सूक्ष्म जन्तुओं का संचार होता रहता है, इसलिये उनको दूर करने के लिये मृदु उपकरण का रखना भी आवश्यक है। ये उसके संयम से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुऐं हैं। इनके सिवा ऐसी वस्तु नहीं दिखलाई देती जिसके बिना शरीर की रक्षा न हो सके। भोजन तो बिना पात्र के ही हो जाता है। गृहस्थ भोजन देता है सो वह अन्य बाह्य आलम्बन के बिना भी लिया जा सकता है। साधुको स्वयं भोजन नहीं बनाना पड़ता जिससे उसके लिये पात्रका रखना आवश्यक माना जाय। वह तो उसे बना बनाया ही मिल जाता है, इस लिये बिना पात्र के भी उसका काम चल जाता है। जहां साधुत्वके योग्य भोजन मिला वहीं ले लिया, जब इतने से ही यह कृत्य पूरा हो जाता है तब क्या आवश्यकता है कि साधु पात्र अवश्य रखे। यह तो अनावश्यक संचय है जिसका सहज ही बिना बाधाके त्याग किया जा सकता है। यही कारण है कि साधु के लिये पात्र रखने का निषेध किया गया है। अब वस्त्रों के सम्बन्ध में विचार कीजिये। क्या यह आवश्यक है कि साधुका वस्त्रों के बिना चल नहीं सकता। वस्त्र रखने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो अपनी कमजोरी को छिपाना और दूसरे शरीर की अशक्तता। किन्तु ये दोनों ही कारण ऐसे हैं जो साधुत्व के विरोधी हैं। साधुके जीवन में न तो ऐसी कमजोरी ही शेष रहती है जिससे उसे वस्त्र स्वीकार करना पड़े। यह गृहस्थ की कमजोरी है जिससे वह वस्त्रादि को स्वीकार करता है। और न उसका शरीर ही इतना अशक्त होता है जिसके कारण वह वस्त्र रखने के लिये बाध्य हो। भला सोचिये तो कि जिसने जीवन में पूर्ण स्वावलम्बन की दीक्षा ली है वह शरीर को असक्त मान कर उसका निर्वाह कैसे कर सकता है। यदि फिर भी वह ऐसा करता है तो कहना चाहिये कि उसने स्वावलम्बन के मर्म को ही नहीं समझा है। प्राय: ऐसे बहुत से गरीब

भाई देखने में आते हैं जिनके शरीर पर लंगोटी मात्र परिग्रह रहता है। यदि इतने मात्र से उनका निर्वाह हो जाता है तो फिर जो अपने जीवन के ढांचे को ही बदल देना चाहता है उसका वस्त्र के बिना निर्वाह न हो यह कैसी विडम्बना है। सच तो यह है कि साधु के लिये वस्त्र की आवश्यकता का अनुभव करना अपने जीवन से खेल करने के समान है। मानव प्राणी और सब कुछ करे पर ऐसा न करे जिससे उसके जीवन में विकार को प्रोत्साहन मिलता हो। पशु पक्षियों को ही देखिये। आखिर उनके भी तो शरीर है पर क्या उन्हें भोजन पानी के समान वस्त्र की आवश्यकताका अनुभव होता है? कभी नहीं। इस तरह जब पशु पक्षियों का वस्त्र के बिना काम चल जाता है तो जिसने सकल परिग्रहका त्याग किया है उसका वस्त्र के बिना काम न चले यह महदाश्चर्य की बात है। यह सब हम किसी विकार भाव से प्रेरित होकर नहीं लिख रहे हैं। किन्तु जीवन की सही आलोचना है जो हमें ऐसा लिखने के लिये बाध्य करती है। हम समझते हैं कि इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु के लिये पात्र की तरह वस्त्रकी भी आवश्यकता नहीं है। इसके बाद भी यदि वस्त्र का आग्रह किया जाता है तब हम कहते हैं कि तो फिर अन्य परिग्रहने क्या बिगाड़ा है। यदि वस्त्र के समान अन्य परिग्रह भी रहा आवे तो क्या हानि है। पर सच तो यह है कि बाह्य वस्तुका स्पर्श मात्र ही हेय है। उससे जीवन में विकल्प आये बिना रहता नहीं। यद्यपि प्रारम्भ में साधु के पास पीछी कमण्डलु होते हैं पर कभी कभी वे भी जब विकल्प के कारण हो जाते हैं, अतएव आगे चल कर उनका रहना भी जब प्रशस्त नहीं माना गया है तब फिर वस्त्रके रखने की कथा करना ही व्यर्थ है। यही कारण है कि साधुके लिये वस्त्र त्यागका पूर्ण विधान किया गया है। इस प्रकार समीक्षा करके देखने पर मालूम पड़ता है कि साधु के लिये शरीर रक्षार्थ और साधुत्व के निर्वाहार्थ जैसे आहार

पानी तथा पीछी कमण्डलुका होना आवश्यक है वैसे वस्त्र, पात्र आदि का रखना आवश्यक नहीं है। स्वावलम्बन के पूर्ण अभ्यासी को यह देखना होता है कि कम से कम आवश्यकताऐं क्या हैं जिनके बिना चालू जीवन को योग्यता पूर्वक संचालित करना कठिन है। इसके बाद अनावश्यक पदार्थों को वह स्वयं छोड़ देता है यह बात नहीं है किन्तु उसके जीवन में से उतर जाने के बाद वे स्वयं छूट जाते हैं। यही कारण है कि वस्त्र पात्रादिको स्वीकार करना साधु के जीवन की कमजोरी समझी जाती है। कमजोरी ही नहीं किन्तु इससे उसका साधुत्व ही नष्ट हो जाता है। इसी लिये उसके जीवन में इनके त्याग का विधान किया गया है।

शंका—यदि ऐसी बात है तो फिर समयप्राभृत में पाखण्डी लिंग और नाना प्रकार के गृही लिंगों को मोक्ष पथ से बाह्य क्यों बतलाया है ?

समाधान—वहां इन्हें केवल आत्म स्वरूप समझने का निषेध किया है। व्यवहार से तो इन्हें वहां स्वीकार ही किया है। वहां लिखा है कि मोक्ष पथ में व्यवहार से मुनिलिंग और गृहस्थलिंग ये दो ही लिंग प्रयोजक माने गये हैं। एक निश्चय नय ऐसा है जो मोक्ष पथ में किसी भी लिंग को स्वीकार नहीं करता। सो इसका यह भाव है कि निश्चय से आत्मपरिणति ही प्रयोजक है। किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा विचार करने पर जो निमित्त जिस कार्य का प्रयोजक है उसका विधान करना आवश्यक ही है। यह ठीक है कि अन्तरंग भाव बाह्य लिंग पर अवलम्बित नहीं हैं। बाह्यलिंग के रहते हुए भी अन्तरंग भाव नहीं होते। पर जब भी अन्तरंग भाव होते हैं तब वे बाह्य लिंगके सद्भाव में ही होते हैं। यही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है इस लिये इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

शंका—बाह्यलिंग का अन्तरंग के भावोंसे जब कोई सम्बन्ध ही

नहीं है तब फिर बाह्यलिंग को अन्तरंग परिणतिका निमित्त मानना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

समाधान—यह तो है ही कि बाह्यलिंग बुद्धिपूर्वक स्वीकार किया जाता है, पर अन्तरंग की परिणति से उसका कुछ भी सम्बन्ध न हो यह नहीं कहा जा सकता है, फिर भी कोई वास्तविक परिणति के होने पर वैसा करते हैं और कोई उसके अभाव में भी केवल ढोंगवश वैसा करते हैं। इसलिये यह तो है कि बाह्यलिंग अन्तरंग परिणति के अभाव में भी हो जाता है पर यह नहीं है कि सकल बाह्य वस्तुओं के आलम्बन के त्याग की भावना तो हो और तदनुकूल प्रवृत्ति भी करने लगे पर बाह्य वस्तुओं का त्याग न करे, उन्हें पकड़े ही रहे अर्थात् उनमें ममकार और अहंकार भाव करता ही जाय।

शंका—कोई साधु यदि वस्त्र, पात्र आदि को स्वेच्छा से स्वीकार करे तो एक बात है, पर वह ऐसा न करके शास्त्राज्ञा से उन्हें स्वीकार करता है इसलिये साधु उनमें ममकार और अहंकार भाव करता है यह प्रश्न ही नहीं उठता ?

समाधान—शास्त्र तो वस्तु के स्वभाव का निर्देशमात्र करते हैं। उनमें भला ऐसा विधि विधान कैसे हो सकता है जिसका आत्मपरिणति से मेल नहीं बैठता, इसलिये शास्त्राज्ञा के नाम से जीवन में ऐसी कमजोरी लाना उचित नहीं है।

शंका—तो फिर जिन शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है उन्हें कल्पित माना जाय ?

समाधान—यह कैसे कहा जा सकता है कि वे शास्त्र कल्पित हैं। पर इतना अवश्य है कि साधु को वस्त्र पात्र आदि रखने का निर्देश करनेवाले उल्लेख श्रमण परम्परा के प्रतिकूल हैं, अतः वे त्याज्य हैं।

शंका—श्रमण भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती श्रमण जब कि पात्र

चीवर को स्वीकार करते थे तो इसे श्रमण परम्परा के प्रतिकूल कैसे माना जाय ?

समाधान—यह बात नहीं है। न तो श्रमण भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती श्रमण ही पात्र चीवर रखते थे और न उनके कालवर्ती श्रमण ही ऐसा करते थे। हाँ इसके बाद के शिष्यों में परिस्थितिवश यह दोष अवश्य आ गया है जो अब तक चालू है।

शंका—वह परिस्थिति क्या थी ?

समाधान—बाह्य परिस्थिति कुछ भी रही हो, अन्तरंग परिस्थिति तो जीवन की कमजोरी ही है। प्रारम्भ में आई तो कुछ श्रमणों के जीवन में यह कमजोरी पर इसके बाद इसने सम्प्रदाय का ही रूप ले लिया है और इस सम्प्रदाय भेद ने जीवन के क्षेत्र में कितनी विषमता ला दी है यह अनुभव करने की वस्तु है। एक ओर जहाँ साधु पद के बाद पात्र चीवरों और बाह्य आडम्बरों की मर्यादा बढ़ती ही जाती है और साथ ही इसकी पुष्टि के लिये अपरिग्रहवाद के मूर्तिमान् प्रतीक जिन मन्दिरों में जिन प्रतिमायें भी विविध अलंकारों से सजाई जाती हैं वहाँ दूसरी ओर इसके परिणाम स्वरूप श्रमणसंघ अनेक भागों में बट गया है जिससे अपरिग्रहवाद के प्रचार में बड़ी बाधा उपस्थित होने लगी है। एक प्रकार से समस्त श्रमणसंघ ने अपरिग्रहवाद को तिलाञ्जलि सी दे दी है। सर्वत्र धर्मप्रचार की धुन न होकर प्रभाव जमाने की धुन है। यद्यपि इस प्रवृत्ति का अन्त कहाँ होगा यह तो हम नहीं जानते पर इतना अवश्य जानते हैं कि ये सब प्रवृत्तियाँ श्रमण परम्परा के प्रतिकूल हैं। इनसे विकारी आत्माओं के जीवन में परिवर्तन लाना कठिन है। यदि स्वयं श्रमणजन या उनके अनुयायी इतना जान लें कि धर्म विकारों को प्रोत्साहन देने में नहीं है बल्कि उनके त्याग में है तो बहुत सम्भव है कि वे अपनी इस प्रवृत्ति को छोड़ दें।

शंका—यदि अपवादरूप में श्रमणजन पात्र चीवर को स्वीकार करते हैं तो इसमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—अपवादरूप में वस्त्र, पात्र आदि को स्वीकार करने का मार्ग खुला हुआ है। पर वह जिन लिंग न होकर गृहस्थ लिंग ही है। जो अपनी कमजोरीवश वस्त्र पात्र आदि की आवश्यकता अनुभव करता है उसे चाहिये कि वह गृहस्थलिंग में प्रतिष्ठित रह कर ही जीवन में आये हुए विकारों को दूर करने का प्रयत्न करता रहे और जब इतनी निर्विकार अवस्था देखे कि इनके बिना भी उसका काम चल सकता है तब वह जिन लिंग को स्वीकार कर ले ॥ १७ ॥

व्रतीका स्वरूप—

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

जो शल्यरहित हो वह व्रती है।

पहले अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच व्रत बतला आये हैं, इसपर से यह ख्याल होता है कि जो इन व्रतों को स्वीकार करता है वह व्रती है; पर सच्चा व्रती होने के लिये केवल अहिंसा आदि पाँच व्रतों के स्वीकार करनेमात्र से काम नहीं चल सकता किन्तु इसके लिये उसे शल्यों का त्याग करना भी आवश्यक है। शल्य भीतर ही भीतर पीड़ा पैदा करनेवाली वस्तु का नाम है। जैसे किसी स्वस्थ मनुष्य के पैरों में काँटा आदि के चुभ जाने पर उसके रहते हुये वह स्वास्थ्य का अनुभव नहीं कर पाता वैसे ही व्रतों के स्वीकार कर लेने पर भी शल्य के रहते हुए कोई भी प्राणी व्रती नहीं हो सकता। व्रतों का स्वीकार कर लेना और बात है और जीवन में उनको उतार लेना और बात है। यह तब तक सम्भव नहीं जब तक व्रतों को स्वीकार कर लेनेवाले व्यक्ति की मानसिक स्थिति ठीक न हो। मानसिक स्थिति को ठीक रखने के लिये शल्यों का त्याग करना आव-

श्यक है तभी व्रताचरण में ठीक तरह से प्रवृत्ति हो सकती है, इसीलिये यहाँ व्रती होने के लिये शल्यों का त्याग करना आवश्यक बतलाया गया है। वे शल्य तीन हैं—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। व्रतों के पालन करने में कपट, ढोंग अथवा ठगने की वृत्ति का बने रहना माया शल्य है। व्रतों के फलस्वरूप भोगों की लालसा रखना निदानशल्य है और व्रतों का पालन करते हुए भी सत्य पर श्रद्धा न लाना अथवा असत्य का आग्रह रखना मिथ्यादर्शनशल्य है। इन तीन शल्यों के रहते हुए कोई भी प्राणी व्रतों को अपने जीवन में नहीं उतार पाता, वे केवल उसके लिये आडम्बरमात्र बने रहते हैं, इसलिये व्रती होने के लिये व्रतों को स्वीकार करने के साथ शल्यों का त्याग करना भी आवश्यक है यह इस सूत्र का तात्पर्य है ॥ १८ ॥

वृती के भेद—

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

उसके (व्रती के) अगारी और अनगार ये दो भेद हैं।

पहले व्रत के दो भेद बतला आये हैं—अणुव्रत और महाव्रत। इसी हिसाब से यहाँ व्रती के दो भेद किये गये हैं—अगारी और अनगार। यद्यपि अगार का अर्थ घर है, इसलिये अगारी का अर्थ घर वाला होता है। किन्तु यहाँ अगार शब्द सकल परिग्रह का उपलक्षण है जिससे यह अर्थ होता है कि जिसने परिग्रह का पूरी तरह से त्याग नहीं किया है वह अगारी है। अगारी अर्थात् गृहस्थ। तथा जिसने घर अर्थात् सकल परिग्रह का पूरी तरह से त्याग कर दिया है वह अनगार है। अनगार अर्थात् मुनि।

शंका—बहुत से गृहस्थ घर से ममत्व परिणाम का त्याग किये बिना घर छोड़कर वन में निवास करने लगते हैं और बहुत से मुनि

वसतिका आदि में भी निवास करते हुए देखे जाते हैं, इसलिये जो घर में निवास करे वह अगारी और जो घर का त्याग करके रहे वह अननार यह अर्थ तो नहीं बनता ?

समाधान—वास्तव में यहाँ अगार शब्द से केवल मिट्टी का घर नहीं लिया गया है किन्तु इसका अर्थ आत्मा का वह परिणाम है जो घर आदि सकल परिग्रह के त्याग में प्रवृत्त नहीं होने देता है। ऐसे परिणाम के रहते हुए यदि कोई व्यक्ति वन में भी निवास करने लगता है तो वह अगारी ही है और इस परिणाम के छूट जाने पर प्रसंगवश यदि कोई वसतिका में भी निवास करता है तो वह अनगार ही है। वास्तव में देखा जाय तो क्या मिट्टी का घरोंदा और क्या वन ये दोनों ही ममत्व परिणामवाले के लिये घर ही हैं और जिसकी ममता नष्ट हो गई है उसके लिये क्या घर और क्या वन ये दोनों ही त्याज्य हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि घरका बिना त्याग किये भी कोई अनगार हो सकता है। त्याग और ग्रहण में संकल्प की मुख्यता है इसलिये संकल्पपूर्वक त्याग तो करना ही होगा। यही कारण है कि आगम में मुनि के लिये तिल तुषमात्र परिग्रह के रखने का निषेध किया गया है। यह कभी सम्भव नहीं कि परिग्रह का त्याग तो न किया जावे परन्तु उसकी मूर्च्छा नष्ट हो जाय। हाँ यह अवश्य सम्भव है कि परिग्रह का त्याग भी कर दिया जाय तो भी उसकी मूर्च्छा बनी रहे, इसलिये जो अनगार होना चाहता है उसके लिये सर्वप्रथम घर आदि सकल परिग्रह का त्याग करना आवश्यक बतलाया है।

शंका—अगारी को व्रती कहना उचित नहीं, क्यों कि उसके परिपूर्ण व्रत नहीं पाये जाते ?

समाधान—अगारी स्थूल दृष्टि से व्रती कहा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति शहर के किसी एक हिस्से में ही रहता है फिर भी उसके सम्बन्ध में 'वह अमुक शहर में रहता है' ऐसा व्यवहार विशेष किया जाता

है उसी प्रकार अगारी के परिपूर्ण व्रत के न होने पर भी वह व्रती कहा जाता है ॥ १६ ॥

अगारी वृती का विशेष खुलासा—

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरि - भोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ २१ ॥

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अणुव्रतों का धारी अगारी है।

वह अगारी दिग्विरतिव्रत, देशविरतिव्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत से भी सम्पन्न होता है।

तथा वह मारणान्तिक सल्लेखना का भी आराधक होता है।

पिछले सूत्र में व्रती के अगारी और अनगार ये दो भेद बतला आये हैं उनमें से अगारी का विशेष खुलासा करने के लिये प्रस्तुत सूत्रों की रचना हुई है।

जो अहिंसा आदि व्रतों को एकदेश पालता है ऐसा गृहस्थ अणुव्रतों का धारी श्रावक कहलाता है। इसके ये पाँचों अणुव्रत मूलव्रत कहलाते हैं, क्योंकि त्याग का प्रारम्भ इन्हीं से होता है। इसके सिवा इन व्रतों की रक्षा के लिये गृहस्थ दूसरे व्रतों को भी स्वीकार करता है जो उत्तर व्रत कहलाते हैं। वे संख्या में सात हैं। इस प्रकार इन व्रतों से सम्पन्न हो कर जो गृहस्थ अपने जीवन को व्यतीत करता है वह अपने जीवन के अन्तिम समय में एक व्रत को और स्वीकार करता है जिसे सल्लेखना कहते हैं। इस प्रकार ये कुल व्रत हैं जिनसे गृहस्थ सुशोभित होता है। अब संक्षेप में इन व्रतों का स्वरूप बतलाते हैं जो निम्न प्रकार है।

त्रस और स्थावर सब प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग न हो सकने के कारण जीवन भर के लिये सङ्कल्पी त्रस हिंसा का त्याग कर देना और स्थावर जीवों की हिंसा तथा आरम्भ भी यथा सम्भव कम करते जाना अहिंसाणुव्रत है।

पाँच अणुव्रत

भयवश, आशावश, स्नेहवश या लोभवश कम से कम ऐसा असत्य नहीं बोलना जो गृहविनाश या ग्रामविनाश का कारण हो सत्याणुव्रत है। बिना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को नहीं लेना अचौर्याणुव्रत है। अपनी विवाहिता स्त्री या विवाहित पुरुष के सिवा शेष सब स्त्रियों या पुरुषों की ओर बुरी निगाह से नहीं देखना ब्रह्मचर्याणुव्रत है तथा आवश्यकता को कम करते हुए जीवन भर के लिये आवश्यकतानुसार धनधान्य आदि बाह्य परिग्रह का परिमाण कर लेना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है।

जीवन भर के लिये अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व आदि सभी दिशाओं की मर्यादा निश्चित करके उसके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने आने आदि रूप किसी प्रकार का व्यापार नहीं करना दिग्विरतिव्रत है। इस व्रत में एक बार स्वीकृत दिशाओं की मर्यादा को कालान्तर में घटाया तो जा सकता है पर बढ़ाना किसी भी हालत में सम्भव नहीं है। इसमें भी प्रयोजन के अनुसार घड़ी, घण्टा, दिन, पक्ष आदि के हिसाब से क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने आने आदिरूप किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं करना देशविरतिव्रत है। यद्यपि यह व्रत नियत समय के लिये लिया जाता है तथापि एक बार स्वीकृत व्रत की कालमर्यादा पूरी होने के साथ ही पुनः देशमर्यादा कर ली जाती है। व्रती का बिना देशमर्यादा के एक क्षण भी नहीं जाता है, अन्यथा व्रतभङ्ग का दोष लगता है, इस प्रकार परम्परा से यह व्रत भी जीवन भर चालू रहता है। प्रयोजन

तीन गुणव्रत

के बिना होनेवाला निरर्थक व्यापार अनर्थदण्ड कहलाता है और इसका त्याग कर देना अनर्थदण्डविरतिव्रत है। व्रती श्रावक जीवन में ऐसा एक भी काम नहीं करता है जो बिना प्रयोजन का हो और ऐसा प्रसङ्ग आने पर वह उससे अपने को निरन्तर बचाता रहता है, यह अनर्थदण्डविरतिव्रत को स्वीकार करने का तात्पर्य है। इन तीन व्रतों का पालन करना पाँच अणुव्रतों के लिये गुणकारी है, इसलिये ये गुणव्रत कहे जाते हैं।

चार शिक्षाव्रत

विवक्षित काल तक मन, वचन और काय सम्बन्धी बाह्य प्रवृत्ति से निवृत्त होकर समता परिणामों से एकत्व का अभ्यास करना सामायिक है। इस अभ्यास में णमोकार आदि पदों का पुनः पुनः नियत उच्चारण करना सहायक होने से वह भी सामायिक है। पर सामायिक में शब्दोच्चारण की अपेक्षा चिन्तवन की ही मुख्यता है। पर्व दिनों में पञ्चेन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर चार प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास है। इस अवसर पर अपने शरीर का संस्कार करना, स्नान करना, सुगन्ध लगाना, माला पहिनना, आभूषण पहिनना, व्यापार करना या घर के दूसरे काम करना आदि समस्त व्यापारों का त्याग कर देना चाहिये और चैत्यालय, साधुनिवास या उपवासगृह आदि एकान्त स्थान में धर्मकथा करते हुए समय बिताना चाहिये। भोजन, पानी और माला आदि उपभोग हैं तथा बिछौना, चारपाई और वस्त्राभूषण आदि परिभोग हैं। इनका निरन्तर आवश्यकता को कम करते हुए परिमाण करते रहना उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत है। इस व्रत में केवल उपभोग-परिभोग की वस्तुऐं बदलती रहती हैं पर होता है यह जीवन भर के लिये। जीवन का ऐसा एक भी क्षण नहीं होता जब यह व्रत न हो। इस व्रत के धारी को ऐसी बहुतसी वस्तुऐं हैं जिनका वह सदा के लिये त्याग कर देता है। उदाहरणार्थ—वह मधु, मांस और मद्य का कभी

भी सेवन नहीं करता, क्योंकि इनके निमित्त से त्रस जीवों का घात होता है। इसी प्रकार वह केतकी के फूल और अदरख, आलू व मूली आदि का भी सेवन नहीं करता, क्योंकि वे अनन्तकाय होते हैं अर्थात् इनमें एक एक शरीर के आश्रय से अनन्तानन्त निगोदिया जीव निवास करते हैं। इसी प्रकार और भी अशुचि पदार्थ जैसे गोमूत्र आदि उनका भी सेवन उसे नहीं करना चाहिये। वर्तमान काल में जो विदेशी दवायें होती हैं जिनके निर्माण का ठीक तरह से पता नहीं चलता और जिनमें अशुचि पदार्थों के रहने की सम्भावना रहती है या जो पेय हैं उनका सेवन करना भी इसके लिये निषिद्ध है। अपने द्वारा न्याय से कमाये गये द्रव्य में से संयम का उपकारी भोजन व दवाई आदि का भक्तिभावपूर्वक सुपात्र को देना अतिथिसंविभाग व्रत है। उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से सुपात्र तीन प्रकार के हैं। उत्तम सुपात्र मुनि हैं, मध्यम सुपात्र व्रती गृहस्थ हैं और जघन्य सुपात्र अव्रती श्रावक हैं। यद्यपि वर्तमान काल में दान की बहुतसी परम्परायें प्रचलित हो रही हैं तथापि सुपात्र को श्रद्धापूर्वक आहार देने की परम्परा प्रायः शिथिलसी होती जा रही है। अब तो किसी भी गाँव में अव्रती श्रावक की बात जाने दीजिये व्रती श्रावक के आ जाने पर भी उसको आहार के लिये घर घर घूमना पड़ता है। उसमें भी बड़ी कठिनाई से कोई श्रावक आहार कराने के लिये उद्यत होता है। इसके दो कारण हैं, एक तो लोग त्याग-धर्म के महत्त्व को भूलते जा रहे हैं। दूसरे जो त्यागधर्म के सम्मुख होते हैं उनमें भी बहुत कुछ त्रुटियाँ प्रविष्ट हो चुकी हैं जिससे गृहस्थों की उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। वस्तुतः इन दोनों में संशोधन की आवश्यकता है और समय रहते इस विषय पर ध्यान जाना चाहिये, अन्यथा इस परम्परा के शिथिल हो जाने से व्रती जनों की परम्परा ही समाप्त हो जाने की सम्भावना है। वास्तव में देखा जाय तो धर्मतत्त्व सदाचार में ही

समाया हुआ है तत्त्वज्ञान तो उसका पोषक भाग है। इसलिये सदाचार को स्थिर रखने के लिये अतिथिसंविभागव्रत के पालन करने पर दृढ़ता से जोर देना आवश्यक है। इन चार व्रतों से त्यागधर्म की शिक्षा मिलती है इसलिये ये शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

जब कोई अव्रती श्रावक व्रती होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे इन बारह व्रतों का स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। न्यूनाधिक प्रमाण में इन बारह व्रतों का या इनके सहकारी अन्य व्रतों का पालन करनेवाला गृहस्थ व्रती श्रावक कहलाता है। इस प्रकार व्रतों के साथ जीवन व्यतीत करता हुआ जो श्रावक समाधिपूर्वक मरना चाहता है वह जीवन के अन्तिम समय में सल्लेखना व्रत को धारण करता है। भले प्रकार से काय और कषाय का कृश करना सल्लेखना है। जीवन के अन्त में जब यह प्राणी देखता है कि मेरी यह पर्याय छूटनेवाली है तो वह उससे तथा अपने दूसरे परिकरों से अपना राग घटाने का प्रयत्न करता है पर यह बात यों ही सहज साध्य नहीं है किन्तु इसके लिये बड़े भारी प्रयत्न की आवश्यकता है। इसके लिये इसे कुटुम्ब आदि से ममत्व घटाकर अन्त में देह, आहार और ईहित का त्याग करते हुए आत्मध्यान में अपने को जुटाना पड़ता है तब कहीं समाधिपूर्वक मरण प्राप्त होता है। यह व्रत मरण से पूर्व मरण तक लिया जाता है इसलिये इसको मारणान्तिकी सल्लेखना कहते हैं। यह व्रत मुनि और श्रावक दोनों के लिये बतलाया है। प्रकृत में गृहस्थधर्म का प्रकरण होने से उन्हें इसका आराधक बतलाया गया है।

शङ्का—इस व्रत का धारी व्यक्ति क्रम से आहार पानी का त्याग करके शरीर का विसर्जन करता है, यह तो स्ववध ही है और स्ववध तथा स्वहिंसा में कोई अन्तर नहीं, इसलिये इसे व्रत मानना उचित नहीं है?

समाधान—राग, द्वेष या मोहवश विष, शस्त्रादि द्वारा अपना नाश करना स्ववध है। यह बात सल्लेखना में नहीं देखी जाती इसलिये इसे स्ववध मानना उचित नहीं है। सल्लेखना व्रत तभी लिया जाता है जब लेनेवाला अन्य कारणों से निकट भविष्य में अपने जीवन का अन्त समझ लेता है। जैसे व्यापारी अपने माल की हर प्रकार से रक्षा करता है और उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जाने पर वह उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वह सबकी रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाता है तो उसमें जो बहुमूल्य वस्तु होती है उसकी सर्वप्रथम रक्षा करता है इसी प्रकार गृहस्थ भी व्रत और शील के समुचित रीति से पालन करने के लिये शरीर का नाश नहीं करना चाहता। यदा कदाचित् शरीर के विनाश के कारण उपस्थित हो जाने पर वह उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वह देखता है कि मैं शरीर की रक्षा नहीं कर सकता तो वह अपने आत्मा की उत्तम प्रकार से रक्षा करते हुए अर्थात् आत्मा को राग, द्वेष और मोह से बचाते हुए शरीर का त्याग करता है इसलिये इस सल्लेखना व्रत को स्वहिंसा नहीं माना जा सकता।

शंका—जलसमाधि, अग्निपात आदि अनेक प्रथायें अन्य सम्प्रदायों में प्रचलित हैं उनमें और सल्लेखना में क्या अन्तर है?

समाधान—जब यह निश्चय हो जाता है कि मेरा मरण अतिनिकट है तब सल्लेखना व्रत लिया जाता है सो भी वह शरीरादि बाह्य पदार्थों से राग, द्वेष और मोह को कम करने के लिये ही लिया जाता है, कुछ अकाल में मरने के लिये नहीं, किन्तु यह बात जलसमाधि और अग्निपात आदि प्रथाओं में नहीं देखी जाती इसलिये उनमें और सल्लेखना में बड़ा अन्तर है। सल्लेखना स्पष्टतः आत्मशुद्धिका एक प्रकार है जब कि जलसमाधि आदि स्पष्टतः आत्मघात हैं। माना कि जलसमाधि आदि में अर्पण की भावना काम करती है पर यह क्षणिक उद्वेग होने से एक तो अन्त

तक टिकती नहीं और दूसरे जिसे यह अर्पण किया जाता है, उपकारक रूप से उसका सत्य जगत में कोई स्थान नहीं, इसलिये जलसमाधि आदि प्रकार मूलतः ही सदोष हैं ऐसा मान लेना चाहिये।

अन्तिम सूत्र का तात्पर्य यह है कि जब जीवन का निकट मालूम हो तभी धर्म और आवश्यक कर्तव्यों की रक्षा के लिये तथा बाह्य पदार्थों से ममता घटाने के लिये सल्लेखना व्रत लिया जाता है। इस व्रत को पालते हुए दुर्ध्यान न होने पावे इसका पूरा ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि दुर्ध्यान से मरना ही आत्मघात है किन्तु सल्लेखना व्रत आत्मघात से प्राणी की रक्षा करता है ॥ २०-२२

सम्यग्दर्शन के अतिचार—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

शंका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतीचार हैं।

जिससे व्रत का नाश न होकर व्रत में दोष लगे अर्थात् जिस कारण से व्रत मलिन हो उसे अतीचार कहते हैं। ऐसा कोई गुण या व्रत नहीं जो सदाकाल एकसा उज्ज्वल बना रहे। बाह्य निमित्त और परिणामों की निर्मलता और अनिर्मलता के कारण गुण या व्रत में भी निर्मलता और अनिर्मलता उत्पन्न हुआ करती है। यहाँ उत्पन्न हुई यही अनिर्मलता ही अतीचार हैं। अतीचार का अर्थ है एकदेश व्रत का भंग। यहाँ सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन के अतीचार बतलाये हैं, क्योंकि इस गुण के सद्भाव में ही और सब व्रत नियमों का प्राप्त होना सम्भव है। वे अतीचार पाँच हैं जिनका खुलासा इस प्रकार है—

१—धर्म में दीक्षित होने के बाद उसके मूल आधार भूत सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में शंका करना कि 'इनका स्वरूप

इस प्रकार है या नहीं' शङ्का अतीचार है। ऐसे जीव के धर्म के त्यागने की तो इच्छा नहीं होती बल्कि उसके स्वीकार करे रहने में अनेक गुण दिखाई देते हैं, इसलिये तो सम्यग्दर्शन का मूलोच्छेद नहीं हुआ किन्तु धर्म के जो मूलाधार हैं उनके विषय में शंका उत्पन्न हो गई, इसलिये यह सम्यग्दर्शन का शंका नाम का अतीचार हुआ। यद्यपि तत्त्वज्ञान में परीक्षा द्वारा किसी वस्तु के निर्णय करने का पूरा अवसर है तथापि केवल युक्तिद्वारा ही प्रत्येक वस्तु के निर्णय करने का प्रयत्न करना और अनुभव तथा आगम को प्रधानता न देना इष्ट नहीं यह इसका तात्पर्य है। साधक प्रत्येक पदार्थ के निर्णय में तर्कका सहारा तो लेता ही है पर जो पदार्थ केवल श्रद्धागम्य हैं वहाँ वह तर्क को प्रमुखता नहीं देता किन्तु श्रद्धा के आधार से जीवन के निर्माण में लग जाता है। फिर इसे उद्दिष्ट पथ से भ्रष्ट करनेवाला किसी का भय नहीं रहता। वह निर्भय होकर अपने सुनिश्चित मार्ग पर अग्रेसर होता जाता है।

२—ऐहिक और पारलौकिक विषयों की अभिलाषा करना कांक्षा अतीचार है। यद्यपि धर्म का मुख्यफल आत्मशुद्धि है और धर्म का सेवन करते हुए साधक की दृष्टि सदा इसी पर रहनी चाहिये, किन्तु धर्माचरण करते हुए उससे सांसारिक विषयों की वांछा करना उद्देश्य भ्रष्ट होना है, इसलिये सम्यग्दर्शन का दूसरा अतीचार कांक्षा माना गया है।

३—विचिकित्सा का अर्थ कुचोद्य करना है। मतभेद या विचारभेद का प्रसंग उपस्थित होने पर आगम प्रमाण के आधार से बुद्धिगम्य या तर्कसिद्ध बात को न मानकर अपनी जिद पर कायम रहना और उत्तरोत्तर कुचोद्य करते जाना विचिकित्सा है। या आप्त, आगम, पदार्थ और संयमके आधार के विषयमें जुगुप्सा करना विचिकित्सा है। इस दोष के कारण उत्तरोत्तर असत्य का आग्रह बढ़ता जाता है और

अन्त में उसके पथभ्रष्ट होने की भी सम्भावना रहती है इसलिये इसे सम्यग्दर्शन का अतीचार बतलाया है।

४–५—जिनकी दृष्टि आर्हत तत्त्वज्ञान पर स्थिर नहीं रहती या उससे विपरीत मार्ग का अनुसरण करती है उनकी प्रशंसा करना अन्य दृष्टि प्रशंसा है और उनकी या उनके सद्भूत और असद्भूत गुणों की स्तुति करना अन्यदृष्टिसंस्तव है। ऐसा करने से कदाचित् साधक अपने मार्ग से स्खलित होकर अन्य मार्गका अनुसरण करने लगता है, इसलिये ये दोनों सम्यग्दर्शन के अतीचार बतलाये गये हैं। तात्पर्य यह है कि धार्मिकता या मोक्षमार्ग की दृष्टि से अन्य की प्रशंसा और स्तुति करना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा करने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतीचार हैं, सम्यग्दृष्टि के लिये जिनका त्याग करना आवश्यक है।

शंका—प्रशंसा और संस्तव में क्या अन्तर है ?

समाधान—प्रशंसा मन से की जाती है और स्तुति बचन से यही इन दोनों में अन्तर है॥ २३॥

व्रत और शील के अतीचारों की संख्या और क्रम से उनका निर्देश—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्॥ २४॥

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः॥ २५॥

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकार-मन्त्रभेदाः॥ २६॥

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानो-न्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः॥ २७॥

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः ॥ २९ ॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थ-क्यानि ॥ ३२ ॥

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्य-नुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।३६।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

व्रतों और शीलों में पाँच पाँच अतीचार होते हैं जो क्रम से इस प्रकार हैं—

बन्ध, वध, छेद, अतिभार का आरोपण और अन्नपान का निरोध ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतीचार हैं।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये सत्याणुव्रत के पाँच अतीचार हैं।

स्तेनप्रयोग, स्तेन-आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतीचार हैं।

परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतीचार हैं।

क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी और दास के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य के प्रमाण का अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतीचार हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिव्रत के पाँच अतीचार हैं।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरतिव्रत के पाँच अतीचार हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डविरतिव्रत के पाँच अतीचार हैं।

कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये सामायिक व्रत के पाँच अतीचार हैं।

अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतीचार हैं।

सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिषव आहार और दुष्पक्वाहार ये उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतीचार हैं।

सचित्त-निक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतीचार हैं।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये मारणान्तिक सल्लेखना के पाँच अतीचार हैं।

अभिप्रायपूर्वक लिये गये नियम को व्रत कहते हैं। यद्यपि व्रत का यह लक्षण श्रावक के सभी व्रतों में पाया जाता है तथापि अहिंसा आदि पाँच को व्रत और दिग्विरति आदि सात को शील कहने का कारण यह है कि अहिंसा आदि पाँच मूलभूत व्रत हैं इसलिये ये व्रत शब्द द्वारा कहे गये हैं और दिग्विरति आदि सात इन व्रतों की रक्षा के लिये हैं इसलिये ये शील शब्द द्वारा कहे गये हैं। यहाँ इन सभी व्रतों और शीलों के पाँच पाँच अतीचार गिनाये हैं। अतीचार यद्यपि न्यूनाधिक भी हो सकते हैं तथापि मध्यम परिमाण की दृष्टि से सब के पाँच पाँच अतीचार बतलाये हैं जिनका खुलासा इस प्रकार है—

अहिंसाणुव्रत के अतीचार

किसी भी प्राणी को इस प्रकार बाँधकर या रोककर रखना जिससे वह अभिमत देश में न जा सके बन्ध है। डण्डा, चाबुक या बेत आदि से प्रहार करना वध है। कान, नाक आदि अवयवों का छेदना छेद है। शक्ति और मर्यादा का विचार न करके अधिक बोझा लादना अतिभारारोपण है। खानपान में रुकावट डालना या समय पर न देना अन्नपाननिरोध है। अहिंसाणुव्रतधारी श्रावक को इन दोषों से सदा बचते रहना चाहिये, क्योंकि इन दोषों के सेवन करने से अहिंसाणुव्रत मलिन होता है। यदा कदाचित् कर्तव्यवश इनका सेवन करना भी पड़े तो कोमल भाव से काम लेना चाहिये, दुर्भाव से तो इनका कभी भी सेवन न करे।

सत्याणुव्रत के अतीचार

सन्मार्ग में लगे हुए किसी को भ्रमवश अन्य मार्ग पर ले जाने का उपदेश करना मिथ्योपदेश है। जैसे किसी ने आलू आदि जमीकन्द खाने का त्याग कर रखा है पर उसे यह समझा कर कि आलू आदि अनन्तकाय नहीं हैं, उनके खाने में पुनः प्रवृत्त करना मिथ्योपदेश है। यदि ऐसा उपदेश नासमझी से दिया जाता है तो वह अतीचार है और जानबूझ कर

दिया जाता है तो अनाचार है। झूठी गवाही देना या दूसरे का अपवाद करना यह सब भी मिथ्योपदेश ही है। सत्याणुव्रती को इसका भी त्याग करना चाहिये। गुप्त बात का प्रकट करना रहोऽभ्याख्यान है। जैसे किसी स्त्री पुरुष द्वारा एकान्त में किये गये आचरण विशेष का प्रकट कर देना रहोऽभ्याख्यान है। यद्यपि दूसरे ने कुछ नहीं कहा है तथापि अन्य किसी की प्रेरणा से 'उसने ऐसा कहा या किया है' इस प्रकार झूठा लेख करना कूटलेखक्रिया है। कोई धरोहर रख कर भूल गया तो उसकी इस भूल का लाभ उठा कर धरोहर के भूले हुये अंश को हजम करने के उद्देश्य से कहना कि हाँ जितनी धरोहर तुम बोल रहे हो उतनी ही रखी थी न्यासापहार है। चेष्टा आदि द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसका प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतीचार हैं क्योंकि ऐसा करने से सत्यव्रत मलिन होता है।

अचौर्याणुव्रत के अतीचार

चोरी करने के लिये किसी को स्वयं प्रेरित करना, दूसरे से प्रेरणा कराना या ऐसे कार्य में सम्मत रहना स्तेनप्रयोग है। अपनी प्रेरणा या सम्मति के बिना किसी के द्वारा चोरी करके लाई हुई द्रव्य का ले लेना स्तेन आहृतादान है। राज्य में विप्लव होने पर हीनाधिक मान से वस्तुओं का आदान प्रदान करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। उदाहरणार्थ-युद्धकाल में या उसके बाद अब जो ब्लेक मार्केट चल रहा है यह सब विरुद्ध राज्यातिक्रम है। इसी प्रकार राज्य नियमों का उल्लंघन करके जो वस्तुओं का आदान-प्रदान किया जाता है या मुनाफा करके भय से मुनाफा आदि छिपाया जाता है वह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है। मापने या तौलने के न्यूनाधिक बाँटों से देन लेन करना हीनाधिक मानोन्मान है। तथा असली के बदले नकली वस्तु चलाना या असली में नकली वस्तु मिलाकर उसका चलन चालू करना प्रतिरूपकव्यवहार

है। आजकल नकली मोती, नकली घी आदि बहुत सी वस्तुएँ चल पड़ी हैं। इन्हें असली कह कर बेचना या असली में मिला कर बेचना प्रतिरूपकव्यवहार का उदाहरण है। ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतीचार हैं क्योंकि इनसे चौर्यकर्म को प्रोत्साहन मिलता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार

जिनका विवाह करना अपने गृहस्थ कर्तव्य में सम्मिलित नहीं है उनका स्नेहवश विवाह करना परविवाहकरण है। जिसका पति मौजूद है किन्तु जो पुंश्चली है उसका (नियत काल तक स्वस्त्री मान कर) सेवन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है। जो वेश्या है या जो अनाथ होती हुई पुंश्चली है उसका (नियत काल तक स्वस्त्री मान कर) सेवन करना इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन है। काम के अङ्ग योनि और लिङ्ग हैं इनके सिवा अन्य अङ्गों से क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। ऐसा करना अस्वाभाविक और सृष्टि विरुद्ध होने से सर्वथा वर्ज्य है। कामविषयक अतिशय परिणामों का होना, उसके सिवा अन्य कार्यों का नहीं रुचना कामतीव्राभिनिवेश है। वर्तमान काल में जो नाटक सिनेमा आदि में अतिशय आसक्ति देखी जाती है वह कामविषयक तीव्र अभिलाषा का ही परिणाम है। इससे ब्रह्मचर्य को गहरा धक्का लग कर जनता के स्वास्थ्य और सौन्दर्य की गहरी हानि हो रही है और उत्तरोत्तर असदाचार की वृद्धि में सहायता मिलती है। ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जो शिक्षा की दृष्टि से सिनेमा देखने जाते हैं। या सिनेमा भी ऐसे बहुत ही कम रहते हैं जो शिक्षा की दृष्टि से दिखलाये जाते हैं। अधिकतर सिनेमाओं का प्रयोजन चित्त को विचलित करना रहता है। इससे जनता अन्धी होकर पतङ्गों की तरह उनके जाल में फसती रहती है। इससे देश की जो हानि हो रही है वह अवर्णनीय है। प्रत्येक सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह स्वयं को व अपने बाल-बच्चों को इस असत् प्रवृत्ति से रोके।

परिग्रहपरिमाणव्रत के अतीचार

जो जमीन खेती बाड़ी के काम आती है वह क्षेत्र कहलाती है और घर आदि को वास्तु कहते हैं। इनका जितना प्रमाण निश्चित किया हो लोभ में आकर उस प्रमाण का उल्लंघन करना क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम है। उदाहरणार्थ—किसी ने एक खेत और एक मकान का नियम लिया है। किन्तु कालान्तर में खेत के पास दूसरा खेत और मकान के पास दूसरा मकान मिल गया तो दोनों खेतों के बीच की मेढ़ और दोनों मकानों के बीच की भीत को तोड़कर उनकी संख्या एक एक कर लेना क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम है। व्रत लेते समय चाँदी और सोने का जो प्रमाण निश्चित किया हो उसका उल्लंघन करना हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम है। उदाहरणार्थ—किसी ने वर्तमान में मौजूद चाँदी के बीस गहने और सोने के दस गहने रखने का नियम लिया किन्तु कालान्तर में अतिरिक्त चाँदी व सोना के मिल जाने पर उसे उन गहनों में ढलवाते जाना या जब तक चाँदी और सोना अधिक हो तब तक उसे धरोहर के रूप में या इष्ट मित्रों के यहाँ रख आना हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम है। गाय, भैंस आदि पशु धन और चावल, गेहूँ आदि धान्य इनके स्वकृत प्रमाण का उल्लंघन करना धनधान्यप्रमाणातिक्रम है। उदाहरणार्थ—किसी ने पाँच गाय रखने का नियम लिया और उसके पास पाँच गाय हैं भी किन्तु उनके गर्भ रह जाने पर उन्हें उसी प्रकार रखे रहना धनप्रमाणातिक्रम है। इसी प्रकार धान्य के प्रमाण के अधिक हो जाने पर अधिक धान्य को अपने यहाँ न रखकर उसे अन्य के यहाँ ही रहने देना धान्यप्रमाणातिक्रम है। पूर्वकाल में भारत वर्ष में भी दासी दास की प्रथा प्रचलित थी और जो जितने अधिक दासी दास रखता था वह उतना ही बड़ा आदमी समझा जाता था। वह प्रथा बहुत कुछ अंश में बन्द होकर नौकर चाकर रखने की पद्धति चालू हुई है। दासी-दास अपनी जायदाद समझे जाते थे किन्तु नौकर

चाकर जायदाद में परिगणित नहीं किये जाते, अतः वर्तमान काल के अनुसार दासीदासप्रमाणातिक्रम का अर्थ यह होता है कि जिसके यहाँ जितने नौकर चाकर हों उनकी संख्या बढ़ाने की भावना रखना और उनके साथ मानवोचित व्यवहार न कर उन्हें अपनी जायदाद समझना दासीदासप्रमाणातिक्रम है। वस्त्रों और बर्तनों आदि का प्रमाण निश्चित करके मिला कर उसके प्रमाण का उल्लंघन करना कुप्य-प्रमाणातिक्रम है। ये परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतीचार हैं।

ऊपर कितना जायँगे इसका प्रमाण निश्चित करने के बाद पर्वत पर चढ़कर या विमान आदि की सवारी द्वारा लोभादिवश उस प्रमाण का उल्लंघन करना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है। इसी प्रकार नीचे, बावड़ी, कूप और खदान आदि में जाने और तिरछे बिल आदि में जाने का प्रमाण निश्चित करके लोभादिवश उसका उल्लंघन करना क्रमशः अधोव्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम है। चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में जाने का अमुक प्रमाण निश्चित किया परन्तु किसी एक दिशा में मर्यादा के बाहर जाने का प्रसंग उपस्थित होने पर उस दिशा में मर्यादा के बाहर चला जाना और दूसरी दिशा में उतना ही कम जाने का प्रमाण रखना क्षेत्रवृद्धि है। तथा निश्चित की हुई क्षेत्र की मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है। ये पाँच दिग्विरति व्रत के अतीचार हैं।

दिग्विरति वृत के अतीचार

स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर दूसरे व्यक्ति से 'अमुक वस्तु ले आओ' यह कह कर मर्यादा के बाहर से किसी वस्तु को बुलाना आनयन है। मर्यादा के बाहर न स्वयं जाना और न दूसरे को भेजना किन्तु नौकर आदि को आज्ञा देकर वहाँ बैठे बिठाए काम करा लेना प्रेष्यप्रयोग है। यदि मर्यादा के बाहर स्थित किसी व्यक्ति से काम लेना हो तो खाँसना, ताली पीटना और चुटकी बजाना आदि शब्दानुपात है। इसी प्रकार

देशविरति वृत के अतीचार

शब्द बिना बोले उक्त प्रयोजनवश केवल आकृति दिखाकर संकेत करना रूपानुपात है। तथा मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को अपने पास बुलाने के लिये या उससे कोई काम लेने के लिये मर्यादा के बाहर कंकड़, ढेला आदि फेंकना पुद्गलक्षेप है। ये देशविरति व्रत के पाँच अतीचार हैं।

शंका—पीछे जो दिग्विरति व्रत के अतीचार बतला आये हैं वे देश-विरतिव्रत में भी सम्भव हैं और इसी प्रकार जो देशविरति व्रत के अतीचार बतलाये गये हैं वे दिग्विरतिव्रत में भी सम्भव हैं। फिर इन दोनों व्रतों के अतीचार भिन्न भिन्न प्रकार से क्यों बतलाये गये हैं ?

समाधान—दिग्विरतिव्रत सार्वकालिक होता है और देशविरति व्रत सार्वकालिक होकर भी समय समय पर बदलता रहता है। इस-लिये दिग्विरतिव्रत में क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन प्रायः अज्ञानवश या विस्मृतिवश होता है किन्तु देशविरतिव्रत में ऐसी विस्मृति या अज्ञान बहुत ही कम सम्भव है। यहाँ अधिकतर लोभ या स्नेहवश व्रती श्रावक क्षेत्र की मर्यादा का गमनागमन द्वारा स्वयं उल्लंघन न करके मर्यादा के बाहर से काम निकालना चाहता है। यही कारण है कि इन दोनों शीलों के अतीचार भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलाये गये हैं।

रागवश परिहास के साथ असभ्य भाषण करना कन्दर्प है। परि-हास व असभ्य भाषण के साथ ही साथ दूसरे को लक्ष्य करके शारी-रिक कुचेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है। धृष्टता से बिना प्रयोजन के बहुत प्रलाप करना मौखर्य है। अपनी आवश्यकता का विचार न करके अधिक कार्य करना असमीक्ष्याधिकरण है। जितने से भोगोपभोग का काम चल जाय उससे अधिक वस्त्र, आभूषण और ताम्बूल आदि रखना व उनका व्यय करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है। ये अनर्थदण्डविरतिव्रत के पाँच अतीचार हैं।

अनर्थदण्ड विरति-वृत के अतीचार

सामायिक करते समय हाथ, पैर आदि शरीर के अवयवों को

निश्चल न रखकर व्यर्थ ही चलाते रहना, नींद का झोका लेना, कभी कमर को सीधी करना और कभी झुका देना तथा कभी आँखों का खोलना और कभी बन्द करना आदि कायदुष्प्रणिधान है। सामायिक करते समय गुनगुनाने लगना आदि वचनदुष्प्रणिधान है। इसी प्रकार मनमें अन्य विकल्प ले आना, किसी का भला-बुरा विचारने लगना, मन को घर गृहस्थी के काम में फसा रखना मनोदुष्प्रणिधान है। सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् सामायिक का समय होने पर भी उसमें प्रवृत्त न होना या ज्यों त्यों कर सामायिक को पूरा करना अनादर है। एकाग्रता न होने से सामायिक की स्मृति न रहना स्मृत्यनुपस्थान है। ये सामायिक व्रत के पाँच अतीचार हैं।

सामायिकवृत के अतीचार

जीव जन्तु को बिना देखे और कोमल उपकरण से बिना प्रमार्जन किये ही मल, मूत्र और श्लेष्म आदि का जहाँ तहाँ त्यागना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है। बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही पूजा के उपकरण, सुगन्ध, और धूप आदि वस्तुओं का लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही भूमि पर संथारा—चटाई आदि बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण है। क्षुधा आदि से पीड़ित होने के कारण प्रोषधोपवास में या तत्सम्बन्धी आवश्यक कार्यों में उत्साह भाव न रहना अनादर है। तथा प्रोषधोवास करने के समय चित्त की चंचलता का होना स्मृत्यनुपस्थान है। ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतीचार हैं।

प्रोषधोपवास वृत के अतीचार

आटा आदि की जो मर्यादा बतलाई है उसके बाद वह सचित्त हो जाता है तथापि 'अभी वह अचित्त ही है' ऐसा मानकर उस अमर्यादित वस्तु का भोजन में उपयोग करना सचित्ताहार है। जिस अचित्त वस्तु का उपर्युक्त सचित्त वस्तु से सम्बन्ध हो गया हो उसका भोजन

में उपयोग करना सचित्तसम्बन्धाहार है। चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं से मिश्रित भोजन का आहार करना सचित्तसंमिश्राहार है। इन सचित्त आदि भोजनों में व्रती श्रावक की प्रवृत्ति प्रमाद और मोहवश होती है और इसीलिये ये अतिचारों में परिगणित किये गये हैं। आसव और अरिष्ट आदि मदजनक द्रव पदार्थों का और गरिष्ठ पदार्थों का सेवन करना अभिषवाहार है। अधपके, अधिक पके, ठीक तरह से नहीं पके हुए या जले भुने हुए भोजन का सेवन करना दुष्पक्वाहार है। ये उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत के पाँच अतीचार हैं।

उपभोगपरिभोगव्रत के अतीचार

शंका—उपभोग परिभोग में केवल भोजन सम्बन्धी पदार्थों का ग्रहण न होकर सवारी, वस्त्र, ताम्बूल, आभूषण आदि बहुत से पदार्थों का ग्रहण होता है फिर यहाँ केवल वे ही अतीचार क्यों गिनाये जिनका सम्बन्ध केवल भोजन से है?

समाधान—उपभोग परिभोग में भोजन मुख्य है और अधिकतर गड़बड़ी भोजन में ही देखी जाती है, इसलिये यहाँ भोजन की प्रमुखता से अतीचार बतलाये हैं। वैसे तो जिन जिन दोषों से व्रत के दूषित होने की सम्भावना हो वे सभी अतीचार हैं।

खान पान की वस्तु संयत के काम न आ सके इस बुद्धि से उसे सचित्त पृथिवी, जल या वनस्पति के पत्तों पर रख देना सचित्तनिक्षेप है। इसी प्रकार खान पान के योग्य वस्तु को सचित्त कमल पत्र आदि से ढक देना ताकि उसे संयत न ले सके सचित्तापिधान है। अपनी देय वस्तु को 'यह अन्य की है' ऐसा कह कर अर्पण करना परव्यपदेश है। दान देते हुए भी आदर भाव न रखना अथवा अन्य दाता के गुणों को न सह सकना मात्सर्य है। अतिथि को भोजन न कराना पड़े इस बुद्धि से भिक्षा के समय को टाल कर भोजन करना कालातिक्रम है। ये अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतीचार हैं।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतीचार

पूजा संस्कार और वैयावृत्य आदि देखकर जीने की चाह करना जीविताशंसा है। पूजा सत्कार और सेवा शुश्रूषा होती हुई न देखकर जल्दी से मरने की चाह करना मरणाशंसा है। ये हमारे बाल्यकाल के मित्र हैं, विपत् पड़ने पर इन्होंने हमारी बड़ी सेवा की थी इस प्रकार पुनः पुनः मित्रों का स्मरण करके उनके प्रति अनुराग रखना मित्रानुराग है। पहले भोगे गये सुखों का पुनः पुनः स्मरण कर उन्हें ताजा करना सुखानुबन्ध है। तपश्चर्या का फल भोग के रूप में चाहना निदान है। ये सल्लेखना व्रत के पाँच अतीचार हैं।

सल्लेखना वृत के अतीचार

ये ऊपर अहिंसाणुव्रत आदि व्रतों के जो भी अतीचार बतलाये हैं वे यथासम्भव अज्ञान, असावधानी और मोहवश यदि होते हैं तो अतीचार हैं और यदि जान बूझकर किये जाते हैं तो अनाचार हैं। तात्पर्य यह है कि अतीचार को अतीचार समझकर करना अनाचार है और कारणवश उनका हो जाना अतीचार है ॥ २४–३७ ॥

दान का स्वरूप और उसकी विशेषता—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से उसकी अर्थात् दान की विशेषता है।

स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, घर, धन, दौलत आदि सब मुझसे भिन्न हैं, तत्त्वतः मैं इनका स्वामी भी नहीं हूँ। यह सब नदी नाव का संयोग है। न तो कोई साथ में आया है और न कोई साथ में जायगा ये या इसी प्रकार के विचार सुनने को तो बहुत मिलते हैं। इसी प्रकार अपने पुत्रादिक के लिये सर्वस्व का त्याग करते हुए भी प्राणी देखे जाते हैं पर ऐसे

प्राणी विरले हैं जो इनमें मोह को संसार का कारण जानकर इनका त्याग करने की इच्छा से ऐसा उद्यम करते हैं जिससे इनका उपयोग मोक्षमार्ग के निमित्त रूप से किया जा सके। सच पूछा जाय तो त्याग-धर्म जीवन के समग्र सद्गुणों का मूल है। गृहस्थ अपने जीवन में जितने ही अच्छे ढंग से इसका उपयोग करता है मानवमात्र में सदाचार की उतनी ही वृद्धि होती है। यद्यपि इससे आत्मीक गुणों का विकाश तो होता ही है पर धर्म मर्यादा को बनाये रखना भी इसका फल है। गृहस्थ न्याय पूर्वक अपनी आवश्यकतानुसार जो कुछ कमाता है उसमें से सद्गुणों की प्रवृत्ति चालू रखने के लिये कुछ हिस्सा खर्च करना दान है, इससे दान देनेवाले और दान लेनेवाले दोनों का हित साधन होता है। दान देनेवाले का हितसाधन तो यह है कि इससे उसकी लोभवृत्ति कम होती है और आत्मा त्याग की ओर झुकता है तथा दान लेनेवाले का हितसाधन यह है कि इससे जीवन यात्रा में मदद मिलती है जिससे वह भले प्रकार आत्म कल्याण कर सकता है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा हितसाधन मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को चालू रखना है। यह वर्तमान व्यवस्था के रहते हुए दान के बिना सम्भव नहीं है इसलिये जीवन में दान का बड़ा महत्त्व है।

अनुग्रह शब्द उपकारवाची है और स्व शब्द धनवाची है। शरीर के रहते हुए उसके भरण पोषण के लिये बाह्य पदार्थों का सहयोग लेना आवश्यक है। बिना आहार पानी के शरीर चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकता इसलिये जो स्वावलम्बन पूर्वक जीवन यापन करने का निर्णय करते हैं, भोजन पान की आवश्यकता तो उनको भी पड़ती है। उसके बिना उनके शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता। इसी से जीवन में दान का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। दान केवल पर की उपकार बुद्धि से नहीं दिया जाता है। इसमें स्वोपकार का भाव मुख्य रहता है। ऐसे बहुत ही कम मनुष्य हैं जो न्याय की उचित

मर्यादा को जानते हों। न्याय का अर्थ केवल कानून का उल्लंघन नहीं करना या तत्काल चालू रूढिको पालना नहीं है। उसका वास्तविक अर्थ है आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं करना। जो लौकिक सभी प्रकार की मर्यादाओं का यथावत् पालन करता हुआ भी आवश्यकता से अधिक का संचय करता है उसकी वृत्ति न्याय नहीं कही जा सकती है। धन कुछ स्वयं आकर नहीं चिपकता जिससे उसे पुण्य का फल कहा जाय। वह तो विविध मार्गों से प्राप्त किया जाता है, अतः धन के संचय करने में लोभ की अधिकता ही मुख्य कारण है और लोभ जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है, इसलिये जो संचित धन का त्याग करता है वह वास्तव में लोभ का ही त्याग करता है। यही कारण है कि दान को परोपकार के समान स्वोपकार का मुख्य साधन माना है।

वर्तमान समय में जो देते हैं वे ऐसा मानते हैं कि हमने बहुत बड़ा काम किया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह काम बहुत ही महत्त्व का है। पर इसका महत्त्व तब है जब देनेवाले के मन में अहङ्कार न हो। अहंबुद्धि के हो जाने पर देने पर भी दान का फल नहीं मिलता। तथ्य यह है कि देनेवाला कुछ देता ही नहीं, क्योंकि जो पर है उसमें वस्तुतः वह दान व्यवहार करने का अधिकारी ही नहीं। और जो स्व है उसका वह कभी भी त्याग नही कर सकता। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो अपना कुछ छोड़ता हो और दूसरे का कुछ लेता हो। फिर भी दानादान व्यवहार तो होता ही है सो इसका कारण केवल निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। यह हो सकता है कि यह सम्बन्ध जिस रूप में आज है कल न भी रहे।

यह तो हम प्रत्यक्ष से ही देखते हैं कि बहुत से देशों ने वर्तमान कालीन आर्थिक व्यवस्था का सर्वथा ध्वंस कर दिया है और वे इस बात पर तुले हुए हैं कि समूचे विश्व में यह आर्थिक व्यवस्था नहीं

रहने दी जायगी। भविष्य में क्या होगा यह तो विश्वासपूर्वक कह सकना कठिन है पर इतना निश्चित है कि मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर अधिकतर लोग पुरानी आर्थिक व्यवस्था से ऊब गये हैं वे इसमें परिवर्तन चाहते हैं।

देखना यह है कि आखिरकार ऐसा क्यों हो रहा है। बहुत कुछ विचार के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह सब मनुष्यों की वैयक्तिक कमजोरी का ही फल है। जहाँ सहयोग प्रणाली के आधार पर प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता मिली वहाँ वह अपने लोभ का संवरण नहीं कर सका। उसे इसका भान न रहा कि जीवन में अर्थ की आवश्यकता जिस प्रकार मुझे है उसी प्रकार दूसरे को भी है। मुझे उतना ही संचय करने का अधिकार है जितने की कि मुझे आवश्यकता है। इससे अधिक का संचय करना पाप है। जीवन में इस वृत्ति के जीवित न रहने के कारण ही आर्थिक दृष्टि से समाजवादी मनोवृत्ति को जन्म मिला है और अब तो यह वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में घर करती जा रही है। जो साधनहीन हैं वे तो पुरानी आर्थिक व्यवस्था में आये हुये दोष को समझ ही रहे हैं किन्तु जो साधन सम्पन्न हैं वे भी उसके इस दोष को समझ रहे हैं। फिर भी वे अपनी नियत में संशोधन करने के लिये तैयार नहीं हैं यही आश्चर्य की बात है। आगे जो होनेवाला होगा सो तो होगा ही। उसे कोई रोक नहीं सकता पर तत्काल केवल इस बात का विचार करना है कि मनुष्य का जीवन केवल अर्थ प्रधान बन जाने पर अध्यात्म जीवन की रक्षा कैसे की जा सकेगी? पूर्वकालीन ऋषियों ने अपने अनुभव के आधार पर यह उपदेश दिया था कि—

जीवन में यह मान कर चलना चाहिये कि अपने आत्मा के सिवा अन्य सब पदार्थ पर हैं। इसलिये सबसे मोह छोड़कर जिससे जीवन में पूर्ण स्वावलम्बन की वृत्ति जागृत हो ऐसे मार्ग पर स्वयं

चलना चाहिये और दूसरों को भी इसी मार्ग से ले जाने का प्रयत्न करना चाहिये। जीवन में पूर्ण स्वावलम्बनी वृत्ति का आ जाना ही मोक्ष है और इसे प्राप्त करने का मार्ग ही मोक्ष मार्ग है।

साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि यद्यपि सब मनुष्यों के जीवन में इस वृत्ति का जागृत होना कठिन है इसलिये जो मनुष्य पूर्ण रूप से इस वृत्ति को अपने जीवन में नहीं उतार सकते हैं उन्हें इतना अवश्य करना चाहिये कि वे एक तो आवश्यकता से अधिक का संचय न करें। दूसरे अपनी आवश्यकता के अनुसार संचित किये गये द्रव्य में से भी वे कुछ का त्याग करें और इस तरह अपनी आवश्यकताओं को कम करते हुए उत्तरोत्तर जीवन में स्वावलम्बन को उतारने का अभ्यास करें।

ग्रहण कर उसका त्याग करना इसकी अपेक्षा ग्रहण ही नहीं करना सर्वोत्तम माना गया है। अपरिग्रहवाद का भाव भी यही है। किन्तु वर्तमान में मनुष्य के जीवन में से इस वृत्ति का सर्वथा लोप हो गया है। दान को सामाजिक प्रतिष्ठा का स्थान मिल जाने से अब तो अधिकतर लोगों का भाव ऐसा भी देखा जाता है कि वे किसी भी मार्ग से धन संचय करते हैं और फिर उदारता का स्वांग करने के लिये उसमें से कुछ अंश उन कार्यों के लिये जिनसे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है दे देते हैं। यह अध्यात्मवाद को जीवित रखने का सही मार्ग नहीं है। सामाजिक न्याय को तो समाजवादी या कम्युनिष्ट भी स्वीकार करते हैं। चालू जीवन सबका सुखी बना रहे यह भला कौन नहीं चाहता? किन्तु अध्यात्मवाद इतना उथला नहीं है। उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। वह प्राणीमात्र का कल्याण किसी की कृपा के आधार पर नहीं स्वीकार करता और न ही वह ऐसा मानता है कि अन्य अन्य का किसी भी प्रकार भला बुरा कर सकता है। वह तो भीतर से जड़ चेतन सबकी स्वतन्त्रता स्वीकार करता है और इसलिये इस स्वतन्त्रता की जिन जिन मार्गों से रक्षा होती है उन्हें वह ग्राह्य मानता है। इसकी रक्षा का

प्रशस्त मार्ग तो यही है कि अन्य अन्य का अपने को स्वामी या कर्ता न माने। कदाचित् मोह, अज्ञान या रागवश वह ऐसा मानता भी है तो उसे इन भावों का त्याग करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। जब कोई व्यक्ति अन्य वस्तु का त्याग करता है तो उसमें यही भाव छिपा रहता है। इसलिये दान यह स्वोपकार का प्रमुख साधन माना गया है। इससे त्याग करनेवाले की आन्तरिक विकार परिणति का मोचन होता है। दान का यही स्वारस्य है। प्रकृत में जो दान का विधान किया गया है वह भी इसी भाव को ध्यान में रखकर किया गया है। इससे पर वस्तु का त्याग होकर व्यक्तिगत जीवन को स्वतन्त्र और निर्मल बनाने का अवसर मिलता है। समाजवाद और अध्यात्मवाद में मौलिक अन्तर यह है कि समाजवाद स्वेच्छा से त्याग की बात नहीं कहता जब कि अध्यात्मवाद स्वेच्छा से त्याग की ओर प्रवृत्त होता है। यदि विश्व को विपुल साधन उपलब्ध हो जाँय तो समाजवाद समविभागीकरण के आधार से उन्हें स्वीकार किये बिना नहीं रहेगा। तब वह मानेगा कि प्रत्येक व्यक्ति को इनको स्वीकार करने का अधिकार है। किन्तु अध्यात्मवाद ऐसे अधिकार को स्वीकर ही नहीं करता। पर वस्तु के स्वीकार को वह जीवन की सबसे बड़ी कमजोरी मानता है। व्यक्तिस्वातन्त्र्य की भावना और उसे कार्यान्वित करने की प्रवृत्ति यह अध्यात्मवाद की रीढ है। इसमें जीवन में आई हुई कमजोरी पर प्रमुखता से ध्यान दिया जाता है। दान उस कमजोरी को दूर करने का प्रमुख साधन है। इस द्वारा गृहस्थ त्याग का अभ्यास करता है और धीरे-धीरे जीवन में त्याग को प्रतिष्ठित करता जाता है। इसलिये जीवन में दान का बहुत बड़ा स्थान है। इससे सब प्रकार की सत्य प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। साधु की निर्विघ्नरीति से आत्म साधना में भी यह सहायक है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें उत्साहित होना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।

यद्यपि वर्तमान काल में उसकी तीव्र भर्त्सना की जाती है। अधिकतर लोगों का यह विश्वास होता जा रहा है कि दान एक प्रकार की लाँच है। हम कहते हैं कि यह दोष यद्यपि वर्तमान में पैदा हो गया है और इस दोष को दूर करने के लिये जो भी प्रयत्न किये जायँगे वे उपादेय हैं, पर दान के मूल में यह हेतु नहीं था इतना निश्चित है।

दान के मुख्य भेद चार किये जाते हैं—आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। दान के और जितने भी प्रकार हैं उन सबका अन्तर्भाव इनमें हो जाता है। आर्थिक व्यवस्था कुछ भी क्यों न हो पर जीवन में दान का स्थान सदा ही बना रहेगा इतना स्पष्ट है।

यद्यपि सभी दान एक हैं तथापि उनके फल में अन्तर देखा जाता है। जिसका मुख्य कारण विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता है। इनकी न्यूनाधिकता से दान के महत्त्व में न्यूनाधिकता आती है यह इस कथन का तात्पर्य है। अब इन चारों की विशेषता का खुलासा करते हैं—

विधि की विशेषता

पात्र के अनुसार प्रतिग्रह, उच्चस्थान, अंघ्रिक्षालन, अर्चा, आनति, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और अन्नशुद्धि इनके क्रम को भली प्रकार से जानकर आहार देना विधि की विशेषता है। इसमें देश-काल और लेनेवाले की शक्ति व प्रकृति आदि का ख्याल रखना अत्यन्त आवश्यक है।

द्रव्य की विशेषता

दी जानेवाली वस्तु कैसी है क्या है इत्यादि बातों का विचार द्रव्य की विशेषता में किया जाता है। आहार आदि देते समय इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जिसे आहार दिया जा रहा है उसका वह कहाँ तक उपकारक होगा। संयत और गृहत्यागी को गरिष्ठ और मादक आहार तो देना ही नहीं चाहिये। आहार ऐसा हो जिससे उसे अपने गुणों के विकाश करने में सहायता मिले।

भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, क्षमा और अलौल्य ये दाता के सात गुण हैं। जितने अंश में ये दाता में विद्यमान होंगे, उससे दाता का उतना ही लाभ है। इनके अतिरिक्त दाता में असूया या तिरस्कार का भाव न होना भी आवश्यक है। तथा दान देने के बाद विषाद न करना और अधिक जरूरी है, क्योंकि ऐसा करने से इसके निमित्त से तमाम संचित सद्गुणों का नाश हो जाता है।

दाता की विशेषता

पात्र के तीन भेद हैं उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम पात्र मुनि हैं। मध्यम पात्र श्रावक हैं और अव्रती सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इस प्रकार ये विधि, द्रव्य, दाता और पात्र हैं। ये जैसे होते हैं उनके अनुसार दान के फल में विशेषता आती है। कारण स्पष्ट है, इसलिये इन सबकी सम्हाल करना उचित है॥ ३८–३९॥

पात्र की विशेषता

आठवाँ अध्याय

आस्रव तत्त्व का वर्णन करने के बाद अब बन्ध तत्त्व का वर्णन किया जाता है—

बन्ध के हेतुओं का निर्देश—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के हेतु हैं।

वेदनाखण्ड में बन्धहेतुओं का विचार करते हुए यद्यपि नैगम, संग्रह और व्यवहार नय से बन्ध के हेतु अनेक बतलाये हैं तथापि वहां ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा प्रकृति और प्रदेशबन्ध का हेतु योग तथा स्थिति और अनुभागबन्ध का हेतु कषाय को बतलाया है। प्रस्तुत सूत्र में कषाय और योग को तो बन्ध के हेतु बतलाये ही हैं पर इनके अतिरिक्त मिथ्यादर्शन, अविरति और प्रमाद ये तीन बन्धहेतु और बतलाये गये हैं। इनमें से अविरति और प्रमाद का अन्तर्भाव तो कषाय में ही हो जाता है, क्योंकि कषाय की विविध अवस्थाएँ ही अविरति और प्रमाद हैं। परन्तु मिथ्यादर्शन का कषाय और योग इनमें से किसी में भी अन्तर्भाव नहीं होता। इस प्रकार समसित रूप से विचार करने पर यहाँ बन्ध के हेतु तीन प्राप्त होते हैं मिथ्यादर्शं, कषाय और योग।

एक परम्परा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग इन चार को बन्धहेतु गिनाने की मिलती है। इस परम्परा के अनुसार भी अविरति का अन्तर्भाव कषाय में हो जाने पर मिथ्यादर्शन, कषाय और योग ये तीन ही बन्ध के हेतु रह जाते हैं। इस प्रकार यहाँ पर मुख्यतः

दो परम्पराएँ शेष रहीं एक तो कषाय और योग को बन्ध के हेतु बतलानेवाली और दूसरी मिथ्यादर्शन, कषाय और योग को बन्ध के हेतु बतलानेवाली।

अब देखना यह है कि क्या सचमुच में ये दोनों परम्पराएँ मान्यताभेद से सम्बन्ध रखती हैं या मान्यताभेद न होकर दृष्टिभेद से वर्णन करने की विविध शैलियाँमात्र हैं ?

जब हम इस प्रश्न पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करते हैं तो ये दोनों परम्पराएँ मान्यताभेद पर आधारित न होकर दृष्टिभेद से वर्णन करने की शैलीमात्र प्राप्त होती हैं। इनमें से कषाय और योग को बन्धहेतु बतलानेवाली परम्परा प्रत्येक कर्म का संयोग और संश्लेप किन कारणों से होता है इस बात का निर्देश करती है और दूसरी परम्परा गुणस्थान क्रम से कर्मप्रकृतियों के बन्धहेतुओं का विचार करती है। बन्ध के समय प्रत्येक कर्म चार भागों में बट जाता है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का हेतु योग है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का हेतु कषाय है। इस कथन से समूचे कर्मबन्ध के कारण कषाय और योग प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन दोनों कारणों के सद्भाव में ही कर्म का बन्ध होता है अभाव में नहीं। इस प्रकार प्रत्येक कर्म प्रकृति आदि के भेद से किन कारणों से बँधता है इसका विचार करते हुए शास्त्र में योग और कषाय को कर्मबन्ध का कारण बतलाया है तथा मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में उत्तरोत्तर न्यून न्यून बँधनेवाली कर्मप्रकृतियों के हेतुओं का विचार करते हुए मिथ्यादर्शन आदि बन्धहेतुओं का उल्लेख किया है। मिथ्यात्व गुणस्थान में ये मिथ्यादर्शन आदि सभी बन्ध के हेतु पाये जाते हैं, इसलिये वहाँ सबसे अधिक प्रकृतियों का बन्ध होता है और आगे आगे के गुणस्थानों में ये बन्धहेतु कमती कमती होते जाते हैं, इसलिये उन उन गुणस्थानों में बँधने-

वाली प्रकृतियाँ भी कमती कमती होती जातीं हैं। यहाँ मिथ्यादर्शन आदि को बन्ध का हेतु बतलाने का यही अभिप्राय है। ऊपर जितना भी कथन किया है उस सबका सार यह है कि कर्म के एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से किस प्रकृति का किस हेतु के रहने पर बन्ध होता है यह बतलाने के लिये मिथ्यादर्शन आदि को बन्ध का हेतु बतलाया गया है और उन एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों में से प्रत्येक कर्म का प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय से होता है यह बतलाने के लिये कषाय और योग को बन्ध का हेतु गिनाया गया है। इस प्रकार इन दोनों परम्पराओं के कथन में दृष्टिभेद ही है मान्यताभेद नहीं। अब आगे मिथ्यादर्शन आदि बन्धहेतुओं के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं—

मिथ्यादर्शन

आत्मा का दर्शन नाम का एक गुण है जो मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन रूप होता है और जिसका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन का उदय है। इसके होने पर वस्तु का यथार्थ दर्शन अर्थात् श्रद्धान तो होता ही नहीं, यदि होता भी है तो अयथार्थ होता है। इसके नैसर्गिक और परोपदेश पूर्वक ये दो भेद हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन बिना उपदेश के केवल मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से होता है। इसका होना चारों गतियों के जीवों के सम्भव है। तथा दूसरा बाह्य में उपदेश के निमित्त से होता है। यह अधिकतर मनुष्य जाति में सम्भव है। वर्तमान में जितने पन्थ प्रचलित हैं वे सब इसके परिणाम हैं। इसके दूसरे प्रकार से पाँच भेद किये गये हैं—एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान।

जिससे छह काय के जीवों की हिंसा से और छह इन्द्रियों के विषय से निवृत्ति नहीं होती वह अविरति है। जिस जीव के अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानवरण कषाय का उदय विद्यमान है उसके उपर्युक्त सभी प्रकार की अविरति पाई जाती है। किन्तु जिसके उक्त कषायों का

उदय न होकर प्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का उदय है उसके त्रस काय विषयक अविरति का अभाव होकर शेष ग्यारह प्रकार की अविरति पाई जाती है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है अपने कर्तव्य में अनादर भाव। यह अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि बारह कषायों के उदय में तो होता ही है किन्तु संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में भी होता है। इसके निमित्त भेद से अनेक भेद हो जाते हैं। यथा पाँच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय, निद्रा और प्रणय ये प्रमुख रूप से प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं। शास्त्रों में अधिकतर इसका वर्णन संज्वलन कषाय के तीव्र उदय की अपेक्षा से ही किया गया मिलता है। वहाँ अविरति और कषाय से इसका पार्थक्य दिखलाने के लिये ऐसा किया गया है इससे भली प्रकार से यह जाना जा सकता है कि केवल प्रमाद निमित्तक किन प्रकृतियों का बन्ध होता है।

कषाय

चारित्र रूप आत्मपरिणामों में अनिर्मलता का नाम ही कषाय है। यह मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर न्यूनाधिक प्रमाण में दसवें गुणस्थान तक पाई जाती है। अगले गुणस्थानों में या तो चारित्रमोहनीय का उदय नहीं रहता या चारित्रमोहनीय कर्म ही नहीं रहता इसलिये आगे यह नहीं पाई जाती। गुणस्थान चर्चा में और बन्ध प्रकरण में संज्वलन कषाय के मन्द उदय को कषाय बतलाया है सो वहाँ प्रमाद से पार्थक्य दिखलाने के लिये ऐसा किया गया है। इससे केवल कषाय निमित्तक बँधनेवाली प्रकृतियों का पता चल जाता है।

योग

योग का अर्थ है आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द। यह मन, वचन और काय के निमित्त से होता है इसलिये इसके मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन भेद हो जाते हैं। यह मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक

किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। यह कर्ममात्र के प्रकृति और प्रदेशबन्ध का अनिवार्य कारण है।

इन पाँचों बन्धहेतुओं में से पूर्व पूर्व के बन्धहेतु के रहने पर आगे आगे के बन्धहेतु नियम से पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—मिथ्यात्व के रहने पर सब बन्धहेतु पाये जाते हैं और अविरति के रहने पर प्रमाद आदि तीन, प्रमाद के रहने पर कषाय आदि दो और कषाय के रहने पर योग अवश्य पाया जाता है। परन्तु आगे आगे के बन्धहेतु होने पर पूर्व पूर्व के बन्धहेतु होते भी हैं और नहीं भी होते। उदाहरणार्थ—अविरति के रहने पर मिथ्यात्व होता भी है और नहीं भी होता। यदि प्रथम द्वितीय और तृतीय गुणस्थान से सम्बन्ध रखनेवाली अविरति है तो मिथ्यात्व होता है अन्यथा नहीं होता। आगे भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

यहाँ सासादन दृष्टि और मिश्रदृष्टि को मिथ्यात्व में ही सम्मिलित कर लिया गया है, क्योंकि ये प्रकारान्तर से मिथ्यात्व के ही अवान्तर भेद हैं। सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेदों में इसी कारण से इनकी परिगणना की गई है॥ १॥

बन्ध का स्वरूप और उसके भेद—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः॥ २॥

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः॥ ३॥

कषाय सहित होने से जीव जो कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है।

उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार प्रकार हैं।

आगम में तेईस प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ बतलाई हैं उनमें से कार्मण वर्गणाएँ ही कर्मरूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती

हैं। उनका आत्मा से संश्लेष रूप सम्बन्ध को प्राप्त होना बन्ध है। यद्यपि बन्ध कर्म और आत्मा के एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध का नाम है तथापि यह सभी आत्माओं के नहीं पाया जाता है किन्तु जो आत्मा कषायवान् है वही कर्मों को ग्रहण कर उससे बँधता है। यदि लोहे का गोला गरम न हो तो पानी को ग्रहण नहीं करता, किन्तु गरम होने पर वह जैसे अपनी ओर पानी को खींचता है वैसे ही शुद्ध आत्मा कर्मों को ग्रहण करने में असमर्थ है किन्तु जब तक वह कषाय सहित रहता है तब तक प्रत्येक समय में बराबर कर्मों को ग्रहण करता रहता है और इस प्रकार कर्मों को ग्रहण करके उनसे संश्लेष को प्राप्त हो जाना ही बन्ध है। इस बन्ध के मुख्य हेतु योग और कषाय हैं यह बात प्रकट करने के लिये ही प्रस्तुत सूत्र में 'सकषायत्वात्' और 'आदत्ते' ये दो पद दिये हैं ॥ २ ॥

जब यह जीव कर्म को बाँधता है तब उसकी मुख्यतः चार अवस्थाएँ होती हैं। ये ही चार अवस्थाएँ बन्ध के चार भेद हैं जो प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश के नाम से पुकारे जाते हैं। यह बात केवल कर्म पर ही लागू नहीं है किन्तु आवरण करनेवाले किसी भी पदार्थ की ये चार अवस्थाएँ देखी जाती हैं। उदाहरणार्थ—लालटेन को वस्त्र से झकने पर उसमें प्रकाश को रोकने का स्वभाव, उसका काल, रोकनेवाली शक्ति का हीनाधिक भाव और उस वस्त्र का परिमाण ये चार अवस्थाएँ एक साथ प्रकट होती हैं। इसी प्रकार कर्म की चार अवस्थाएँ समझनी चाहिये, इसी से यहाँ पर कर्म के चार भेद किये गये हैं।

प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। कर्म का बन्ध होते ही उसमें जो ज्ञान और दर्शन को रोकने, सुख दुख देने आदि का स्वभाव पड़ता है वह प्रकृतिबन्ध है। स्थिति का अर्थ काल मर्यादा है। प्रत्येक कर्म का बन्ध होते ही उसका सम्बन्ध आत्मा से कब तक रहेगा यह निश्चित हो जाता

है। इस प्रकार कर्मबन्ध के समय उसकी काल-मर्यादा का निश्चित होना ही स्थितिबन्ध है। अनुभव का अर्थ फलदान शक्ति है जो कर्मबन्ध के समय ही पड़ जाती है। इस शक्ति का पड़ जाना ही अनुभवबन्ध है और प्रदेश का अर्थ कर्मपरमाणुओं की गणना है। जो कर्म आत्मा से बन्ध को प्राप्त होते हैं वे नियत तो रहते ही हैं। एक काल में जितने कर्मपरमाणु बन्ध को प्राप्त होते हैं उनका वैसा होना ही प्रदेशबन्ध है। जितने भी कर्म हैं वे सब इन चार भागों में बटे हुए हैं। ऐसा एक भी कर्म नहीं है जिसमें ये चार विभाग सम्भव न हों यह इस सूत्र का तात्पर्य है ॥ ३ ॥

प्रकृतिबन्ध के मूल भेदोंका नामनिर्देश —

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्त-रायाः ॥ ४ ॥

पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप है।

जिस आत्माकी जैसी योग्यता होती है तथा अन्तरंग और बहिरंग जैसे निमित्त मिलते हैं उनके अनुसार उसके नाना प्रकार के परिणाम हुआ करते हैं। सब संसारी आत्माओं के परिणामों का विचार करने पर वे असंख्यात लोक प्रमाण प्राप्त होते हैं जो निरन्तर बँधनेवाले कर्मों के स्वभाव निर्माण में कारण हो रहे हैं। यदि इन परिणामों के अनुसार बँधनेवाले कर्मों के स्वभावों का विभाग किया जाता है तो वह बहुत प्रकारका प्राप्त होता है, उस विभाग को संख्यामें भी बता सकना कठिन है तथापि वर्गीकरण द्वारा विविध स्वभाववाले उन सब कर्मोंको आठ भागोंमें बांट दिया गया है और इससे प्रकृतिबन्धके मूल भेद आठ प्राप्त होते हैं जिनका नामोल्लेख सूत्र में किया ही है।

जो आत्माकी बाह्य पदार्थों को जानने की शक्तिके आवरण करने में निमित्त है वह ज्ञानावरण कर्म है। जो आत्माकी स्वयंको साक्षात्कार करने की शक्ति के आवरण करने में निमित्त है वह दर्शनावरण कर्म है। जो बाह्य आलम्बन पूर्वक सुख दुख के वेदन कराने में निमित्त है वह वेदनीय कर्म है। जो आत्मा के मोह भाव के होने में अर्थात् राग, द्वेष और मिथ्यात्वभाव के होने में निमित्त है वह मोहनीय कर्म है। जो आत्मा के नर नारकादि पर्याय धारण करने में निमित्त है वह आयुकर्म है। जो जीव की गति जाति आदि और पुद्गल की शरीर आदि विविध अवस्थाओं के होने में निमित्त है वह नामकर्म है। जो आत्मा के ऊँच और नीच भाव के होने में निमित्त है वह गोत्रकर्म है और जो आत्माके दानादि रूप भावोंके न होने में निमित्त है वह अन्तराय कर्म है।

मूल प्रकृतियों का स्वरूप

प्रकृति बन्धके ये आठों भेद घातिकर्म और अघातिकर्म इन दो भागों में बटे हुए हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म कहलाते हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारको अघाति कर्म कहते हैं।

आत्मामें अनुजीवी और प्रतिजीवी ये दो प्रकारकी शक्तियां पाई जाती हैं। जो शक्तियां आत्माके सिवा अन्य द्रव्यमें नहीं पाई जातीं किन्तु जिनके सद्भावमें ही आत्माकी विशेषता जानी जाती है वे अनुजीवीगुण हैं और जो शक्तियां आत्माके सिवा अन्य द्रव्योंमें भी सम्भव हैं वे प्रतिजीवी गुण हैं। इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंमें से जिनसे अनुजीवी शक्तियोंका घात होता है वे घातिकर्म कहलाते हैं और प्रतिजीवी शक्तियोंका घात करनेवाले कर्म अघाति कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें मुख्यता घातिकर्मोंकी है, क्यों कि वे आत्माके अनुजीवी

मूलप्रकृतियोंके पाठक्रममें हेतु

गुणोंके मूलरूपमें प्रकट न होने देने में निमित्त हैं, इसलिये मूल प्रकृतियों के पाठ क्रम में प्रथम स्थान घातिकर्मोंको और दूसरा स्थान अघातिकर्मों को दिया गया है। इस हिसाब से चार घातिकर्मों का नामनिर्देश सर्व प्रथम और उसके बाद अघातिकर्मों का नाम निर्देश करना था पर ऐसा न करके वेदनीय कर्म को जो कि अघाति है तीसरे नम्बर पर और अन्तरायकर्म को जो कि घाति है आठवें नम्बर पर रखा है। सो इसका कारण यह है कि यद्यपि वेदनीय कर्म सुख-दुखका वेदन कराने में निमित्त है तथापि वह मोहनीयसे मिलकर ही सुख दुःखके वेदन कराने में निमित्त होता है इस लिये वेदनीयको मोहनीयके पहले तीसरे नम्बर पर रखा है। और अन्तराय कर्म यद्यपि घाति है पर वह नाम गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मों के साथ मिलकर ही दानादि के न होने में निमित्त होता है अतः अन्तराय कर्मको सबके अन्त में आठवें नम्बर पर रखा है। यह तो दो कर्मों को व्यतिक्रम से क्यों रखा इसका कारण हुआ। अब ज्ञानावरणादि के क्रमसे कर्मों का पाठ क्यों रखा यह बतलाते हैं।

संसारी प्राणी के दर्शन के बाद ज्ञान और पश्चात् श्रद्धान होता है इस हिसाब से दर्शन, ज्ञान और सम्यक्त्व यह क्रम प्राप्त होता है। उसमें भी ज्ञान प्रधान है इसलिये ज्ञानको दर्शनसे पूर्वमें गिनाया जाता है। बस इसी क्रमको ध्यानमें लेकर कर्मोंका ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय इस क्रमसे पाठ रखा है। यह तो घातिकर्मोंके पाठ का क्रम हुआ। अघाति कर्मों के पाठके क्रम पर विचार करने पर वह आयु, नाम और गोत्र इस प्रकारसे प्राप्त होता है, क्योंकि भव, उसमें अवस्थान और फिर ऊंच नीच भाव यह क्रम उसके बिना बन नहीं सकता। शेष दो कर्मों के रखने का क्रम पहले ही बतला आये हैं। इस पाठ क्रम से एक बात खासतौर से फलित होती है कि केवल वेदनीय का उदय मोहनीय के अभाव में सुख दुख का वेदन कराने में असमर्थ है। वेद-

नीय का उदय तो अरिहन्त जिनके भी पाया जाता है पर वहाँ मोहनीय कर्म नहीं रहता इसलिये उनके रोगादि जन्य दुःख नहीं होता। यद्यपि स्थिति ऐसी है किन्तु इस विषय में जैनाचार्यों में मतभेद पाया जाता है। श्वेताम्बर जैनाचार्य इस मत से सहमत नहीं है। इसलिये इस विषय की चर्चा कर लेना इष्ट प्रतीत होता है।

वेदनीय के सम्बन्ध में तीन बातें तो सभी को इष्ट हैं—प्रथम तो यह कि कर्मों का पाठ क्रम दोनों परम्पराओं में एकसा है, दूसरी यह कि वेदनीय की उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है और तीसरी यह कि ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में एक मात्र सातावेदनीय का ही बन्ध होता है।

असातावेदनीय के बन्ध के कारणों का पहले निर्देश कर आये हैं। उनमें एक कारण दुःख भी है। यदि ऐसा मान लिया जाय कि अरिहन्त जिनको क्षुधादि जन्य बाधा होती है तो उनके असातावेदनीय का बन्ध भी मानना पड़ेगा किन्तु उनके असातावेदीय का बन्ध दोनों परम्पराओं को इष्ट नहीं है इसलिये मालूम तो ऐसा ही पड़ता है कि उनके क्षुधादि जन्य बाधा नहीं होती।

शरीर आत्मा से भिन्न है यह अनुभव तो सम्यग्दृष्टि को ही होने लगता है। इसके आगे जीव जब स्वावलम्बन का अभ्यास करने लगता है तब वह क्रमशः पर पदार्थों के अवलम्बन से अपने को मुक्त करता जाता है। पाँचवें गुणस्थान में वह आंशिक स्वावलम्बन का अभ्यास करता है। छठे गुणस्थान में इस अभ्यास को वह और आगे बढ़ाता है। यहाँ शरीर को वह विश्राम भोजन आदि देता है पर इसके आगे सातवें आदि गुणस्थानों से इसके यह भी छूट जाता है। तेरहवाँ गुणस्थान तो ऐसा है जहाँ न तो छद्मस्थता रहती है और न ही राग द्वेष रहता है फिर भी वह बुद्धिपूर्वक शरीर को आहार पानी दे और उसके अवलम्बन के आश्रित अपने को माने यह बात

समझ में नहीं आती। इसलिये निष्कर्ष यही निकलता है कि तेरहवें गुणस्थान में कवलाहार नहीं होता। मात्र योग द्वारा अबुद्धिपूर्वक जो नोकर्म वर्गणाओं ग्रहण होता है उन्हीं से शरीर का पोषण होता रहता है।

सबसे बड़ी गलती यह हुई है कि अधिकतर लोगों का यह ख्याल हो गया है कि अमुक कर्म से ऐसा होता है। पर वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। बात यह है कि जिस समय जीव की जैसी अवस्था होती है उस समय उस अवस्था के निमित्तरूप कर्म का उदय होता है। इन दोनों का ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

अब प्रश्न यह होता है कि तेरहवें गुणस्थान में ऐसी कौन सी अवस्था है जिसके निमित्तरूप असातावेदनीय कर्म का उदय होता है। सो इसका यह समाधान है कि वहाँ आत्मा की सुख दुख रूप ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें सातावेदनीय निमित्त हो या असता-वेदनीय निमित्त हो। फिर भी वहाँ इनका उदय होता है सो इसका यह कारण है कि जीव के प्रतिजीवी गुणों का घात वहाँ भी हो रहा है। उनमें से वेदनीय कर्म जीव के अव्याबाध गुण का घात करता है। जीव के गुण के घात का मुख्य कारण उदय और उदीरणा है। अब यदि वहाँ इसका उदय नहीं माना जाता है तो अनुजीवी गुणों की प्रकट हुई शुद्ध पर्याय के समान वहाँ इस गुण की भी शुद्ध पर्याय माननी होगी। पर ऐसा है नहीं। यही कारण है कि तेरहवें गुणस्थान में भी दोनों प्रकार के वेदनीय का उदय माना गया है। क्षुधादि के द्वारा बाधा का पैदा होना स्थूल पर्याय है ऐसी पर्याय अरिहन्त के नहीं होती पर अव्याबाध गुण के घात से जो विकारी पर्याय होती है उसका सद्भाव अरिहन्त के भी पाया जाता है। यहाँ वेदनीय कर्म का यही कार्य है और इस कार्य को बतलाने के लिये वहाँ दोनों प्रकार के वेदनीय का उदय माना गया है।

शंका—गुण का घात करना यह घातिकर्म का काम है। फिर क्या कारण है कि यहाँ अव्याबाध गुण का घातक वेदनीय कर्म को बतलाया है ?

समाधान—जीव के गुणों का घात तो दोनों प्रकार के कर्म करते हैं। अन्तर इतना है कि घातिकर्म अनुजीवी गुणों का घात करते हैं और अघातिकर्म प्रतिजीवी गुणों का घात करते हैं।

शंका—फिर वेदनीय आदि को अघाति संज्ञा क्यों दी है ?

समाधान—ये जीव के अनुजीवी गुणों का घात नहीं करते इस अपेक्षा से इन्हें अघाति संज्ञा दी है। प्रतिजीवी गुणों को घातने की अपेक्षा तो वे भी घाती है।

शंका—यदि वेदनीय कर्म जीव के अव्याबाध गुण को घातता है तो उसका वहाँ कुछ कार्य भी तो दिखना चाहिये ?

समाधान—यही कि पर्याय जन्य बाधा तो उनके भी पाई जाती है। पर वह बाधा अन्य जनों की स्थूल बाधा से विलक्षण होती है। पूर्ण बाधा का अभाव सिद्ध अवस्था के प्राप्त होने पर ही होता है। मात्र उनके अन्य बाह्य निमित्त से पैदा होनेवाली बाधा नहीं होती इतनी विशेषता है। क्षुधादि जन्य बाधा नैमित्तिक है ऐसी बाधा अरिहन्त जिनके नहीं होती यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शंका—कर्मनिमित्तक जितनी भी अवस्थाएँ प्रकट होती हैं वे सब नैमित्तिक हैं फिर केवल क्षुधादि जन्य बाधाओं को ही क्यों नैमित्तिक बतलाया है ?

समाधान—क्षुधा आदि बाधाएँ केवल कर्म के निमित्त से नहीं होती हैं। इनके होने में अन्य बाह्य पदार्थ भी निमित्त होते हैं। केवली के होनेवाली बाधा कर्मनिमित्तक तो होती है पर अन्यनिमित्तक नहीं होती इससे ही यहाँ क्षुधादि बाधाओं को नैमित्तिक बतलाया है। ऐसी बाधाएँ केवली जिनके नहीं होतीं ॥ ४ ॥

मूलप्रकृति के अवान्तर भेदों की संख्या और उनका नाम निर्देश—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वास - विहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

आठ मूलप्रकृतियों के अनुक्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच भेद हैं ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनको आवरण करनेवाले कर्म ही पाँच ज्ञानावरण हैं।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्रादिक ऐसे नौ दर्शनावरण हैं।

सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीय हैं।

दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इनके क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये दो चारित्रमोहनीय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषायवेदनीय हैं तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से सोलह कषायवेदनीय हैं।

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु हैं।

गति, जाति, शरीर, आङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्ष प्रकृतियोंके साथ अर्थात् साधारणशरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयशःकीर्ति और यशःकीर्ति एवं तीर्थकरत्व ये बयालीस नाम कर्मके भेद हैं।

उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो गोत्र कर्म हैं।

दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य इनके पांच अन्तराय हैं।

मति आदि पांच ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि चार दर्शनोंका वर्णन

पहले किया जा चुका है। उनमेंसे पांच ज्ञानों के आवरण में निमित्त-भूत कर्म मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कहलाते हैं। ज्ञानावरणके ये ही पाँच भेद हैं। तथा चार दर्शनोंके आवरण में निमित्तभूत कर्म चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण कहलाते हैं। दर्शनावरणके चार भेद तो ये हैं तथा इनके अतिरिक्त दर्शनावरण के निद्रादिक पांच भेद और हैं जिनका स्वरूप निम्न प्रकार है—जिस कर्मका उदय ऐसी नींद में निमित्त है जिस से मद, खेद और परिश्रम जन्य थकावट दूर हो जाती है वह निद्रा दर्शनावरण कर्म है। जिस कर्मका उदय ऐसी गाढ़ नींद में निमित्त है जिससे जागना अत्यन्त दुष्कर हो जाय, उठाने पर भी न उठ सके वह निद्रा-निद्रादर्शनावरण कर्म है। जिस कार्य का उदय ऐसी नींदमें निमित्त है जिससे बैठे बैठे ही नींद आ जाय, हाथ पैर और सिर घूमने लगे वह प्रचलादर्शनावरण कर्म है। जिस कर्म का उदय ऐसी नींदमें निमित्त है जिससे खड़े खड़े, चलते चलते या बैठे बैठे पुनः पुनः नींद आवे और हाथ पैर चले तथा सिर घूमे वह प्रचलाप्रचला दर्शनावरण कर्म है। तथा जिस कर्म का उदय ऐसी नींद में निमित्त है जिससे स्वप्न में अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है और अत्यन्त गाढ़ निद्रा आती है वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म है।

ज्ञानावरण की पांच और दर्शनावरण की नौ उत्तर प्रकृतियां

शंका—निद्रादिक को दर्शनावरण के भेदों में क्यों गिनाया?

समाधान—संसारी जीवों के पहले दर्शन होता है पीछे ज्ञान। यतः निद्रादिक सर्व प्रथम दर्शन के न होने में निमित्त हैं अतः इन्हें दर्शनावरणके भेदोंमें गिनाया है।

जिसका उदय प्राणी के सुखके होनेमें निमित्त है वह सातावेदनीय कर्म है और जिसका उदय प्राणी के दुःखके होने में निमित्त है वह असाता वेदनीय कर्म है।

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतियां

शंका—सुखका उपभोग कराना यदि साता वेदनीयका काम है तो आत्माका स्वभाव सुख नहीं प्राप्त होता ?

समाधान—सातावेदनीय के उदयके निमित्तसे प्राप्त होनेवाला सुख निराकुलता रूप आत्मसुख नहीं है किन्तु वह दुःखका उपशमरूप होनेसे सुख कहा गया है। इससे आत्माका स्वभाव सुख मानने में कोई बाधा नहीं आती।

शंका—शास्त्रोंमें कुछ लोग सातावेदनीयका कार्य सुखकी सामग्री और असातावेदनीयका कार्य दुःखकी सामग्री प्राप्त कराना मानते हैं। यदि इस कथनको सही माना जाता है तो सातावेदनीय और असातावेदनीयके पूर्वोक्त लक्षण नहीं बनते, इसलिये यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें कौन लक्षण सही है ?

समाधान—कर्म दो प्रकारके हैं—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। जिनका फल जीवमें हो अर्थात् जिन कर्मोंका उदय जीवकी विविध अवस्थाओं और परिणामों के होनेमें निमित्त है वे जीवविपाकी कर्म हैं और जिन कर्मों का फल पुद्गलमें होता है। अर्थात् जिन कर्मोंका उदय शरीर, वचन और मन रूप वर्गणाओंके सम्बन्धसे इन शरीरादिक रूप कार्यों के होने में निमित्त होता है वे पुद्गलविपाकी कर्म हैं। यतः वेदनीय कर्म जीवविपाकी है अतः वह जीवगत सुख दुख के होने में ही निमित्त होना चाहिये। सुख और दुःख ये जीवगत परिणाम हैं, इस लिये मुख्यतः सातावेदनीय और असातावेदनीय ये सुख और दुःख के होनेमें ही निमित्त प्राप्त होते हैं।

शंका—सुख और दुःखकी सामग्री प्राप्त कराना वेदनीय कर्मका कार्य है इस कथन को अनुचरित मानने में क्या आपत्ति है ?

सामग्रीके सद्भाव और असद्भावके साथ सुख और दुःखकी व्याप्ति घटित नहीं होती। सुख और दुःखकी सामग्री के रहने पर भी कदाचित् प्राणी को सुखी और दुःखी नहीं देखा जाता। इसी प्रकार सुख और दुःख

की सामग्री के न रहने पर भी कदाचित् प्राणी को सुखी और दुःखी देखा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि सुख और दुःख की सामग्री प्राप्त कराना सातावेदनीय और असातावेदनीय का कार्य नहीं है किन्तु वह सुख और दुःख के होने में निमित्त है। यदि निमित्त को ही कार्य बतलाया जाता है तो यह कथन उपचरित ठहरता है और उपचरित कथन को परमार्थ मान लेना ठीक नहीं है। इस प्रकार यही आपत्ति है जो सुख और दुःख की सामग्री को वेदनीय कर्म का अनुपचरित कार्य नहीं सिद्ध होने देती।

शंका—तो यह बाह्य सामग्री कैसे प्राप्त होती है ?

सामाधान—बाह्य सामग्री अपने अपने कारणों से प्राप्त होती है।

शंका—वे कारण कौन से हैं ?

समाधान—रोजगार करना, कारखाने खोलना आदि वे कारण हैं जिनसे बाह्य सामग्री प्राप्त होती है।

शंका—सब प्राणी रोजगार आदि क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान—यह अपनी अपनी रुचि और परिस्थिति पर अवलम्बित है।

शंका—इन सब बातों के या इनमें से किसी एक के करने पर भी हानि देखी जाति है सो इसका क्या कारण है ?

समाधान—प्रयत्न की कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शंका—कदाचित् व्यवसाय आदि के नहीं करने पर भी धन प्राप्ति देखी जाति है सो इसका क्या कारण है ?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है क्या किसी के देने से हुई या कहीं पड़ा हुआ धन मिलने से हुई है ? यदि किसी के देने से हुई है तो इसमें जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देनेवाले की स्वार्थसिद्धि प्रेम आदि कारण है। यदि कहीं पड़ा हुआ धन मिलने से हुई है तो ऐसी धनप्राप्ति पुण्योदय का फल

कैसे कहा जा सकता है। यह तो चोरी है। अतः चोरी के भाव इस धन प्राप्ति में कारण हुए न कि साता का उदय।

शंका—दो आदमी एक साथ एकसा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एक को लाभ होता है और दूसरे को हानि ?

समाधान—व्यापार करने में अपनी अपनी योग्यता और उस समय की परिस्थिति आदि इसका कारण है पाप पुण्य नहीं। संयुक्त व्यापार में एक को हानि और दूसरे को लाभ हो तो कदाचित् हानि लाभ पाप पुण्य का फल माना भी जाय। पर ऐसा होता नहीं, अतः हानि लाभ को पाप पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है।

शंका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य पाप का फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों होता है ?

समाधान—एक का गरीब होना और दूसरे का श्रीमान् होना यह व्यवस्था का फल है पुण्य पाप का नहीं। जिन देशों में पूँजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत संपत्ति के जोड़ने की कोई मर्यादा नहीं वहाँ अपनी अपनी योग्यता व साधनों के अनुसार लोग उसका संचय करते हैं और इसी व्यवस्था के अनुसार गरीब और अमीर इन वर्गों की सृष्टि हुआ करती है। गरीब और अमीर इनको पाप पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है। रूस ने बहुत कुछ अंशों में इस व्यवस्था को तोड़ दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकार का भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो है ही। सचमुच में पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओं के परे हैं और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य पाप का निर्देश करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य पाप का फल नहीं है तो सिद्ध जीवों को इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—बाह्य सामग्री का सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है। यों तो इसकी प्राप्ति जड़ चेतन दोनों को होती है। क्योंकि तिजोड़ी में भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धन की प्राप्ति कही जा सकती है। किन्तु जड़ के रागादि भाव नहीं होता और चेतन के होता है इसलिये वही उसमें ममकार और अहंकार भाव करता है।

शंका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य पाप का फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप पुण्य का फल मानना ही पड़ता है?

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप पुण्य के उदय का निमित्त भले ही हो जाय पर स्वयं यह पाप पुण्य का फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने अपने कारणों से प्राप्त होती है उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने अपने कारणों से प्राप्त होती है। इसे पाप पुण्य का फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है।

शंका—सरोगता और नीरोगता के क्या कारण हैं?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व संगति करना आदि सरोगता के कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व संगति करना आदि नीरोगता के कारण हैं।

इस प्रकार विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि साता वेदनीय और असातावेदनीय का कार्य सुख और दुख की सामग्री प्राप्त कराना नहीं है। स्वर्ग में उत्तरोत्तर पुण्यातिशय के होने पर भी बाह्य सम्पत्ति की उत्तरोत्तर हीनता देखी जाती है, चतुर्थ आदि नरकों में साता का उदय होने पर भी बाह्य सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं देखी जाती, साधुओं के साता का उदय होने पर भी सम्पत्ति का अभाव देखा जाता है और प्रतिमा आदि जड़ होने पर भी उनकी पूजा प्रतिष्ठा देखी जाती है, इसलिये भी मालूम पड़ता है कि साता और असाता सुख और दुख की सामग्री के जनक नहीं हैं॥ ८॥

जिसका उदय तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के श्रद्धान न होने देने में निमित्त है वह मिथ्यात्वमोहिनीय कर्म है। जिसका उदय तात्त्विक रुचि में बाधक न होकर भी उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष के पैदा करने में निमित्त है वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म है। तथा जिसका उदय मिले हुए परिणामों के होने में निमित्त है जो न केवल सम्यक्त्वरूप कहे जा सकते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप किन्तु उभयरूप होते हैं वह मिश्रमोहनीय कर्म है।

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ

चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं एक अकषायवेदनीय और दूसरा कषायवेदनीय। अकषाय में 'अ' का अर्थ 'थोड़ा' है अर्थात् जो कषाय से न्यून है वह अकषायवेदनीय है। इसके हास्य आदि नौ भेद हैं। जिसका उदय हास्यभाव के होने में निमित्त है वह हास्य कर्म है। जिसका उदय रतिरूप भावके होनेमें निमित्त है वह रति कर्म है। जिसका उदय अरतिरूप परिणामके होनेमें निमित्त है वह अरति कर्म है। जिसका उदय शोकरूप परिणामके होनेमें निमित्त है वह शोक कर्म है। जिसका उदय भयरूप परिणामके होनेमें निमित्त है वह भय कर्म है। जिसका उदय परिणामोंमें ग्लानि पैदा करनेमें निमित्त है वह जुगुप्सा कर्म है। जिसका उदय अपने दोषों को ढकने आदिरूप स्त्री सुलभ भावों के होने में निमित्त है वह स्त्रीवेद कर्म है। जिसका उदय उत्तम गुणों को भोगने आदिरूप पुरुष सुलभ भावों के होने में निमित्त है वह पुरुषवेद कर्म है तथा जिसका उदय स्त्री और पुरुष सुलभ भावों से विलक्षण कलुषित परिणामों के होने में निमित्त है वह नपुंसकवेद कर्म है।

अकषायवेदनीय के नौ भेद

शंका—जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो अपत्य को जन्म दे वह पुरुष और जो स्त्री और पुरुष इन दोनों से व्यतिरिक्त चिन्हवाला हो वह नपुंसक। यदि स्त्रीवेद आदि का यह अर्थ किया जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—उक्त अर्थ शरीर चिन्ह की प्रधानता से किया गया है किन्तु वेद नोकषाय में जीवका परिणाम विवक्षित है, इसलिये प्रकृत में शरीर चिन्ह की अपेक्षा से अर्थ न करके परिणामों की अपेक्षा से स्त्रीवेद आदि का अर्थ करना उचित है।

कषायवेदनीयके सोलह भेद

अनन्त अर्थात् संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है और जो कर्म इसका अनुबन्धी हो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाता है। जिसका उदय जीवके देशविरतिके धारण नहीं करनेमें निमित्त है वह कर्म अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कहलाता है। जिस कर्म का उदय जीव के सर्वविरति के नहीं धारण करने में निमित्त है वह कर्म प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कहलाता है। तथा जिसका उदय सर्वविरति का प्रतिबन्ध नहीं करता किन्तु सर्वविरति में प्रमाद दोष के लगाने में निमित्त होता है वह संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ है ॥ ९ ॥

चार आयुःकर्म

जिनका उदय नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवपर्याय में जाकर जीवन बिताने में निमित्त होता है वे क्रम से नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु हैं। ये चारों भवविपाकी कर्म हैं, इसलिये इनका नरकादि भवों के निमित्त रूप से विपाक होता है ॥ १० ॥

चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ

जिसका उदय जीवके नारक आदि रूप भावके होनेमें निमित्त है वह गति नामकर्म है। इसके नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार भेद हैं। नरकगतिका उदय नारक भावके होने में निमित्त है। इसी प्रकार शेष गतियों के सन्बन्ध में जानना चाहिये। जाति का अर्थ सदृशता है। प्रकृत में इसके एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति

और पंचेन्द्रिय जाति ये पाँच भेद हैं। इनका उदय जीव के अपनी अपनी जाति में पैदा होने में निमित्त है। औदारिक आदि शरीरों को प्राप्त कराने में निमित्त शरीर नामकर्म है। शरीर के पाँच भेद पहले बतला आये हैं। शरीर के अङ्ग और उपाङ्गों के होने में निमित्त आङ्गोपाङ्ग नामकम है। इसके औदारिक शरीर आङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक शरीर आङ्गोपाङ्ग और आहारक शरीर आङ्गोपाङ्ग ये तीन भेद हैं। जिस कर्म का उदय शरीर के लिये प्राप्त हुए पुद्गलों का परस्पर बन्धन कराने में निमित्त है वह बन्धन नामकर्म है। इसके औदारिक बन्धन आदि पाँच भेद हैं। जिस नामकर्म का उदय शरीर के लिये प्राप्त हुए पुद्गलों का बन्धन छिद्ररहित होकर एक-सा हो जाय इस क्रिया में निमित्त है वह सङ्घात नामकर्म है। इसके औदारिक सङ्घात आदि पाँच भेद हैं। जिस नामकर्म का उदय शरीर की आकृति बनने में निमित्त है वह संस्थान नामकर्म है। इसके समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जसंस्थान, वामनसंस्थान और हुण्डसंस्थान ये छः भेद हैं। शरीर का ठीक प्रमाण में होना समचतुरस्रसंस्थान है। शरीर का वड़ के वृक्ष के समान आयत गोल होना न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान है। स्वाति वामी या सेमर को कहते हैं। इनके समान अर्थात् शरीर का नाभि से नीचे बड़ा और ऊपर छोटा होना स्वातिसंस्थान है। शरीर का कुबड़ा होना अर्थात् हाथ, पाँव और गर्दन का लम्बा होना और मध्य भाग का छोटा होना कुब्जसंस्थान है, शरीर का बोना होना अर्थात् हाथ, पाँव और गर्दन आदि का छोटा होना और मध्य भाग का बड़ा होना वामनसंस्थान है और शरीर का विषम अवयवों वाला होना हुण्डसंस्थान है। जिसको जैसा शरीर का आकार मिलता है उसमें निमित्त संस्थान नामकर्म का उदय है। जिस कर्म का उदय शरीर में हाड़ और सन्धियों की उत्पत्ति में निमित्त है वह संहनन नामकर्म है। इसके वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन,

अर्धनाराचसंहनन, कीलितसंहनन और असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन ये छः भेद हैं। वृषभ का अर्थ वेष्टन है। नाराच का अर्थ कीलें है और संहनन का अर्थ हड्डियाँ है। जिस शरीर के वेष्टन, कीलें और हड्डियाँ वज्रमय हों वह वज्रवृषभनाराचसंहनन है। जिस शरीर में कीलें और हड्डियाँ वज्रमय हों किन्तु उन पर वेष्टन न हो वह वज्रनाराचसंहनन है। जिस शरीर में हड्डियाँ कीलों से कीलित हों वह नाराचसंहनन है। जिस शरीर में आधी हड्डियाँ कीलों से कीलित हों और आधी कीलों से कीलित न हों वह अर्धनाराचसंहनन है। जिस शरीर में हड्डियाँ परस्पर कीलित हों वह कीलितसंहनन है। जिस शरीर में हड्डियाँ परस्पर जुड़ी हुई न हों किन्तु शिराओं से बँधी हों वह असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन है। इनमें से जिसको जैसा संहननवाला शरीर मिलता है उसमें वैसा संहनन मिलने में संहनन नामकर्म का उदय निमित्त होता है। शरीरगत शीत आदि आठ स्पर्श, तिक्त आदि पाँच रस, सुरभि आदि दो गन्ध और श्वेत आदि पाँच वर्ण इनके होने में निमित्तभूत कर्म अनुक्रम से स्पर्शनाम, रसनाम, गन्धनाम और वर्णनाम कर्म कहलाते हैं। जिस कर्म का उदय विग्रहगति में जीव का आकार पूर्ववत् बनाये रखने में निमित्त है वह आनुपूर्वी नामकर्म है। इसके नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये चार भेद हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त गति का निमित्तभूत कर्म विहायोगति नामकर्म है। इन चौदह प्रकृतियों के अवान्तर भेद होने के कारण ये पिण्ड प्रकृतियाँ कहलाती हैं। इनके कुल अवान्तर भेद ६५ हुए जो उस उस पिण्ड प्रकृति के वर्णन के समय बतलाये ही हैं। यदि बन्धन के पाँच भेद न करके पन्द्रह भेद किये जाते हैं तो उनकी संख्या ७५ हो जाती है।

जिस नामकर्म का उदय शरीर के न तो भारी होने में और न हलका होने में निमित्त है वह अगुरुलघु नामकर्म है। जिस कर्म का

उदय शरीरके अपने ही अवयवों से अपना घात होने में निमित्त है वह उपघात नामकर्म है। अथवा जिस नामकर्म के उदय से जीव अपना घात करने के लिये विष आदि लाता है वह उपघात नामकर्म है। जिस कर्म का उदय शरीर में ऐसे अवयवों या पुद्गलों के निर्माण में निमित्त है जिससे दूसरे का घात हो वह परघात नामकर्म है। जिस नामकर्म का उदय जीव को श्वासोच्छ्वास के लेने में निमित्त है वह उच्छ्वास नामकर्म है। अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश के होने में जो कर्म निमित्त है वह आतप नामकर्म है। जिस कर्म का उदय अनुष्ण शरीर में शीत प्रकाश के होने में निमित्त है वह उद्योत नामकर्म है। जिस नामकर्म का उदय शरीर में आङ्गोपाङ्गों के यथास्थान होने में निमित्त है वह निर्माण नामकर्म है। जिस नामकर्म का उदय जीव के तीर्थंकर होने में निमित्त है वह तीर्थंकरत्व नामकर्म है।

आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ

१,२–जिस कर्मका उदय जीव को त्रसभावके प्राप्ति करानेमें निमित्त है वह त्रसनाम है। जिस कर्मका उदय जीव को स्थावर भावके प्राप्त कराने में निमित्त है वह स्थावर नाम है। ३,४—जिस कर्मका उदय जीवके बादर होनेमें निमित्त है वह बादर नाम है। जिस कर्मका उदय जीव के सूक्ष्म होनेमें निमित्त है वह सूक्ष्म नामकर्म है। जिनका निवास आधारके बिना नहीं पाया जाता वे बादर हैं और जिन्हें आधारकी आवश्यकता नहीं पड़ती वे सूक्ष्म हैं। ५,६–जिसका उदय प्राणीयोंको अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंके पूरा करने में निमित्त है वह पर्याप्त नामकर्म है। जिसका उदय अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न कर सकनेमें निमित्त है वह अपर्याप्त नामकर्म है। ७,८–जिसका उदय प्रत्येक जीवको अलग अलग शरीर प्राप्त करानेमें निमित्त है वह प्रत्येक नाम कर्म है और जिसका उदय अनन्त जीवोंको एक साधारण शरीर प्राप्त करानेमें निमित्त है

त्रसदशक और स्थावरदशक

वह साधारण नामकर्म है। ९, १०—जिसका उदय रस, रुधिर, मेदा, मज्जा हड्डी, मांस और वीर्य इनके स्थिर रहने में निमित्त है वह स्थिर नामकर्म है और जिसका उदय इनके क्रमसे परिणमनमें निमित्त है वह अस्थिर नामकर्म है। ११,१२–जिसका उदय आंगोपांगोंके प्रशस्त होने में निमित्त है वह शुभनाम कर्म है और जिसका उदय आंगोपांगों के अप्रशस्त होनेमें निमित्त है वह अशुभ नामकर्म है। १३,१४—स्त्री और पुरुषोंके सौभाग्यमें निमित्त सुभग नामकर्म है और दुर्भाग्यमें निमित्त दुर्भग नामकर्म है। १५,१६—जिसका उदय मधुर स्वरके होने में निमित्त है वह सुस्वर नाम कर्म है और इसके विपरीत दुःस्वर नामकर्म हैं। १७,१८—जिस कर्मका उदय जीवके बहुमान्य और ग्रहण करने योग्य होने में निमित्त है वह आदेय नाम कर्म है और इसके विपरीत अनादेय नामकर्म है। १९,—२०जिसका उदय जीवमें ऐसी योग्यताके लानेमें निमित्त है जिससे उसके उदय विद्यमान और अविद्यमान सभी प्रकारके गुणोंका प्रकाशन होता है वह यशःकीर्ति नाम कर्म है और इससे विपरीत अयशःकीर्ति नामकर्म है

ये नाम कर्मकी बयालीस प्रकृतियां है जिनका स्वरूप निर्देश यहां पर किया है। पर ऐसा करते हुए सूत्र पाठका ख्याल नहीं रखा है इससे उनका विभाग करनेमें विशेष सुविधा रही है॥ ११॥

जिस कर्मका उदय उच्च गोत्रके प्राप्त करनेमें निमित्त है वह उच्च गोत्र है। और जिसका उदय नीच गोत्रके प्राप्त करनेमें निमित्त है वह नीच गोत्र है। गोत्र, कुल, वंश और सन्तान ये एकार्थ वाची शब्द हैं। ब्राह्मण परंपरा वर्णव्यवस्था जन्मसे मानती है इसलिये उसके यहां उच्च गोत्र और नीचगोत्र विभाग उस आधारसे किया गया है पर जैन परम्परा यह सब कर्मसे मानती है। इस लिये इस परम्परामें गोत्रका विभाग वर्ण-व्यवस्था के आधारसे नहीं किया जा सकता है। यहां इसका आधार

गोत्र कर्मकी दो प्रकृतियां

चारित्र माना गया है। जो प्राणी अपने वर्तमान जीवन में चारित्रको स्वीकार करता है और जिसका सम्बन्ध भी ऐसे ही लोगोंसे होता है वह उच्चगोत्री है और इससे विपरीत नीचगोत्री है ॥ १२ ॥

अन्तराय कर्म की पांच प्रकृतियां

१ जिस कर्मका उदय ज्ञानादि के दान करनेके भाव न होने देनेमें निमित्त है वह दानान्तराय कर्म है। २ जिस कर्मका उदय मुझे लाभ हुआ ऐसा भाव न होने देने में निमित्त है वह लाभान्तराय कर्म है। ३ जिस कर्मका उदय भोगरूप परिणामके न होने देनेमें निमित्त है वह भोगान्तराय कर्म है। ४ जिस कर्मका उदय उपभोगरूप परिणाम के न होने देनेमें निमित्त है वह उपभोगान्तराय कर्म है। और ५ जिस-कर्मका उदय आत्मवीर्य प्रकट न होने देनेमें निमित्त है वह वीर्यान्तराय कर्म है ॥ १३ ॥

स्थितिबन्धका वर्णन—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

आदि की तीन प्रकृतियां अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चारकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम है।

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम है। नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम है।

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है।

वेदनीयकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

बाकीके पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

प्रस्तुत सूत्रों में आठों मूल प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति-बन्ध बतलाया गया है। उत्कृष्ट स्थिति की प्राप्ति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीव के ही सम्भव है अन्य के नहीं; किन्तु इसका एक अप-वाद है और वह यह कि आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सम्यग्दृष्टि के भी होता है। बात यह है कि वैमानिकों के योग्य तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सकल संयम का धारी सम्यग्दृष्टि ही करता है मिथ्यादृष्टि नहीं। तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इनकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में प्राप्त होती है, क्यों कि जघन्य स्थितिबन्ध के कारणभूत सूक्ष्म कषाय का सद्भाव वहीं पर पाया जाता है। यद्यपि वेदनीय कर्म का ईर्यापथ आस्रव तेरहवें गुणस्थान तक बतलाया है और इसलिये इसकी बन्धव्युच्छित्ति तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होती है। परन्तु इसका भी स्थिति और अनुभागबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है, क्यों कि अगले गुणस्थानों में इन दोनों बन्धों का कारणभूत कषाय का सद्भाव नहीं पाया जाता। अतः वेद-नीय की जघन्य स्थिति भी दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही कही है। मोहनीय का जघन्य स्थितिबन्ध नौवें अनिवृत्ति करण गुण-स्थान में प्राप्त होता है। और आयुकर्म का जघन्य स्थितिबन्ध कर्म-भूमिज तिर्यंच और मनुष्यों के सम्भव है। इस उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध के अतिरिक्त मध्यम स्थितिबन्ध के असंख्यात विकल्प हैं।

उत्कृष्ट स्थिति में से जघन्य स्थिति के घटा देने पर जो शेष रहे उसमें से एक और कम कर देने पर जितने समय प्राप्त हों उतने मध्यम स्थिति बन्ध के भेद होते हैं और घटाकर शेष रही संख्या में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के दो समय मिला देने पर कुल स्थितिबन्ध के विकल्प होते हैं ॥ १४–२० ॥

अनुभागबन्ध का वर्णन—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

स यथानाम ॥ २२ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभव है। वह जिस कर्म का जैसा नाम है उसके अनुसार होता है। और उसके बाद अर्थात् फल मिल जाने के बाद निर्जरा होती है।

अनुभव का कारण

कर्मबन्ध के समय जिस जीव के कषाय की जैसी तीव्रता या मन्दता रहती है और उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप जैसा निमित्त मिलता है उसके अनुसार उस कर्म में फल देने की शक्ति पड़ती है। उसमें भी कर्मबन्ध के समय यदि शुभ परिणाम होते हैं तो पुण्य प्रकृतियों में प्रकृष्ट और पापप्रकृतियों में निकृष्ट फलदान शक्ति प्राप्त होती है। और यदि कर्म-बन्ध के समय अशुभ परिणामों की तीव्रता होती है तो पाप प्रकृतियों में प्रकृष्ट और पुण्य प्रकृतियों में निकृष्ट फलदान शक्ति प्राप्त होती है।

अनुभव की द्विधा प्रवृत्ति

यद्यपि यह अनुभव अर्थात् फलदान शक्ति इस प्रकार प्राप्त होता है तथापि उसकी प्रवृत्ति दो प्रकार से देखी जाती है—स्वमुख से और परमुख से। ज्ञानावरणादि आठों मूल प्रकृतियों में यह फलदान शक्ति स्वमुख से ही प्रवर्तती है और उत्तर प्रकृतियों में स्वमुख से भी प्रवर्तती है और परमुख से भी प्रवर्तती है। विशेष खुलासा इस प्रकार है—

ऐसा नियम है कि आठों मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता अर्थात् एक मूल प्रकृति दूसरी मूलप्रकृति रूप नहीं बदलती, वह स्वमुख से ही फल देकर निर्जरा को प्राप्त होती है। किन्तु उत्तर प्रकृतियों में यह नियम नहीं है। उनमें समान जातीय प्रकृतियों का अपनी समान जातीय दूसरी प्रकृतियों में भी संक्रमण देखा जाता है, अर्थात् एक प्रकृति बदल कर दूसरी प्रकृति रूप हो जाती है। जैसे मतिज्ञानावरण बदल कर श्रुतज्ञानावरण आदि रूप हो जाता है। अर्थात् जब मतिज्ञानावरण बदलकर श्रुतज्ञानावरण आदि रूप हो जाता है तब उदयकाल में वह अपना फल उस रूप से देता है। इसी प्रकार सब उत्तर प्रकृतियों के विषय में जानना चाहिये। फिर भी कुछ ऐसी उत्तर प्रकृतियाँ हैं जिनका परस्पर संक्रमण नहीं होता। जैसे—दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीयरूप और चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय रूप संक्रमण नहीं होता। हाँ दर्शनमोहनीयके अवान्तर भेदों का परस्पर में और चारित्रमोहनीय के अवान्तर भेदों का परस्पर में संक्रमण होना अवश्य सम्भव है। इसी प्रकार चारों आयुओं का भी परस्पर में संक्रमण नहीं होता, अर्थात् एक आयु के कर्म परमाणु बदल कर दूसरी आयु रूप कभी नहीं होते, किन्तु प्रत्येक आयु स्वमुख से ही फल देकर निर्जरा को प्राप्त होती है।

ऐसा भी होता है कि एक कर्म प्रकृति के परमाणु अन्य प्रकृतिरूप न भी बदलें तो भी बन्धकालीन स्थिति और अनुभाग में परिणामों के अनुसार बदल होता देखा जाता है। अधिक स्थिति घट सकती है और घटी हुई स्थिति बढ़ सकती है। इसी प्रकार अनुभाग भी न्यूनाधिक हो सकता है। इसमें से घटने का नाम अपकर्षण है और बढ़ने का नाम उत्कर्षण है। किन्तु अपकर्षण का होना कभी भी सम्भव है पर उत्कर्षण जिस प्रकृतिकी स्थिति और अनुभाग का हो उसके बन्ध के समय ही होता है।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकृतिको कैसा अनुभाग प्राप्त होता है। इसका यही समाधान है कि जिस प्रकृतिका जो नाम है उसी के अनुसार उसका अनुभागबन्ध होता है। जैसे ज्ञानावरण प्रकृतिमें ज्ञानको और दर्शनावरणमें दर्शनको आवृत्त करनेका अनुभाग प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य मूल व सब उत्तर प्रकृतियोंके विषयमें जानना चाहिये।

प्रकृतियोंके नामानुरूप उनका अनुभव

पहले जिस कर्मका जैसा अनुभाग बतला आये हैं उसीके अनुसार उस कर्मका फल मिलता है। तथा फल मिलनेके बाद वह कर्म आत्मा से जुदा हो जाता है और इसीका नाम निर्जरा है। यह निर्जरा सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार की होती है। विपाक फलकालको कहते हैं। फल कालके प्राप्त होने पर फल देकर जो कर्मकी निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा है और फलकालके प्राप्त हुए बिना उदीरणा द्वारा फल देकर जो कर्मकी निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है। पेड़में लगे लगे ही आमका पककर गिरना सविपाक निर्जराका उदाहरण है और पकनेके पहले ही तोड़कर पाल द्वारा आमका पकाना अविपाक निर्जराका उदाहरण है।

फलदान के बाद कर्मकी दशा

सूत्र में 'च' शब्द रखकर निर्जरा का अन्य निमित्त सूचित किया है। अगले अध्यायमें तपसे निर्जरा होती है यह बतलाने वाले हैं, इसलिये इस सूत्रमें 'च' शब्द देनेसे यह ज्ञात होता है कि फल कालके पूरा होने पर फल देकर भी कर्मों की निर्जरा होती है और अन्य निमित्तों से भी कर्मोंकी निर्जरा होती है। हर हालतमें कर्म किसी न किसी रूपमें अपना फल अवश्य देता है। बिना फल दिये किसी भी कर्म की निर्जरा नहीं होती इतना निश्चित है। इसके विषयमें यह नियम है कि उदयवाली प्रकृतियोंका फल स्वमुखसे मिलता है और अनुदयवाली प्रकृतियों का फल परमुखसे मिलता है। उदाहरणार्थ—साताका

उदय रहने पर उसका भोग सातारूप से ही होता है किन्तु तब असाता स्तिवुक संक्रमण द्वारा सातारूप से परिणमन करती जाती है इस लिये इसका उदय परमुख से होता है। उदय कालके एक समय पहले अनुदयरूप प्रकृतिके निषेक का उदय को प्राप्त हुई प्रकृतिरूपसे परिणाम जाना स्तिवुक संक्रमण है। जो प्रकृतियां जिस कालमें उदयमें नहीं होती हैं किन्तु सत्तारूपमें विद्यमान रहती हैं उन सबका प्रति समय इसी प्रकार परिणमन होता रहता है ॥ २१—२३ ॥

प्रदेशबन्धका वर्णन —

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥

प्रति समय योग विशेष से कर्मप्रकृतियोंके कारणभूत सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशोंमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते हैं।

इस सूत्र द्वारा प्रदेशबन्धका विचार किया गया है। संसारी आत्मा के जो प्रति समय कर्मबन्ध होता है वह कैसा, कब, किस कारणसे, किसमें और कितना होता है इन्हीं सब प्रश्नोंका इसमें समाधान किया गया है। 'नामप्रत्ययाः' पद देकर यह बतलाया गया है कि इन बंधनेवाले कर्मों द्वारा ही ज्ञानावरणादि अलग अलग प्रकृतियोंका निर्माण होता है। दूसरे 'सर्वतः' पद देकर बतलाया गया है कि संसारी जीवके इन कर्मोंका सदा बन्ध होता रहता है। ऐसा एक भी क्षण नहीं जब इनका बन्ध न होता हो। तीसरे 'योगविशेषात्' पद देकर यह बतलाया गया है कि जिसके मानसिक, वाचिक या कायिक जैसा योग होता है उसके अनुसार कर्मों का न्यूनाधिक बन्ध होता है। या इस पद द्वारा यह बतलाया गया है कि प्रदेशबन्धका मुख्य कारण योग है। योगका अभाव हो जानेपर कर्मबन्ध नहीं होता। चौथे 'सूक्ष्म'

पद देकर यह बतलाया गया है कि बंधनेवाले ये पुद्गल परमाणु सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं। पांचवें 'एक क्षेत्रावगाह' पद देकर यह बतलाया गया है कि जीव प्रदेशके क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओंका ही ग्रहण होता है। जो कर्मपरमाणु उसके बाहरके क्षेत्रमें स्थित हैं उनका ग्रहण नहीं होता। छठे 'स्थित' पद देकर यह बतलाया गया है कि स्थित कर्म परमाणुओंका ही ग्रहण होता है गतशील कर्म परमाणुओंका नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस समय आत्माके विवक्षित प्रदेश जिस क्षेत्रमें होते हैं उस समय वहाँ के बंधने योग्य कर्मपरमाणु उन प्रदेशोंसे बंध जाते हैं। सातवें सर्वात्मप्रदेशेषु' पद देकर यह सूचित किया गया है कि किसी समयमें किन्हीं आत्मप्रदेशोंमें और किसी समयमें किन्हीं आत्मप्रदेशों में बन्ध होता हो ऐसा नहीं है किन्तु प्रति समय सभी आत्मप्रदेशोंमें बन्ध होता है। आठवें 'अनन्तानन्तप्रदेशाः' पद देकर यह सूचित किया गया है कि प्रति समय बंधनेवाले कर्मपरमाणु संख्यात, असंख्यात या अनन्त न होकर अनन्तानन्त होते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्रमें प्रदेशबन्धका विचार करते हुए उक्त आठ बातोंपर प्रकाश डाला गया है ॥ २४ ॥

कर्म के सम्बन्धमें कुछ विशेष ज्ञातव्य—

कर्मों का बन्ध आत्माके परिणामोंके अनुसार होता है और वे, जैसा उनमें स्वभाव व हीनाधिक फलदान शक्ति पड़ जाती है तदनुसार कार्यों के होने में निमित्त होते रहते हैं। यों तो जीव ही स्वयं संसारी होता है और जीव ही मुक्त होता है। राग द्वेष आदि रूप अशुद्ध और कवलज्ञान आदिरूप शुद्ध जितनी भी अवस्थाऐं होती हैं वे सब जीवकी ही होती हैं। ये जीवके सिवा अन्य द्रव्यमें नहीं पाई जाती हैं। तथापि इनमें शुद्धता और अशुद्धताका भेद निमित्तकी अपेक्षासे किया जाता है। निमित्त दो प्रकारके माने गये हैं। एक वे जो साधारण कारण रूपसे

जीवकी परतन्त्रता का कारण कर्म है

स्वीकार किये गये हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का सद्भाव इसी रूप से स्वीकार किया गया है। और दूसरे वे जो प्रत्येक कार्य के अलग-अलग निमित्त होते हैं। जैसे घट पर्याय की उत्पत्ति में कुम्हार निमित्त है और जीव की अशुद्धता का निमित्त कर्म है आदि। जब तक जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध है तभी तक ये राग, द्वेष और मोह आदि भाव होते हैं। कर्म के अभाव में नहीं। इसी से संसार का मुख्य कारण कर्म कहा जाता है। घर, पुत्र, स्त्री और धन आदि का नाम संसार नहीं है। वह तो जीव की अशुद्धता है जो कर्म के सद्भाव में ही पाई जाती है। कर्म का और संसार का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है। यदि इनकी समव्याप्ति मानी जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। जब तक यह सम्बन्ध बना रहता है तब तक जीव परतन्त्र है।

कर्म का स्वरूप

कर्म का अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकार की होती है। हँसना, खेलना, कूदना, उठना, बैठना, रोना, गाना, जाना, आना, खाना, पीना आदि ये सब क्रियायें हैं। क्रिया जड़ और चेतन दोनों में होती है। कर्म का सम्बन्ध आत्मा से होने के कारण यहाँ केवल जड़ की क्रिया नहीं ली गई है। और शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा ही आकाश के समान निर्लेप और भित्ती में उकीरे गये चित्र के समान निष्कम्प रहता है। क्रिया का मतलब यहाँ उत्पाद व्यय ध्रौव्य से नहीं है। किन्तु यहाँ क्रिया का अर्थ परिस्पन्द लिया गया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थों में नहीं होती। वह पुद्गल और संसारी जीव में ही पाई जाती है, इसलिये प्रकृत में कर्म का अर्थ संसारी जीव की क्रिया लिया गया है। आशय यह है कि संसारी जीव की प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाता है।

यद्यपि कर्म का मुख्य अर्थ यही है तथापि इसके निमित्त से जो

पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणादि भाव को प्राप्त होते हैं वे भी कर्म कहलाते हैं। इनमें कर्म व्यवहार करने का कारण द्रव्य निक्षेप है। द्रव्य निक्षेप के नोआगम भेद का एक भेद कर्म है। यही कर्म शब्द का वाच्य यहाँ लिया गया है इसलिये इसकी द्रव्य कर्म यह भी संज्ञा है। नोआगम का दूसरा भेद नोकर्म है। इससे कर्मोदय के सहकारी कारण लिये जाते हैं। धनादि साता के नोकर्म हैं। इसी प्रकार अन्य नोकर्म भी जानने चाहिये।

जीव की प्रति समय जो अवस्था होती है उसका चित्र कर्म है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जीव की यह अवस्था यद्यपि उसी समय नष्ट हो जाती है पर संस्कार रूप से वह कर्म में अंकित रहती है। प्रति समय के कर्म जुदे-जुदे हैं और जब तक ये फल नहीं दे लेते नष्ट नहीं होते। बिना भोगे कर्म का क्षय नहीं होता ऐसा नियम है। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म।'

कर्म का भोग विविध प्रकार से होता है। कभी जैसा कर्म का संचय किया है उसी रूप में उसे भोगना पड़ता है। कभी न्यून, अधिक या विपरीत रूप से उसे भोगना पड़ता है। कभी दो कर्म मिलकर एक कार्य करते हैं। साता और असाता इनके काम जुदे जुदे हैं पर कभी ये दोनों मिलकर सुख या दुख किसी एक को जन्म देते हैं। कभी एक कर्म विभक्त होकर विभागानुसार काम करता है। उदाहरणार्थ मिथ्यात्व का मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप से विभाग हो जाने पर इनके कार्य भी जुदे जुदे हो जाते हैं। कभी नियत काल के पहले कर्म अपना कार्य करता है तो कभी नियत काल से बहुत समय बाद उसका फल देखा जाता है। जिस कर्म का जैसा नाम, स्थिति और फलदान शक्ति है उसी के अनुसार उसका फल मिलता है यह साधारण नियम है। अपवाद इसके अनेक हैं। कुछ कर्म ऐसे अवश्य हैं जिनकी प्रकृति नहीं बदलती। उदाहरणार्थ

चार आयुकर्म। आयुकर्मों में जिस आयु का बन्ध होता है उसी रूप में उसे भोगना पड़ता है। उसके स्थिति अनुभाग में उलट फेर भले ही हो जाय पर भोग उनका अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ही होता है। यह कभी सम्भव नहीं कि नरकायु को तिर्यञ्चायु रूप से भोगा जा सके या तिर्यञ्चायु को नरकायु रूप से भोगा जा सके। शेष कर्मों के विषय में ऐसा कोई नियम नहीं है। मोटा नियम इतना अवश्य है कि मूल कर्म में बदल नहीं होता। इस नियम के अनुसार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये मूल कर्म मान लिए गये हैं। कर्म की ये विविध अवस्थाएँ हैं जो बन्ध समय से लेकर उनकी निर्जरा होने तक यथासम्भव होती हैं। इनके नाम ये हैं—

बन्ध, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशान्त, निधत्ति और निकाचना।

बन्ध—कर्मवर्गणाओं का आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध होना बन्ध है। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं। जिस कर्म का जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरण का स्वभाव ज्ञान को आवृत करना है। स्थिति कालमर्यादा को कहते हैं। किस कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट कितनी स्थिति पड़ती है इस सम्बन्ध में अलग अलग नियम हैं। अनुभाग फलदान शक्ति को कहते हैं। प्रत्येक कर्म में न्यूनाधिक फल देने की योग्यता होती है। प्रति समय बँधनेवाले कर्म परमाणुओं की परिगणना प्रदेश बन्ध में की जाती है। कर्म परमाणु और आत्मप्रदेशों का परस्पर एक क्षेत्रावगाही संश्लेषरूप सम्बन्ध होना यह भी प्रदेशबन्ध है।

सत्त्व—बँधने के बाद कर्म आत्मा से सम्बद्ध रहता है। तत्काल तो वह अपना काम करता ही नहीं। किन्तु जब तक वह अपना काम नहीं करता है तब तक उसकी वह अवस्था सत्ता नाम से अभिहित होती है। उत्कर्षण आदि के निमित्त से होनेवाले अपवाद को छोड़कर

साधारणतः प्रत्येक कर्म के विषय में नियम है कि वह बँधने के बाद कब से काम करने लगता है। बीच में जितने काल तक काम नहीं करता है उसकी आबाधाकाल संज्ञा है। आबाधाकाल के बाद प्रति समय एक एक निषेक काम करता है। यह काम विवक्षित कर्म के पूरे होने तक चालू रहता है। आगम में प्रथम निषेक की आबाधा दी गई है। शेष निषेकों की आबाधा क्रम से एक एक समय बढ़ती जाती है। इस हिसाब से अन्तिम निषेक की आबाधा एक समय कम कर्म-स्थिति प्रमाण होती है। आयुकर्म के प्रथम निषेक की आबाधा का क्रम जुदा है। शेष क्रम समान है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभाग के बढ़ाने की उत्कर्षण संज्ञा है। यह क्रिया बन्ध के समय ही सम्भव है। अर्थात् जिस कर्म का स्थिति और अनुभाग बढ़ाया जाता है उसका पुनः बन्ध होने पर पिछले बँधे हुए कर्म का नवीन बन्ध के समय स्थिति अनुभाग बढ़ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद इसके अनेक हैं।

अपकर्षण--स्थिति और अनुभाग के घटाने की अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादों को छोड़कर किसी भी कर्म की स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है। इतनी विशेषता है कि शुभ परिणामों से अशुभ कर्मों का स्थिति और अनुभाग कम होता है। तथा अशुभ परिणामों से शुभ कर्मों का स्थिति और अनुभाग कम होता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृति के परमाणुओं का सजातीय दूसरी प्रकृतिरूप हो जाना संक्रमण है यथा असाता के परमाणुओं का साता-रूप हो जाना। मूल कर्मों का परस्पर संक्रमण नहीं होता। यथा ज्ञानावरण दर्शनावरण नहीं हो सकता। आयुकर्म के अवान्तर भेदों का परस्पर संक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय रूप से या चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय रूप से ही संक्रमण होता है।

उदय—प्रत्येक कर्म का फल काल निश्चित रहता है। इसके प्राप्त होने पर कर्म के फल देनेरूप अवस्था की उदय संज्ञा है। फल देने के बाद उस कर्म की निर्जरा हो जाती है। आत्मा से जितने जाति के कर्म सम्बद्ध रहते हैं वे सब एकसाथ अपना काम नहीं करते। उदाहरणार्थ साता के समय असाता अपना काम नहीं करता। ऐसी हालत में असाता प्रति समय सातारूप परिणमन करता रहता है और फल भी उसका सातारूप ही होता है। प्रति समय यह क्रिया उदय काल के एक समय पहले हो लेती है। इतना सुनिश्चित है कि बिना फल दिये कोई भी कर्म जीर्ण नहीं होता।

उदीरणा—फल काल के पहले कर्म के फल देनेरूप अवस्था की उदीरणा संज्ञा है। कुछ अपवादों को छोड़कर साधारणतः कर्मों का उदय और उदीरणा सर्वदा होती रहती है। त्यागवश विशेष होती है। उदीरणा उन्हीं कर्मों की होती है जिनका उदय होता है। अनुदय प्राप्त कर्मों की उदीरणा नहीं होती। उदाहरणार्थ जिस मुनि के साता का उदय है उसके अपकर्षण साता और असाता दोनों का होता है किन्तु उदीरणा साता की ही होती है। यदि उदय बदल जाता है तो उदीरणा भी बदल जाती है इतना विशेष है।

उपशान्त—कर्म की वह अवस्था जो उदीरणा के अयोग्य होती है उपशान्त कहलाती है। उपशान्त अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण हो सकता है किन्तु इसकी उदीरणा नहीं होती।

निधत्ति—कर्म की वह अवस्था जो उदीरणा और संक्रमण इन दो के अयोग्य होती है निधत्ति कहलाती है। निधत्ति अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है किन्तु इसका उदीरणा और संक्रम नहीं होता।

निकाचना—कर्म की वह अवस्था जो उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा

और संक्रम इन चार के अयोग्य होती है निकाचना कहलाती है। इसका स्वमुखेन या परमुखेन उदय होता है। यदि अनुदय प्राप्त होता है तो परमुखेन उदय होता है नहीं तो स्वमुखेन ही उदय होता है। उपशान्त और निधत्ति अवस्था को प्राप्त कर्म का उदय के विषय में यही नियम जानना चाहिये।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि सातिशय परिणामों से कर्म की उपशान्त, निधत्ति और निकाचनारूप अवस्थायें बदली भी जा सकती हैं। ये कर्म की विविध अवस्थायें हैं जो यथायोग्य पाई जाती हैं॥ २४॥

पुण्य और पाप प्रकृतियों का विभाग—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

[1]अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं।

और इनसे अतिरिक्त शेष सब प्रकृतियाँ पाप रूप हैं।

प्रस्तुत दो सूत्रों द्वारा प्रकृतियों में पुण्य और पाप का विभाग किया गया है। उसका कारण शुभ और अशुभ परिणाम हैं। यह अनुभाग बन्ध के समय ही बतलाया जा चुका है कि परिणामों के अनुसार अनुभाग में विभाग होता है। दया दाक्षिण्य आदि उत्कृष्ट गुणों के रहते हुए जिन प्रकृतियों को प्रकृष्ट अनुभाग मिलता है वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं और हिंसा, असत्य आदि रूप परिणामों के रहते हुए जिन प्रकृतियों को प्रकृष्ट अनुभाग मिलता है वे पाप प्रकृतियाँ हैं। यद्यपि प्रशस्त परिणामों के रहते हुए भी पाप प्रकृतियों का और अप्रशस्त परिणामों

१ श्वेताम्बर परम्परा ने इसे सूत्र नहीं माना है।

के रहते हुए भी पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है पर ऐसे समय पुण्य या पाप प्रकृतियों को हीन अनुभाग मिलता है इसलिये प्रकृतियों में पुण्य और पाप का विभाग प्रकृष्ट अनुभाग की अपेक्षा से ही किया जाता है। अब आगे पुण्य और पाप प्रकृतियों का निर्देश करते हैं—

४२ पुण्य प्रकृतियाँ

साता वेदनीय, नरकायु के सिवा तीन आयु, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक आदि पाँच शरीर, औदारिक आदि तीन आंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रर्षभनाराच-संहनन, प्रशस्त स्पर्श, प्रशस्त रस, प्रशस्त गन्ध, प्रशस्त वर्ण, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर और उच्चगोत्र ये ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

८२ पाप प्रकृतियाँ

पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, नरकायु, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय आदि चार जाति, प्रथम संस्थान के सिवा पाँच संस्थान, प्रथम संहनन के सिवा पाँच संहनन, अप्रशस्त स्पर्श आदि चार, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीच गोत्र और पाँच अन्तराय ये ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं।

इसी प्रकार ये सब कर्म घाति और अघाति इन दो भागों में बटे हुए हैं। घातिरूप अनुभाग शक्ति के तारतम्य की अपेक्षा चार भेद हैं लता, दारु, अस्थि और शैल। इसके भी सर्वघाति और देशघाति ये दो भेद हैं। लतारूप अनुभाग शक्ति और दारु का कुछ भाग यह देशघाति अनुभाग शक्ति है। शेष सब सर्वघाति अनुभाग शक्ति है। यह देशघाति और सर्वघाति अनुभाग शक्ति पापरूप ही होती है। किन्तु

अघातिरूप अनुभाग शक्ति पुण्य और पाप दो प्रकार की होती है। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। गुड़, खाँड़, शर्करा और अमृत ये पुण्यरूप अनुभाग शक्ति के चार भेद हैं और नीम, कंजीर, विष और हलाहल ये पापरूप अनुभाग शक्ति के चार भेद हैं। जिसका जैसा नाम है वैसा उसका फल है। जो कर्म जीव के अनुजीवी गुणों का घात करते हैं उनकी घाति संज्ञा है और जो जीव के प्रतिजीवी गुणों का घात करते हैं उनकी प्रतिजीवी संज्ञा है। जीव के गुण दो भागों में बटे हुए हैं—अनुजीवी गुण और प्रतिजीवी गुण। इन गुणों के कारण ही कर्मों के घाति और अघाति ये भेद किये गये हैं। ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य, लाभ, दान, भोग, उपभोग और सुख ये अनुजीवी गुण हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये कर्म उक्त गुणों का घात करनेवाले होने से घाति कर्म कहलाते हैं और शेष अघाति कर्म हैं।

इस प्रकार आत्मा की परतन्त्रता का कारण क्या है, कर्म का स्वरूप क्या है, आत्मा से सम्बद्ध सूक्ष्म पुद्गलों को कर्म संज्ञा क्यों दी गई है और कर्म की विविध अवस्थाएँ क्या हैं इनका प्रसंगवश यहाँ संक्षेप में विचार किया॥ २५-२६॥

नवमाँ अध्याय

अब क्रमप्राप्त संवर और निर्जरा तत्त्व का निरूपण करते हैं—

संवर का स्वरूप—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

आस्रव का निरोध संवर है।

जिस निमित्त से कर्म बंधते हैं वह आस्रव है, आस्रव की ऐसी व्याख्या पहले कर आये हैं। उस आस्रव का रुक जाना संवर है। यद्यपि यहाँ आस्रव के निरोध को ही संवर कहा है पर इसका यह आशय है कि आस्रव का निरोध होने पर संवर होता है। आस्रव का निरोध कारण है और संवर कार्य है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके आस्रव के निरोध को संवर कहा है। इसके दो भेद हैं—द्रव्य संवर और भावसंवर। संसार की निमित्तभूत क्रिया की निवृत्ति होना भावसंवर है और कर्म पुद्गल का न आना द्रव्यसंवर है।

मुख्यतया कर्मबन्ध के कारण पाँच हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये यथायोग्य विवक्षित गुणस्थान तक होते हैं आगे नहीं होते।

गुणों के स्थान गुणस्थान कहलाते हैं। प्रकृत में गुण जीव के वे परिणाम हैं जो कर्म निमित्त सापेक्ष होते हैं। इनसे संसारी जीव विविध अवस्थाओं में विभक्त हो जाते हैं। प्रकृत में इन्हीं विविध अवस्थाओं की गुणस्थान संज्ञा है।

यद्यपि वर्तमान काल में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इन गुण-स्थानों का विवेचन किया जाता है। जिसे वर्तमान में आध्यात्मिक

विकास कहा जाता है वह उत्क्रान्ति का पर्यायान्तर है पर हम आध्यात्मिक विकास की इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं, क्योंकि साधारणतः गुणस्थान विचार में जो सरणी स्वीकार की गई है उत्क्रान्तिवाद में उसका अभाव दिखाई देता है। उत्क्रान्तिवाद में काल क्रम से क्रमिक विकास लिया जाता है। ऐसा क्रमिक विकास गुणस्थान प्रकरण में कथमपि इष्ट नहीं है। हम देखते हैं कि जो जीव योग्य सामग्री के मिलने पर आगे के गुणस्थानों को प्राप्त होता है वह उस सामग्री के अभाव में पुनः पिछले गुणस्थानों में लौट जाता है। परन्तु उत्क्रान्तिवाद का अभिप्राय इससे सर्वथा भिन्न है। उत्क्रान्तिवादियों का मत है कि प्रत्येक वस्तु का विकास क्रम से हुआ है। उदाहरणार्थ सुदूर पूर्व काल में मनुष्य बन्दर या ऐसी ही किसी शक्ल में था। परिस्थितियों से लड़ते-लड़ते वह इस अवस्था को प्राप्त हुआ है। किन्तु जैनदर्शन इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता। उसके मत से जिन वस्तुओं का निर्माण मनुष्य करता है उनमें उत्तरोत्तर सुधार भले ही बन जाय पर सभी कार्यों का निर्माण इसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं माना जा सकता। अनन्त काल पहले मनुष्य की जो शक्ल थी या वह अपनी आभ्यन्तर योग्यता जितनी और जिस क्रम से घटा बढ़ा सकता था वही क्रम आज भी चालू है। पूर्व काल में वह बहुत ही अविकसित अवस्था में था और वर्तमान काल में उसमें बड़ा विकास हो गया है यह बात नहीं है। किसी बात का निर्देश करते समय हमें वस्तुस्थिति पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। दार्शनिक जगत् में ऐसी गलतियाँ क्षम्य नहीं मानी जा सकती हैं। यहाँ हमारा अभिप्राय प्राचीनता के आग्रह से नहीं है और न हम नवीनता के विरोधी ही हैं। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि हमें कार्यकारण भाव का समग्र भाव से विश्लेषण कर किसी तत्त्व की स्वीकृति देनी चाहिये। अच्छे व हृदयग्राही शब्दों का प्रयोग करना दूसरी बात है और वस्तु स्थिति

पर दृष्टि रखना दूसरी बात है। यहाँ हम इस तत्त्व का विस्तृत व्याख्यान नहीं करना चाहते। केवल प्रसंगवश इतना संकेत मात्र किया है, क्योंकि अधिकतर विद्वान् गुणस्थानों के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रायः उत्क्रान्तिवाद में प्रयुक्त हुए शब्दों की रोचकतावश वस्तुस्थिति को भूल जाते हैं।

गुणस्थान चौदह हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

मिथ्यादर्शन का निर्देश पहले कर आये हैं। वह जिसके पाया जाता हैं वह मिथ्यादृष्टि है। जो सम्यक्त्व (उपशम सम्यक्त्व) से च्युत होकर भी मिथ्यात्व को नहीं प्राप्त हुआ है। अर्थात् जिसकी दृष्टि न सम्यक्त्व रूप है, न मिथ्यात्व रूप और न उभयरूप है वह सासादनसम्यग्दृष्टि है। जिसकी दृष्टि सम्यक्त्व और मिथ्यात्व उभयरूप है वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। अविरत होकर जो सम्यग्दृष्टि है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है। जो स्थावर हिंसा से विरत न होकर भी त्रसहिंसा से विरत है वह देशविरत है। जिसके प्रमाद के साथ संयमभाव पाया जाता है वह प्रमत्तसंयत है। जिसके प्रमाद के अभाव में संयमभाव पाया जाता है वह अप्रमत्तसंयत है। इसके दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। जो प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त होता रहता है वह स्वस्थान अप्रमत्तसंयत है और जो आगे बढ़ने में सफल होता है वह सातिशय अप्रमत्तसंयत है। इस सातिशय अप्रमत्तसंयत के अधःकरण परिणाम होते हैं। अधःकरण का अर्थ है नीचे के परिणाम। आशय यह है कि जहाँ काल की अपेक्षा आगे के परिणाम पीछे के परिणामों के समान भी होते हैं वे अधःकरण परिणाम हैं। जहाँ पहले नहीं प्राप्त हुए ऐसे परिणाम प्राप्त होते हैं उसे

अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें प्रति समय अपूर्व अपूर्व परिणाम प्राप्त होते हैं। जहाँ एक समयवालों के एक से परिणाम होते हैं उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। जहाँ लोभ कषाय सूक्ष्म रह जाती है उसे सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। जहाँ मोह उपशम भाव को प्राप्त हो जाता है उसे उपशान्तमोह कहते हैं। जहाँ मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है उसे क्षीणमोह कहते हैं। जहाँ केवलज्ञान के साथ योग पाया जाता है उसे सयोगकेवली कहते हैं और जहाँ केवलज्ञान तो है पर योग का अभाव हो गया है उसे अयोगकेवली कहते हैं।

इसमें से प्रथम गुणस्थान में बन्ध के पाँचों हेतु पाये जाते हैं, इसलिये यहाँ सभी कर्मों का आस्रव सम्भव है। मात्र सम्यक्त्व के सद्भाव में आस्रवभाव को प्राप्त होनेवाले तीर्थंकर और आहारकद्विक का यहाँ आस्रव नहीं होता। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है इसलिये वहाँ मिथ्यात्व के निमित्त से आस्रवभाव को प्राप्त होनेवाले १६ कर्मों का संवर हो जाता है। वे १६ कर्म ये हैं—मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, हुंडसंस्थान, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर। इनका आगे के किसी भी गुणस्थान में आस्रव नहीं होता।

दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के उदय से प्राप्त होनेवाली अविरति पाई जाती है और तीसरे गुणस्थान में उसका अभाव हो जाता है, इसलिये वहाँ इस निमित्त से आस्रवभाव को प्राप्त होनेवाले २५ कर्मों का संवर हो जाता है। वे २५ कर्म ये हैं—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यञ्चायु, तिर्यंचगति, बीच के चार संस्थान, बीच के चार संहनन, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र।

इनका तीसरे आदि किसी भी गुणस्थान में आस्रव नहीं होता। तीसरे गुणस्थान में इतनी विशेषता है कि वहाँ आयु के आस्रव के योग्य परिणाम नहीं होते इसलिये वहाँ किसी आयु का भी आस्रव नहीं होता।

चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण के उदय से प्राप्त होनेवाली अविरति पाई जाती है और पाँचवें गुणस्थान में उसका अभाव हो जाता है इसलिये वहाँ इस निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने-वाले १० कर्मों का संवर हो जाता है। वे १० कर्म ये हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन और मनुष्यगत्यानुपूर्वी।

इनका पाँचवें आदि किसी भी गुणस्थान में आस्रव नहीं होता। इतनी विशेषता है कि चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु, देवायु और तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होना सम्भव है।

पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण के उदय से प्राप्त होनेवाली अविरति पाई जाती है और छठे गुणस्थान में उसका अभाव हो जाता है इसलिये वहाँ इस निमित्त से आस्रव को प्राप्त होनेवाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कर्मों का संवर हो जाता है। अगले किसी भी गुणस्थान में इनका आस्रव नहीं होता।

छठे गुणस्थान में प्रमाद पाया जाता है और आगे उसका अभाव हो जाता है, इसलिये वहाँ प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होनेवाले ६ कर्मों का संवर हो जाता है। वे ६ कर्म ये हैं—असाता-वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति। अगले किसी भी गुणस्थान में इनका आस्रव नहीं होता। इतनी विशेषता है कि छठे गुणस्थान से आहारक द्विक का आस्रव होने लगता है।

देवायु का आस्रव सातवें गुणस्थान तक सम्भव है, आगे नहीं, इसलिये आठवें गुणस्थान में उसका संवर कहा है।

निद्रा और प्रचला का आस्रव आठवें गुणस्थान के कुछ भाग तक सम्भव है। आगे इनका संवर हो जाता है।

देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकआंगोपांग, आहारकआंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, और तीर्थंकर इनका आठवें गुणस्थान के कुछ और आगे के भागों तक आस्रव सम्भव है। आगे इनका संवर हो जाता है।

हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इनका आठवें गुणस्थान के अन्तिम भाग तक आस्रव होता है, इसलिये नौवें गुणस्थान में इनका संवर होता है।

नौवें गुणस्थान तक यथासम्भव पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का आस्रव होता है, इसलिये आगे इनका संवर हो जाता है।

दसवें गुणस्थान तक पाँच ज्ञानावरण, शेष चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन १६ प्रकृतियों का आस्रव होता है इसलिये आगे के गुणस्थानों में इनका संवर कहा है।

केवल योग के निमित्त से बँधनेवाले सातावेदनीय का तेरहवें गुणस्थान तक आस्रव होता है इसलिये अयोगकेवली गुणस्थान में इसका संवर कहा है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में आस्रव के सब निमित्त होते हैं। सासादन आदि में मिथ्यात्व निमित्त का अभाव हो जाता है। अविरति का अभाव छठे गुणस्थान से होता है। प्रमाद का अभाव सातवें गुण-

स्थान से होता है। कषाय का अभाव ग्यारहवें गुणस्थान से होता है। और योग तेरहवें गुणस्थान तक रहता है।

ये आस्रव के कारण हैं। इनका अभाव होने पर उस उस निमित्त से होनेवाला आस्रव नहीं होता इसलिये यहाँ आस्रव के निरोध को संवर कहा है ॥ १ ॥

संवर के उपाय—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

तप से संवर और निर्जरा होती है।

जो संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा करता है वह गुप्ति कहलाती है। प्राणियों को पीड़ा न हो इसलिये भले प्रकार विचारपूर्वक बाह्य प्रवृत्ति करना समिति है। जो इष्ट स्थान में धरता है वह धर्म है। शरीर आदि के स्वभाव का बार बार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुधादिजन्य वेदना के होने पर सहन करना परीषह है और परीषह का जय परीषहजय है। तथा राग और द्वेष को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष की चर्या सम्यक् चारित्र है। इनसे कर्मों के आस्रव का निरोध होता है इसलिये संवर के उपायरूप से इनका निर्देश किया है।

शंका—अभिषेक, दीक्षा, आदि का संवर के कारणों में निर्देश क्यों नहीं किया ?

समाधान—प्रवृत्तिमूलक क्रियामात्र संवर का कारण न हो कर आस्रव का कारण है इसलिये यहाँ उनका निर्देश नहीं किया है।

इनके सिवा संवर का प्रमुख कारण तप भी है। इसलिये संवर के

उपायों में तप की भी परिगणना की है। किन्तु तपमात्र संवर का कारण न हो कर निर्जरा का भी कारण है, इसलिये तप से कर्मों की निर्जरा होती है यह भी कहा है।

शंका—साधारणतया तप स्वर्गादिक की प्राप्ति का साधन माना जाता है, इसलिये तप के निमित्त से कर्मों की निर्जरा मानना इष्ट नहीं है ?

समाधान—तप न केवल स्वर्गादिक की प्राप्ति का साधन है अपि तु वह मोक्ष की प्राप्ति का भी साधन है। तपश्चरण के समय विद्यमान कषाय भाव स्वर्गादिक की प्राप्ति का साधन है और उत्तरोत्तर कषाय का अभाव मोक्ष की प्राप्ति का साधन है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ॥ २-३ ॥

गुप्ति का स्वरूप—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है।

मन, वचन और काय इन तीन प्रकार के योगों की स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति न होना योगनिग्रह है। यह अच्छे उद्देश्य से भी किया जाता है और बुरे उद्देश्य से भी। प्रकृत में ऐसा योगनिग्रह ही गुप्ति मानी गई है जो अच्छे उद्देश्य से किया गया हो।

गुप्ति का जीवन के निर्माण में बड़ा हाथ है, क्योंकि भवबन्धन से मुक्ति इसके बिना नहीं मिलती। किन्तु गुप्ति में मात्र बाह्य प्रवृत्ति का निषेध इष्ट न होकर प्रवृत्तिमात्र का निषेध लिया गया है।

फिर भी जहाँ तक चारित्र का सम्बन्ध है इसमें अप्रशस्त क्रिया का निग्रह तो इष्ट है ही प्रशस्त क्रिया में भी शारीरिक क्रिया का नियमन करना, मौन धारण करना और संकल्प विकल्प से जीवन की रक्षा करना क्रमशः कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति है।

यह तीनों प्रकार की गुप्ति आस्रव का निरोध करने में सहायक होने से संवर का कारण मानी गई है ॥ ४ ॥

समिति के भेद—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

सम्यग् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदान निक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

यह तो है ही कि जब तक शरीर का संयोग है तब तक किसी न किसी प्रकार की क्रिया अवश्य होगी। मुनि गमनागमन भी करेगा, आचार्य, उपाध्याय, साधु या अन्य जनों से सम्भाषण भी करेगा, भोजन भी लेगा, संयम और ज्ञान के साधनभूत पीछी, कमण्डलु और शास्त्र का व्यवहार भी करेगा और मल मूत्र आदि का त्याग भी करेगा। यह नहीं हो सकता कि मुनि होने के बाद वह एक साथ सब प्रकार की क्रिया का त्याग कर दे। तथापि जो भी क्रिया की जाय वह विवेकपूर्वक ही की जाय इसीलिये पाँच प्रकार की समितियों का निर्देश किया गया है। साधु के इस प्रकार प्रवृत्ति करने से असंयमभाव का परिहार हो कर तन्निमित्तक कर्म का आस्रव नहीं होता।

किसी भी प्राणी को मेरे निमित्त से क्लेश न हो एतदर्थ सावधानी पूर्वक गमन करना ईर्या समिति है। अधिकतर गृहस्थ किसी साधु की ऐसी स्तुति करते हुए पाये जाते हैं कि अमुक मुनि इतने जोर से चलते हैं कि साधारण आदमी को उनके पीछे दौड़ना पड़ता है। पर यह गुण नहीं है। ऐसा करने से भले प्रकार संयम की रक्षा होना संभव नहीं है। मुनि को चलते समय बोलना आदि अन्य क्रियायें भी कम करनी चाहिये। नासाग्र दृष्टि रहने से ही चार हाथ प्रमाण भूमि का भले प्रकार से शोधन हो सकता है। गमन करते समय ईर्या समिति का पालन करना मुनि का आवश्यक कर्त्तव्य है। २—सत्य होते

हुए भी हित, मित और मिष्ट वचन बोलना भाषा समिति है। ३—एषणा का अर्थ चर्या है। ४६ दोष और ३२ अन्तराय टालकर भोजन लेना एषणा समिति है। ४—पीछी कमण्डलु आदि उपकरणों को व शास्त्र को देख भाल कर व प्रमार्जित करके लेना व रखना आदान-निक्षेपण समिति है। ५—जन्तु रहित प्रदेश में देख भाल कर व प्रमार्जन करके मल-मूत्र आदि का त्याग करना उत्सर्ग समिति है।

शंका—गुप्ति और समिति में क्या अन्तर है?

समाधान—गुप्ति में क्रियामात्र का निषेध मुख्य है और समिति में जो भी आवश्यक क्रिया की जाय वह सावधानीपूर्वक की जाय इसकी मुख्यता है॥ ५॥

धर्म के भेद—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः॥ ६॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म है।

क्षमा का अर्थ है क्रोध के कारण मिलने पर भी क्रोध न होकर सहनशीलता का बना रहना और क्रोध के कारणों पर कलुषता का न होना। भीतर और बाहर नम्रता धारण करना और अहंकार पर विजय पाना ही मार्दव है। अधिकतर कुल, जाति, बल, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, धन आदि के निमित्त से अहंकार उत्पन्न होता है। इनमें से कुछ कल्पित हैं और कुछ विनश्वर हैं अतः इनके निमित्त से चित्त में अहंकार नहीं पैदा करना भी मार्दव है। काय, वचन और मन की प्रवृत्ति को सरल रखना आर्जव है। सब प्रकार के लोभ का त्याग करना यहाँ तक कि धर्म के साधन और शरीर में भी आसक्ति न रखना शौच है।

साधु पुरुषों के लिये हितकारी वचन बोलना सत्य है। प्रत्येक मनुष्य के साथ हितकारी और परिमित संभाषण करना भाषा समिति है और केवल साधुओं और उनके भक्तों के प्रति हित, मित और यथार्थ वचन बोलना सत्यधर्म है यही भाषा समिति से सत्यधर्म में अन्तर है। षट्काय के जीवों की भले प्रकार से रक्षा करना और इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में नहीं प्रवृत्त होने देना संयम है। कर्मों को निर्मूल करने के निमित्त जो बाह्य और आभ्यन्तर तप तपे जाते हैं अर्थात् अच्छे उद्देश्य से त्याग के आधारभूत नियमों को अपने जीवन में उतारना तप है। संयत को ज्ञानादि सद्गुणों का प्रदान करना त्याग है। किसी भी वस्तु में यहाँ तक कि शरीर में भी ममत्व बुद्धि न रखना आकिंचन्य है। स्त्री विषयक सहवास, स्मरण और कथा आदि का सर्वथा त्याग करके सुगुप्त रहना, तथा पुनः स्वच्छन्द प्रवृत्ति न होने पावे इसलिये संघ में निवास करना ब्रह्मचर्य है। इन दस प्रकार के धर्मों को अपने जीवन में उतार लेने से ही उनके प्रतिपक्षी भावों का निरास होता है और इसलिये ये धर्म संवर के उपाय बतलाये गये हैं। ऐसे क्षमा आदिक जिनसे ऐहिक प्रयोजन की सिद्धि होती है संवर के कारण नहीं हैं यह बतलाने के लिये उत्तम विशेषण दिया है।

धर्म आत्मा का स्वभाव है और जीवन में आये हुए विकार का नाम अधर्म है। यद्यपि दस धर्मों में इसी धर्म का आत्मा की विविध अवस्थाओं द्वारा कथन किया गया है फिर भी यहाँ इस दृष्टि को सामने रखकर मात्र धर्म का व्यवहार परक अर्थ दिया गया है॥ ६॥

अनुप्रेक्षा के भेद—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोक-बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः॥ ७॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव,

संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म का स्वाख्यातत्व इनका चिन्तवन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है पुनः पुनः चिन्तवन करना। जब यह प्राणी संसार और संसार की अनित्यता आदि के विषय में और साथ ही आत्मशुद्धि के कारण भूत भिन्न-भिन्न साधनों के विषय में पुनः पुनः विचार करता है तो इससे इसकी संसार और संसार के कारणों के प्रति विरक्ति होकर धर्म के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न होती है जिससे ये सब अनुप्रेक्षाएँ संवर का साधन बनती हैं, इसी से यहाँ इनका संवर के उपाय रूप से वर्णन किया गया है। अनुप्रेक्षाओं को भावना भी कहते हैं। ये सब मिलकर बारह बतलाई गई हैं। इसका यह मतलब नहीं कि इनके सिवा अन्य के विषय में चिन्तवन नहीं किया जा सकता है। उपयोगानुसार न्यूनाधिक विषय भी चुने जा सकते हैं। किन्तु मध्यम प्रतिपत्ति से यहाँ बारह विषय चुने गये हैं। इनके चिन्तवन से जीवन का संशोधन करने में सहायता मिलती है और कर्मों का संवर होकर आत्मा मोक्ष का पात्र बनता है।

शरीर, इन्द्रिय, विषय और भोगोपभोग ये जितने हैं सब जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव और वियुक्त होनेवाले हैं। व्यर्थ ही अज्ञ प्राणी मोहवश इन्हें नित्य मान बैठा है परन्तु आत्मा के ज्ञान दर्शन रूप स्वभाव को छोड़कर संसार में और कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। इस प्रकार चिन्तवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से प्राप्य वस्तु के वियोग में दुःख नहीं होता।

अनित्यानुप्रेक्षा

इस जग में यह प्राणी जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधियों से घिरा हुआ है, यहाँ इसका कोई भी शरण नहीं है। भोजन शरीर की स्थिति में चाहे जितनी सहायता करे पर दुःखों के प्राप्त होने पर उसका कोई उपयोग नहीं होता। धन चाहे

अशरणानुप्रेक्षा

जितना संचित किया जाय पर मरण से वह भी नहीं बचा सकता। जिवलग मित्र तो जाने दीजिये इन्द्र भी आकर इसको मरने से नहीं बचा सकता। तत्त्वतः जग में धर्म के सिवा इसका और कोई शरण-भूत नहीं है। इस प्रकार चिन्तवन करना अशरणानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से संसार से ममता छूटकर धर्म में आस्था उत्पन्न होती है।

संसारानुप्रेक्षा

यह प्राणी जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ जिसका कभी पिता रहा है उसी का भाई, पुत्र या पौत्र हो जाता है। इसी प्रकार माता होकर बहिन, स्त्री या लड़की हो जाता है, बहुत अधिक कहने से क्या कभी कभी तो स्वयं अपना पुत्र भी हो जाता है। संसार का यही स्वभाव है। इसमें कौन स्वजन है और कौन परिजन है इसका कोई भेद नहीं है। व्यर्थ ही मोहवश यह प्राणी स्वजन परिजन की कल्पना किया करता है। इस प्रकार का चिन्तवन करना संसारानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से संसार से वैराग्य पैदा होकर यह प्राणी संसार के नाश के लिये उद्यत होता है।

एकत्वानुप्रेक्षा

मैं अकेला ही जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। स्वजन या परिजन ऐसा कोई नहीं जो मेरे दुःखों को हर सके। कोई भाई बनता है तो कोई मित्र, पर वे सब स्मशान तक ही साथी हैं। एक धर्म ही ऐसा है जो सदा साथ देता है। ऐसा चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से स्वजनों में प्रीति और परजनों में द्वेष नहीं होकर केवल वह अकेलेपन का अनुभव करता हुआ मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है।

शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ, शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, संसार

में परिभ्रमण करते हुए मैंने हजारों शरीर धारण किये पर मैं जहाँ का तहाँ हूँ। इस प्रकार जब कि मैं शरीर से ही अलग हूँ तब अन्य बाह्य पदार्थों से मैं अविभक्त कैसे हो सकता हूँ। इस प्रकार शरीर और बाह्य पदार्थों से अपने को भिन्न चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से शरीर में स्पृहा नहीं होती किन्तु यह प्राणी तत्त्वज्ञान की भावना करता हुआ वैराग्य में अपने को जुटाता है जिससे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

शरीर अत्यन्त अपवित्र है, यह शुक्र शोणित आदि सात धातुओं और मल-मूत्र आदि से भरा हुआ है। इससे निरन्तर मल झरता रहता है। इसे चाहे जितना स्नान कराइये, सुगंधी तेल का मालिश करिये, सुगन्धी उवटन लगाइए तो भी इसकी अपवित्रता दूर नहीं की जा सकती। भला जिसका जो स्वभाव है वह कैसे दूर किया जा सकता है। वास्तव में देखा जाय तो इसके सम्पर्क से जीव भी अशुचि हो रहा है। यद्यपि जीव की अशुचिता सम्यग्दर्शनादि उत्तम गुणों की भावना से दूर की जा सकती है पर शरीर की अशुचिता तो कथमपि नहीं मेटी जा सकती। इस प्रकार से चिन्तवन करना अशुच्यनुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से शरीर से वैराग्य होकर यह जीव संसारसमुद्र से पार होने के लिये प्रयत्न करता है।

अशुचि-अनुप्रेक्षा

इन्द्रिय, कषाय और अव्रत आदिक जो कि महानदी के प्रवाह के समान अति तीक्ष्ण हैं, उभयलोक में दुखदायी हैं। इन्द्रियविषयों की विनाशकारी लीला तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। बनगज कौआ, सर्प, पतंग और हरिण आदि इन्हीं के कारण विविध दुःख भोगते हैं। यही बात कषाय आदि की भी है, बाँधा जाना, मारा जाना, नाना दुःखों का भागी होना यह सब इन्हीं का फल है और इनके कारण परलोक में भी नाना दुःख उठाने पड़ते हैं,

आस्रवानुप्रेक्षा

इस प्रकार चिन्तवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से इन्द्रिय आदिक आस्रवों से निवृत्ति होकर क्षमा आदि में प्रवृत्ति होती है जिससे यह आत्मा आत्मकल्याण के लिये यत्न करता है।

संवरानुप्रेक्षा

संवर आस्रव का विरोधी है। उत्तम क्षमा आदि संवर के उपाय हैं। इन्हें अपने जीवन में उतार लेने पर जीव को अधिक दिन तक संसार में नहीं भटकना पड़ता है। संवर के बिना आत्मशुद्धि होना कठिन है, इस प्रकार से चिन्तवन करना संवरानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से इसकी संवर और संवर के कारणों में आस्था उत्पन्न होती है।

निर्जरानुप्रेक्षा

फल देकर कर्मों का झरना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है— अबुद्धिपूर्वक और कुशलमूला। जो विविध गतियों में फल काल के प्राप्त होने पर निर्जरा होती है वह अबुद्धिपूर्वक निर्जरा है। यह सब प्राणियों के होती है। किन्तु तपश्चर्या के निमित्त से फल काल के बिना प्राप्त हुए स्वोदय या परोदय से जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। इसमें निर्जरा का यह दूसरा भेद ही कार्यकारी है। इस प्रकार निर्जरा के गुण दोष का विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करने से जीव की प्रवृत्ति तपश्चर्या की ओर होती है।

लोकानुप्रेक्षा

लोक के स्वभाव का चिन्तवन करना कि यद्यपि लोक अनादि निधन और अकृत्रिम है तो भी इसमें स्थित प्राणी नाना दुःख उठा रहे हैं लोकानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

जैसे समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता का मिलना दुर्लभ है वैसे ही एकेन्द्रिय से त्रसपर्याय का मिलना दुर्लभ है। यदि त्रसपर्याय भी मिल गई तो उसमें पंचेन्द्रियत्व का प्राप्त होना इतना ही कठिन है जितना कि चौपथ पर रत्नों की

राशि का मिलना कठिन है। इस प्रकार उत्तरोत्तर संज्ञी होना, पर्याप्त होना, मनुष्य होना, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के योग्य साधनों का मिलना ये सब कठिन हैं। यदा कदाचित् इनकी प्राप्ति भी हो जाय तो भी रत्नत्रय की प्राप्ति होना सहज बात नहीं है। इस प्रकार का चिन्तवन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। ऐसी भावना करने से बोधि को प्राप्त करके यह जीव प्रमादी नहीं होता।

जिन देव ने जिस धर्म का उपदेश दिया है उसका लक्षण अहिंसा है जिसकी पुष्टि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, विनय, क्षमा, विवेक आदि धर्मों व गुणों से होती है। जो प्राणी इसे धारण नहीं करता उसे संसार में भटकना पड़ता है, इस प्रकार से चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तवन करने से जीव का धर्म में अनुराग बढ़ता है।

धर्मस्वाख्यात-त्वानुप्रेक्षा

ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं जिनका चिन्तवन कर साधु अपने वैराग्यमय जीवन को सुदृढ़ बनाते हैं इसलिए इन्हें संवर का कारण कहा है॥ ७॥

परीषहों का वर्णन—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

सूक्ष्मसम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

मार्ग से च्युत न होने के लिये और कर्मों का क्षय करने के लिए जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं।

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नामवाले बाईस परीषह हैं।

सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थवीतराग में चौदह परीषह सम्भव हैं।

जिन भगवान में ग्यारह परीषह सम्भव हैं।

बादरसाम्पराय में सभी अर्थात् बाईस ही परीषह सम्भव हैं।

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव में क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।

चारित्रमोह के सद्भाव में नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होते हैं।

बाकी के सब परीषह वेदनीय के सद्भाव में होते हैं।

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्प से सम्भव हैं।

संवर के उपायों में परीषहजय भी एक उपाय बतलाया है,

इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि परीषहों का विस्तृत विवेचन किया जाय। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत सूत्रों द्वारा सूत्रकारने परीषहों का लक्षण, उनकी संख्या, उनके स्वामी का निर्देश, उनके कारणों का निर्देश और एक साथ एक जीव में सम्भव परीषहों की संख्या इन पाँच बातों का निर्देश किया है। जिनका यहाँ अनुक्रम से विचार करते हैं—

लक्षण विचार

जीवन में अन्तरंग और बहिरंग कारणों से विविध प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं और समता या व्यग्रता से उन्हें सहन भी करना पड़ता है। किन्तु जो आपत्तियाँ अच्छे उद्देश्य से सही जाती हैं उनका फल अच्छा ही होता है। सबसे अच्छा उद्देश्य मोक्षमार्ग पर स्थिर रहना और कर्मों की निर्जरा करना इन दो बातों के सिवा और क्या हो सकता है, क्योंकि इन दोनों का फल मोक्ष है इसीलिये यहाँ इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये जो स्वकृत या परकृत आपत्तियाँ स्वेच्छा से सहन करने योग्य हैं उन्हें परीषह कहते हैं यह बतलाया है।

संख्या विचार

प्रकृत में ऐसे परीषह बाईस बतलाये हैं। यद्यपि यह संख्या न्यूनाधिक भी की जा सकती है तथापि मुनि की क्रिया को ध्यान में रख कर मुख्यतः जीवन में किस किस प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होती है जिसका समता पूर्वक निर्विकल्प भाव से सहन कर लेना आवश्यक है यह जानकर परीषह बाईस ही नियत किये गये हैं। इन बाईस परीषहों पर किस प्रकार विजय पानी चाहिये अब अनुक्रम से इसका विचार करते हैं—१, २ भूख और प्यास की उत्कट बाधा उपस्थित होने पर भी चित्त को उस ओर न ले जाना और मन में उनका विकल्प ही नहीं होने देना क्रम से क्षुधा और पिपासा परीषहजय है। ३, ४ चाहे माघ की ठंड हो या ज्येष्ठ की गरमी तथापि इस ओर किसी प्रकार का ध्यान न जाना और ठंडी

तथा गरमी को समतापूर्वक सह लेना अनुक्रम से शीत और उष्ण परीषहजय है। ५ डांस मच्छर आदि जन्तुओं का उपद्रव होने पर खिन्न न होते हुए उसे समभाव से सह लेना और तत्सम्बन्धी किसी प्रकार का विकल्प मन में न लाना दंशमशक परीषहजय है। ६ नग्नता को धारण कर किसी प्रकार की लज्जा और ग्लानि का अनुभव नहीं करना और उसके योग्यतापूर्वक निर्वाह के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का धारण करना नग्नता परीषहजय है। ७ यद्यपि निर्जन वन और तरु-कोटर आदि में सबका मन नहीं लग सकता तथापि साधु वहाँ निवास करता हुआ भी अपने प्रतिदिन के कर्तव्यों में तत्पर रहता है, इससे उसे रंचमात्र भी ग्लानि नहीं होती, यह उसका अरति परीषहजय है। ८ कोई साधु एकान्त पर्वत गुफा आदि में तपश्चर्या या स्वाध्याय आदि कर रहा है ऐसी हालत में यदि कोई युवती आकर उसे फुसलाने लगे, उसके अवयवों से क्रीड़ा करनी चाहे तो भी सुगुप्त रहना मन को अपने काबू में रखना स्त्री परीषहजय है। ९ देशान्तर में धर्महेतु पर्यटन करते हुए चर्यासम्बन्धी बाधाओं को समतापूर्वक सह लेना उनका मन में विकल्प न होना चर्या परीषह जय है। १० वीरासन, उत्कुटिका-सन आदि विविध प्रकार की आसनों को लगाकर ध्यान करते हुए यदि तन्निमित्तक किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो तो उसे समतापूर्वक सह लेना उसका मन में किसी प्रकार का विकल्प न होना निषद्या परीषह-जय है। ११ नीची ऊँची और कठोर किन्तु निर्दोष भूमि के मिलने पर रात्रि के उत्तरार्ध में उस पर एक पार्श्व से किंचित् निद्रा लेते समय भूमि जन्य बाधा को शान्ति से सह लेना और उसका विकल्प मन में नहीं लाना शय्यापरीषहजय है। १२ मुनि जीवन के माहात्म्य को न समझ कर यदि कोई अज्ञानी कठोर और अप्रिय वचन कहे तो भी उन्हें शान्ति से सह लेना और अप्रिय बोलनेवाले के प्रति मन में बुरा भाव न लाना आक्रोश परीषहजय है। १३ अंग प्रत्यंग का छेद डालना,

मारना ताड़ना आदि व्यापार के होने पर भी उसे सहज भाव से सह लेना और इसे आत्म-शुद्धि के लिये उपकारी मानना वधपरीषह जय है। १४ भूख प्यास की बाधा सहते-सहते यद्यपि शरीर कृश हो गया है तथापि जिसके मन में याचना का भाव नहीं है और भिक्षा के समय सहज भाव से यदि आहार पानी मिल जाय तो स्वीकार करता है अन्यथा मन में अलाभ जन्य विकल्प नहीं आने देता याचना परीषह-जय है। १५ आहार पानी के लिये पर्यटन करते हुए आहार पानी के न मिलने पर किसी प्रकार का विकल्प न करना अलाभ परीषह जय है। १६ ठंडी गरमी आदि के निमित्त से अनेक रोगों के होने पर भी व्याकुल न होना और शान्तिपूर्वक उन्हें सह लेना रोग परीषह जय है। १७ चलते समय, बैठे हुए या शयन में तृण कांटे आदि के शरीर में चुभने पर भी उसे सह लेना अर्थात् मन में किसी प्रकार का विकल्प न लाना तृण स्पर्श परीषहजय है। १८ शरीर में पसीना आदि के निमित्त से खूब मल जम गया है तो भी उद्विग्न न होना और स्नान आदि की अभिलाषा न रखना मल परीषहजय है। १९ विविध प्रकार के सत्कार और आमंत्रण आदि के मिलने पर भी उससे नहीं फूलना और ऐसा न होने पर दुःखी नहीं होना सत्कारपुरस्कार परीषहजय है। २० प्रज्ञातिशय के प्राप्त हो जाने पर उसका गर्व न करना प्रज्ञा परीषहजय है। २१ विविध प्रकार की तपश्चर्या आदि के करने पर भी अवधिज्ञान आदि के न प्राप्त होने पर खेद खिन्न न होना और इसे कर्म फल मानना अज्ञान परीषहजय है। २२ बहुत तपश्चर्या की तब भी ज्ञान का अतिशय नहीं प्राप्त हुआ। ऐसा सुना जाता है कि अमुक मुनि को बड़े अतिशय प्राप्त हुए हैं। मालूम होता है कि यह सब प्रलापमात्र है। यह प्रव्रज्या ही निष्फल है। यदि इसमें कुछ भी सार होता तो मुझे वैसा माहात्म्य क्यों नहीं प्राप्त होता इत्यादि प्रकार से अश्रद्धा न होने देना और जिनोदित मार्ग में दृढ़ श्रद्धा रखना अदर्शन परीषहजय है।

जिसमें साम्पराय—लोभ कषाय अति सूक्ष्म पाया जाता है ऐसे सूक्ष्मसाम्परायिक गुण स्थान में तथा छद्मस्थवीतराग अर्थात् उपशान्त-मोह और क्षीणमोह गुणस्थान में चौदह ही परीषह सम्भव हैं। वे ये हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान। मोहनीय के निमित्त से होनेवाली बाकी की आठ परीषह इन गुणस्थानों में नहीं होतीं। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में मोहनीय का उदय नहीं होता इसलिये मोहनीय निमित्तक आठ परीषहों का वहाँ न होना सम्भव भी है तथापि दसवें गुणस्थान में इनका अभाव बतलाने का कारण यह है कि इस गुणस्थान में जो केवल सूक्ष्म लोभ का उदय होता है वह अति सूक्ष्म होता है, इसलिये इस गुणस्थानवर्ती जीवों को भी वीतरागछद्मस्थ के समान मान कर यहाँ मोह निमित्तक परीषहों का सद्भाव नहीं बतलाया है।

स्वामी

शंका—ये दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान तो ध्यान के हैं इनमें क्षुधादि जन्य वेदना ही सम्भव नहीं है, दूसरे यहाँ मोहनीय के उदय की सहायता भी नहीं है या है भी तो अति मन्द है, इसलिये इनमें क्षुधादि परीषहों का भी होना सम्भव नहीं है?

समाधान—यह सही है कि इन गुणस्थानों में क्षुधादि परीषह नहीं पाये जाते तथापि जैसे शक्तिमात्र की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि के देव में सातवीं पृथवी तक जाने की योग्यता मानी जाती है वैसे ही यहाँ भी परिषहों के कारण विद्यमान होने से उनका सत्त्व बतलाया है॥ १०॥

जिन अर्थात् सयोगकेवली और अयोगकेवली के केवल ग्यारह परीषह ही सम्भव हैं। वे ये हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। केवलीजिनके चिन्ता ही नहीं है तो भी ध्यान का फल कर्मों के क्षय की अपेक्षा जैसे वहाँ ध्यान का उपचार किया जाता है वैसे ही वेदनीय कर्म के उदयमात्र

की अपेक्षा यहाँ परीषहों का उपचार से निर्देश किया गया है। वैसे तो उन्हें सातिशय शरीर और अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाने से उनके क्षुधा तृषा आदि परीषहों की सम्भावना ही नहीं है। हम संसारी जनों के शरीर के समान केवली जिनके शरीर में त्रस और स्थावर जीव नहीं पाये जाते। केवलज्ञान के प्राप्त होते ही उनका शरीर परम औदारिक हो जाता है, उसमें मल मूत्र आदि कोई दोष नहीं रहते। ऐसी हालत में उनके क्षुधा, पिपासा आदि की बाधा मानना नितान्त असम्भव है। तत्त्वतः परीषह व्यवहार तो छठे गुणस्थान तक ही सम्भव है। अगले गुणस्थान ध्यान के होने से उनमें कारणों के सद्भाव की अपेक्षा से परीषह व्यवहार किया जाता है, इसलिये केवली जिनके क्षुधा आदि ग्यारह परीषह नहीं होते यह समझना चाहिये। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये 'एकादश जिने' इस सूत्र में 'न सन्ति' इस पद का अध्याहार करके 'केवली' जिनके ग्यारह परीषह नहीं हैं, यह दूसरा अर्थ किया जाता है।

किन्तु बादरसाम्पराय जीव के सब परीषहों का पाया जाना सम्भव है, क्योंकि यहाँ सभी परीषहों के कारणभूत कर्मों का सद्भाव पाया जाता है। बादरसाम्पराय से यहाँ प्रमत्तसंयत से लेकर नौवें गुणस्थान तक के गुणस्थान लेने चाहिये।

शंका—अदर्शन परीषह का कारण दर्शनमोहनीय का उदय बतलाया है। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व सो इनमें से सम्यक्त्वप्रकृति का उदय सातवें तक पाया जा सकता है, इस लिये अदर्शन परीषह को सम्भावना सातवें तक मान भी ली जावे तब भी आठवें व नौवें गुणस्थान में इसकी किसी भी हालत में सम्भावना नहीं है फिर यहाँ नौवें गुणस्थान तक बाईस परीषह क्यों कहे ?

समाधान—सूत्र में बादरसाम्पराय पद है और बादरसाम्पराय

का अर्थ है स्थूल कषाय। यह नौवें गुणस्थान तक सम्भव है इस दृष्टि से बादरसाम्पराय का अर्थ नौवें गुणस्थान तक किया है वैसे तो अदर्शन परीषह का पाया जाना आठवें व नौवें गुणस्थान में किसी भी हालत में सम्भव नहीं है, क्योंकि इन गुणस्थानों में दर्शनमोहनीय की किसी भी प्रकृति का उदय नहीं पाया जाता ॥ १२ ॥

अब कौन कौन परीषह किन-किन कर्मों के निमित्त से होते हैं यह बतलाते हैं। ज्ञानावरण कर्म प्रज्ञा और अज्ञान इन दो परीषहों का

कारणों का निर्देश

कारण है। यहाँ प्रज्ञा से क्षायोपशमिक विशेष ज्ञान लिया गया है। ऐसे ज्ञान से कचित् कदाचित् अहंकार पैदा होता हुआ देखा जाता है पर यह अहंकार अन्य ज्ञानावरण के सद्भाव में ही सम्भव है इसलिये प्रज्ञा परीषह का कारण ज्ञानावरण कर्म बतलाया है। दर्शनमोह अदर्शन परीषह का कारण है। अन्तराय कर्म अलाभ परीषह का कारण है। चारित्रमोहनीय कर्म नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषहों के कारण हैं। तथा वेदनीय कर्म उक्त परीषहों के सिवा शेष ग्यारह परीषहों के कारण हैं।

बाईस परीषहों में ऐसे कितने ही परीषह हैं जो एक जीव में एक साथ सम्भव नहीं हैं। जैसे शीत और उष्ण ये दोनों परीषह एक साथ

एक साथ एक जीव में सम्भव परीषहों की संख्या

सम्भव नहीं हैं। जब शीत परीषह होगा तब उष्ण परीषह सम्भव नहीं और जब उष्ण परीषह होगा तब शीत परीषह सम्भव नहीं। इस प्रकार एक तो यह कम हो जाता है। इसी प्रकार चर्या, शय्या और निषद्या ये तीनों परीषह एकसाथ सम्भव नहीं, इनमें से एक काल में एक ही होगा। इस प्रकार दो ये कम हो जाते हैं। कुल मिलाकर तीन कम हुए। इसी से सूत्रकार ने एक साथ एक जीव में उन्नीस परीषह बतलाये हैं।

इन बाईस परीषहों पर विजय पाने से कर्मों का संवर होता है ॥ ८-१७ ॥

चरित्र के भेद—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायय-थाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चारित्र है ॥ १८ ॥

संयत की कर्मों के निवारण करने के लिए जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रवृत्ति होती है वह चारित्र है। यह परिणामों की विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से और निमित्तभेद से पाँच प्रकार का बतलाया है। विशेष खुलासा इस प्रकार है—

सामायिक में समय शब्द का अर्थ है सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप इनके साथ ऐक्य स्थापित करना। इस प्रकार आत्मपरिणामों की वृत्ति बनाये रखना ही सामायिक है। तात्पर्य यह है कि राग और द्वेष का निरोध करके सब आवश्यक कर्तव्यों में समताभाव बनाये रखना ही सामायिक है। इसके नियत-काल और अनियतकाल ऐसे दो भेद हैं। जिनका समय निश्चित है ऐसे स्वाध्याय आदि नियतकाल सामायिक है और जिनका समय निश्चित नहीं है ऐसे ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है। जैसे अहिंसाव्रत सब व्रतों का मूल है वैसे ही सामायिक चारित्र सब चारित्रों का मूल है। "मैं सर्व सावद्ययोगसे विरत हूँ" इस एक व्रत में समावेश हो जाने से एक सामायिक व्रत माना है और वही एक व्रत पाँच या अनेक भेद रूप से विवक्षित होने के कारण छेदोपस्थाना चारित्र कहलाता है।

सामयिक चारित्र

इनमें प्रथम द्रव्यार्थिक नयका और दूसरा पर्यायार्थिक नय का विषय है। तत्त्वतः इनमें अनुष्ठानकृत कोई भेद नहीं है। केवल विवक्षाभेद से ये दो चारित्र हैं।

छेदोपस्थाना चारित्र

जो तीस वर्ष तक सुखपूर्वक घर में रहा, अनन्तर दीक्षा लेकर जिसने तीर्थंकरके पादमूल में प्रत्याख्यानपूर्वका अध्ययन किया उसे परिहारविशुद्धिचारित्र की प्राप्ति होती है। प्राणियों की हिंसा का परिहार होने से यह चारित्र विशुद्धि को प्राप्त होता है इसलिए परिहारविशुद्धिचारित्र कहलाता है।

परिहारविशुद्धि चारित्र

जिसमें क्रोध आदि अन्य कषायों का तो उदय होता नहीं किन्तु केवल अति सूक्ष्म लोभ का उदय होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है। यह केवल दसवें गुणस्थान में होता है।

सूक्ष्मसाम्परायचारित्र

जिसमें किसी भी कषाय का उदय न होकर या तो वह उपशान्त रहता है या क्षीण वह यथाख्यात चारित्र है। वह ग्यारहवें गुणस्थान से होता है।

यथाख्यातचारित्र

यह पाँचों प्रकार का चारित्र आत्मा की स्थिरता का कारण होने से संवर का प्रयोजक है॥ १०॥

तप का वर्णन—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः॥ १९॥

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्॥

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छः प्रकार का बाह्य तप है।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छः प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

विषयों से मन को हटाने के लिए और राग द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन जिन उपायों द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मन को तपाया जाता है अर्थात् इन पर विजय प्राप्त की जाती है वे सभी उपाय तप हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद हैं। जिसमें बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से जो दूसरों को दीख पड़े वह बाह्य तप है। तथा इसके विपरीत जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो और जिसमें बाह्य द्रव्यों की प्रधानता न होने से जो सबको न दीख पड़े वह आभ्यन्तर तप है। बाह्य तप का फल मुख्यतया आभ्यन्तर तप की पुष्टि करना है क्योंकि ऐसा कायक्लेश जिससे मनोनिग्रह नहीं होता तप नहीं है। इनमें से प्रत्येक के छह छह भेद हैं जिनका नाम निर्देश सूत्रकार ने स्वयं किया है।

बाह्य तप

अशन अर्थात् भोजन का त्याग करना अनशन है। यह संयम की पुष्टि, राग का उच्छेद, कर्मका विनाश और ध्यान की प्राप्ति के लिये किया जाता है। २ भूखसे कम खाना अवमौदर्य तप है। मुनि का उत्कृष्ट आहार बत्तीस ग्रास बतलाया गया है इससे कम खाना अवमौदर्य है। यह संयम को जागृत रखने, दोषों के प्रशम करने और सन्तोष तथा स्वाध्याय आदि की सिद्धि के लिये धारण किया जाता है। ३ एक घर या एक गली में आहार की विधि मिलेगी तो आहार लूँगा अन्यथा नहीं इत्यादि रूप से वृत्ति का परिसंख्यान करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। यह चित्त वृत्ति पर विजय पाने और आसक्ति को कम करने के लिये धारण किया जाता है। ४ घी आदि वृष्य रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है। यह इन्द्रियों और निद्रा पर विजय पाने तथा सुखपूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिये धारण किया जाता है। ५ एकान्त शून्य घर आदि में सोना

बैठना विविक्तशय्यासन तप है। यह निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिये धारण किया जाता है। आतापन योग, वृक्ष के मूलमें निवास करना, खुले मैदान में सोना या बहुत प्रकार की आसनों आदि का लगाना आदि कायक्लेश तप है। यह देह को सहनशील बनाने के लिये, सुख विषयक आसक्ति को कम करने के लिये और प्रवचन की प्रभावना करने के लिये धारण किया जाता है।

आभ्यन्तर तप

१ जिससे प्रमादजनित दोषों का शोधन किया जाता है वह प्रायश्चित्त है। २ ज्ञान आदि का बहुमान करना और पूज्य पुरुषों में आदर-भाव रखना विनय है। ३ अपने शरीर द्वारा या अन्य साधनों द्वारा उपासना करना अर्थात् सेवा शुश्रूषा करना वैयावृत्य है। ४ आलस्य का त्याग कर निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना स्वाध्याय है। ५ अहंकार और ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ६ चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।

यह बारहों प्रकार का तप संवर का कारण होकर भी प्रमुखता से निर्जरा का कारण है। स्वावलम्बन की दृष्टि से इसका जीवन में बड़ा महत्त्व है॥ १९-२०॥

प्रायश्चित्त आदि तपों के भेद व उनका नाम निर्देश—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

ध्यान से पहले के आभ्यन्तर तपों के अनुक्रम से नौ, चार, दस, पांच और दो भेद हैं।

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन यह नव प्रकारका प्रायश्चित्त है।

ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ये चार विनय हैं।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्त्य के भेद से दस प्रकार का वैयावृत्त्य है।

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच प्रकार के स्वाध्याय हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग यह दो तरह का व्युत्सर्ग है।

आगे चल कर ध्यान का विचार विस्तार से करनेवाले हैं इसलिये यहां उसके भेदों को न गिना कर शेष आभ्यन्तर तपों के भेद गिनाये गये हैं। अब अनुक्रम से उनका विस्तृत विचार करते हैं जो निम्न प्रकार है—

प्रायश्चित्त के नौ भेद

१ गुरु के सामने शुद्धभाव से आलोचना सम्बन्धी दस दोषों को टाल कर अपने दोष का निवेदन करना आलोचन है। २ किये गये अपराध के प्रति 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके पुनः वैसे दोषों से बचते रहना प्रतिक्रमण है। ३ आलोचन और प्रतिक्रमण इन दोनों का एक साथ करना तदुभय है। यद्यपि प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त भी आलोचनपूर्वक ही होता है तथापि प्रतिक्रमण और तदुभयमें अन्तर है। प्रतिक्रमण

शिष्य द्वारा किया जाता है और तदुभय का अधिकारी गुरु है। ४ अन्न, पात्र और उपकरण आदि के मिल जाने पर उनका त्याग करना विवेक है। अथवा किसी कारण से अप्रासुक द्रव्य का या त्यागे हुए प्रासुक द्रव्य का ग्रहण हो जाय तो स्मरण करके उसका त्याग कर देना विवेक है। ५ दुःस्वप्न और कदाचित् मन में बुरे विचार आदि के आने पर उस दोष के परिहार के लिये ध्यानपूर्वक नियत समय तक कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है। ६ दोष विशेष के हो जानेपर उसका परिहार करने के लिये अनशन आदि करना तप है। ७ जो साधु चिरकाल से दीक्षित है, स्वभाव से शूर है और गर्विष्ठ है उससे किसी प्रकार का दोष हो जाने पर उस दोष के परिहार के लिये कुछ समय की दीक्षा का छेद करना छेद है। ८ किसी बड़े भारी दोष के लगने पर उस दोष का परिहार करने के लिये कुछ काल के लिये साधु को संघ से जुदा रखना और गुरु के सिवा शेष साधुओं के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रखने देना परिहार है। ९ किसी बड़े भारी दोष के लगने पर उस दोष का परिहार करने के लिये पूरी दीक्षा का छेद करके फिर से दीक्षा देना उपस्थापना है। ये सब प्रायश्चित्त देश काल की योग्यता और शक्ति का विचार करके दिये जाते हैं॥ २२॥

विनय के चार भेद

१ मोक्षोपयोगी ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास चालू रखना और किये हुए अभ्यास को स्मरण रखना ज्ञान विनय है। २ सम्यग्दर्शन का शंकादि दोषोंसे रहित होकर पालन करना दर्शन विनय है। ३ सामायिक आदि यथायोग्य चारित्र के पालन करने में चित्त का समाधान रखना चारित्र विनय है। ४ आचार्य आदि के प्रति समुचित व्यवहार करना जैसे उनके सामने विनयपूर्वक जाना, उनके आने पर उठ कर खड़ा हो जाना, आसन देना, नमस्कार करना इत्यादि उपचार विनय है॥ २३॥

जिनकी वैयावृत्त्य की जाती है वे दस प्रकार के हैं। यथा—१ जिनका मुख्य काम व्रतों का आचरण कराना है वे आचार्य कहलाते हैं। २ जिनसे मोक्षोपयोगी शास्त्रों का अभ्यास किया जाता है वे उपाध्याय कहलाते हैं। ३ जो महोपवास आदि बड़े और कठोर तप करते हैं वे तपस्वी हैं। ४ जो शिक्षा लेनेवाले हों वे शैक्ष हैं। ५ रोग आदि से जिन का शरीर क्लांत हो वे ग्लान हैं। ६ स्थविरों की सन्तति गण है। ७ दीक्षा देनेवाले आचार्य की शिष्य परम्परा कुल है। ८ जो चारों वर्ण के रहे हैं ऐसे श्रमणों का समुदाय संघ है। ९ जो चिरकाल से प्रव्रज्याधारी हों वे साधु हैं। १० जिनका जनता में विशेष आदर सत्कार होता है वे मनोज्ञ हैं। ये दस प्रकार के साधु हैं जिनकी शरीर द्वारा व अन्य प्रकार से वैयावृत्त्य करनी चाहिये ॥ २४ ॥

वैयावृत्य के दस भेद

१ ग्रन्थ, अर्थ या दोनों का निर्दोष रीति से पाठ लेना वाचना है। २ शङ्का को दूर करने के लिये या विशेष निर्णय करने के लिये पृच्छा करना पृच्छना है। ३ पढ़े हुए पाठ का मन से अभ्यास करना अर्थात् उसका पुनः पुनः मन से विचार करते रहना अनुप्रेक्षा है। ४ जो पाठ पढ़ा है उसका शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारण करना आम्नाय है। ५ धर्म कथा करना धर्मोपदेश है ॥२५॥

स्वाध्याय के पाँच भेद

शरीर आदि में अहंकार और ममकार भाव के होने पर उसका त्याग करना व्युत्सर्ग है। यह त्यागने योग्य वस्तु बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की है। इससे व्युत्सर्ग भी दो प्रकार का हो जाता है। जो मकान, खेत, धन और धान्य आदि जुदे हैं पर उनमें अपनी ममता बनी हुई है वे बाह्य उपधि हैं और आत्मा के परिणाम जो क्रोधादिक रूप होते हैं वे आभ्यन्तर उपधि हैं। व्युत्सर्ग में इन दोनों प्रकार के उपधि-परिग्रहों का त्याग किया जाता है इसलिये व्युत्सर्ग दो प्रकार का है ॥ २६ ॥

व्युत्सर्ग के दो भेद

ध्यान का वर्णन—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्[1] ॥२७॥

उत्तम संहननवाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

यहाँ ध्यान का अधिकारी, उसका स्वरूप और काल इन तीन बातों का उल्लेख किया गया है। यद्यपि ध्यान सब संसारी जीवों के होता है इसलिये इस दृष्टि से विचार करने पर प्रस्तुत सूत्र की रचना उपयुक्त प्रतीत नहीं होती किन्तु यहाँ पर प्रशस्त ध्यान की प्रधानता से इस सूत्र की रचना हुई है ऐसा समझना चाहिये।

अधिकारी

संहनन छह हैं उनमें से वज्रर्षभनाराच संहनन, वज्र नाराचसंहनन और नाराचसंहनन ये तीन उत्तम संहनन हैं। प्रस्तुत सूत्र में उत्तम संहननवाले के ध्यान बतलाया है इसका यह अभिप्राय है कि उत्तम संहननवाला ही ध्यान का अधिकारी है क्योंकि चित्त को स्थिर करने के लिये आवश्यक शरीर बल अपेक्षित रहता है जो उक्त तीन संहननवालों के सिवा अन्य के नहीं हो सकता।

शंका—उक्त तीन संहननों के सिवा शेष संहननवाले जीवों के जो ध्यान होता है वह क्या वास्तव में ध्यान नहीं है?

समाधान—ध्यान तो वह भी है पर यहाँ उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि पर चढ़ने की पात्रता रखनेवाले जीव के ध्यान की अपेक्षा से वर्णन किया है, क्यों क संवर और निर्जरा के उपायों में ऐसी ही योग्यतावाले प्राणी का ध्यान अपेक्षित है। इसी से प्रस्तुत सूत्र में तीन उत्तम संहननों में से किसी एक संहननवाले जीव को ध्यान का अधिकारी बतलाया है।

---

[1] श्वेताम्बर परम्परा में 'आन्तर्मुहूर्तात्' के स्थान में 'आ मुहूर्तात्' स्वतन्त्र सूत्र है।

चित्त को अनवस्थित स्वभाव बतलाया है। वह एक विषय पर चिरकाल तक टिकता ही नहीं, क्षण क्षण में बदलता रहता है। और

स्वरूप

यह बदलने का क्रम कभी कभी तो बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् चित्त को बलात् अन्य विषय से हटाकर विवक्षित विषय में लगाया जाता है और कभी कभी अबुद्धिपूर्वक भी होता है, अर्थात् स्वभावतः मन एक विषय पर न टिककर बिना प्रयोजन के ही दुनिया की बातें सोचा करता है। पर चित्त की इस प्रवृत्ति से लाभ नहीं, अतः बड़े प्रयत्न के साथ उसे अन्य अशेष विषयों से हटाकर किसी एक उपयोगी विषय में स्थिर रखना ही ध्यान है। चित्त छद्मस्थ जीव के ही पाया जाता है, क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान का सद्भाव वहीं तक बतलाया है, इसलिये वास्तव में ध्यान बारहवें गुणस्थान तक ही होता है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में ध्यान का उल्लेख केवल उपचार से किया है।

कोई भी ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है इसके बाद चित्तवृत्ति की धारा ही बदल जाती है, अतः ध्यान का

काल

काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं बनता है। लोक में जो प्राणायाम द्वारा बहुत बड़े काल तक समाधि साधने की बातें सुनने में आती हैं सो वास्तव में ऐसी समाधि ध्यान नहीं है। इससे शरीरातिशयों की प्राप्ति भले ही हो जाय पर आत्मशुद्धि नहीं होती, क्योंकि ऐसी समाधि एक प्रकार की बेहोशी ही है जिसमें सुषुप्ति के समान मन काम नहीं करता। पुराण ग्रन्थों में भी 'बाहुबलि ने एक वर्ष तक लगातार ध्यान किया' इत्यादि उल्लेख आते हैं सो उनका अभिप्राय इतना ही है कि इतने दिन उनकी बाह्य प्रवृत्ति बन्द रही। मानसिक वृत्ति में उनके भी अन्तर्मुहूर्त के बाद निरन्तर बदल होता रहा है ॥ २७ ॥

ध्यान के भेद और उनका फल—

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं।

उनमें से पर अर्थात् अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

१ ऋत का अर्थ दुःख है। जिसके होने में दुःख का उद्वेग या तीव्रता निमित्त है वह आर्तध्यान है। २ रुद्र का मतलब क्रूर परिणामों से है। जो क्रूर परिणामों के निमित्त से होता है वह रौद्र ध्यान है। ३ जो शुभ राग और सदाचरण का पोषक है वह धर्म्यध्यान है और ४ मन की अत्यन्त निर्मलता के होने पर जो एकाग्रता होती है वह शुक्ल ध्यान है। इस प्रकार ये चार ध्यान हैं। इनमें से अन्त के दो ध्यान मोक्ष अर्थात् जीवन की विशुद्धि के प्रयोजक हैं इसलिये वे सुध्यान कहलाते हैं और प्रारम्भ के दो ध्यान संसार के कारण होने से दुर्ध्यान कहे जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

आर्तध्यान का निरूपण—

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिये चिन्तासातत्य का होना प्रथम आर्तध्यान है।

प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है।

वेदना के होने पर उसके दूर करने के लिये सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है।

आगामी विषय की प्राप्ति के लिये निरन्तर चिन्ता करना चौथा आर्तध्यान है।

वह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के होता है।

पूर्वोक्त चार ध्यानों में से यहाँ आर्तध्यान के भेद और उनके स्वामी इनका विचार किया गया है। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि आर्तध्यान का मुख्य आधार पीड़ा है। वह पीड़ा अनिष्ट वस्तु का संयोग, इष्ट वस्तु का वियोग, प्रतिकूल वेदना और आगामी भोगाकांक्षा इन चार कारणों में से किसी एक के निमित्त से हुआ करती है इसलिये निमित्त भेद से इस ध्यान के चार भेद हो जाते हैं।

१ जो वस्तु अपने को अप्रिय है उसका संयोग होने पर तज्जन्य पीड़ा से व्याकुल होकर उस वस्तु के वियोग के लिये सतत चिन्ता करना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। २ पुत्रादि इष्ट वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर चिन्ता करते रहना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। ३ शारीरिक व मानसिक किसी भी प्रकार की पीड़ा के होने पर उसके दूर करने के लिये सतत चिन्ता करते रहना वेदना नामक आर्तध्यान है और ४ आगामी भोगों की प्राप्ति के लिये चिन्ता करते रहना निदान आर्तध्यान है। ये आर्तध्यान प्रारम्भ के छह गुणस्थानों तक हो सकते हैं। उसमें भी निदान आर्तध्यान प्रमत्तसंयत गुणस्थान में नहीं होता, क्योंकि भोगा कांक्षा की भावना के होने पर सर्वविरति का त्याग हो जाता है ॥ ३०-३४ ॥

रौद्रध्यान का निरूपण—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ३५

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के लिये सतत चिन्ता करना रौद्रध्यान है। वह अविरत और देशविरत में सम्भव है।

यहाँ निमित्त की अपेक्षा रौद्रध्यान के भेद और उनके स्वामी बतलाये गये हैं। यह पहले ही बतला आये हैं कि रौद्रध्यान का मूल आधार क्रूरता है। यहाँ उस क्रूरता के जनक हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण ये चार निमित्त लिये गये हैं इसलिये रौद्रध्यान के चार भेद हो जाते हैं—हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी। इनका अर्थ इन नामों पर से ही स्पष्ट है। यह ध्यान प्रारम्भ के पाँच गुणस्थान तक सम्भव है। देशविरत के भी कदाचित् परिग्रह की रक्षा आदि निमित्त से परिणामों में तीव्र कलुषता उत्पन्न हो जाती है, इसलिये देशविरत गुणस्थान तक इस ध्यान का सद्भाव बतलाया है॥ ३५॥

धर्म्यध्यान का निरूपण—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्[१] ॥ ३६ ॥

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।

यहाँ निमित्तभेद से धर्म्यध्यान के चार भेद हैं। १ किसी भी पदार्थ का विचार करते समय ऐसा मनन करना कि इस विषय में जो जिन देव की आज्ञा है वह प्रमाण है आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। २ जो सन्मार्ग पर न होकर मिथ्या मार्ग पर स्थित हैं उनका मिथ्यामार्ग से छुटकारा

---

१ श्वेताम्बर परम्परा में 'धर्म्यम्' के स्थान में 'धर्ममप्रमत्तसंयतस्य' सूत्र पाठ है। तथा इसके आगे 'उपशान्तक्षीणकषाययोश्च' अतिरिक्त सूत्र है।

कैसे हो इस दिशा में सतत विचार करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। ३ द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव इनकी अपेक्षा कर्म कैसे कैसे फल देते हैं इसका सतत विचार करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। ४ लोक के आकार और उसके स्वरूप के विचार में अपने चित्त को लगाना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। ये धर्म्यध्यान के चार भेद हैं। ये अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवों के सम्भव हैं। तात्पर्य यह है कि श्रेणि आरोहण के पहले-पहले धर्म्यध्यान होता है और श्रेणि आरोहण के समय से शुक्लध्यान होता है ॥ ३६ ॥

शुक्ल ध्यान का निरूपण—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि।

त्र्यैकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

आदि के दो शुक्ल ध्यान पूर्व विद के होते हैं।

बाद के दो केवली के होते हैं।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं।

वे क्रम से तीन योग वाले, एक योग वाले, काययोग वाले और अयोगी के होते हैं।

पहले के दो एक आश्रयवाले सवितर्क और सवीचार होते हैं।

दूसरा ध्यान अवीचार है।

वितर्क का अर्थ श्रुत है।

अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति वीचार है।

इन सूत्रों में शुक्ल ध्यान का वर्णन करते हुए उसके स्वामी, भेद और स्वरूप इन तीन बातों पर प्रकाश डाला गया है।

स्वामी

३९ वें सूत्र में शुक्ल ध्यान के चार भेद बतलाये हैं। उसका स्वामी किस पात्रता का जीव होता है और कौन योग के रहते हुए वे ध्यान होते हैं इस प्रकार यहां स्वामी का कथन दो प्रकार से किया गया है। पात्रता की दृष्टि से विचार करते हुए बतलाया है कि जो पूर्वधर हों उनके प्रारम्भ के दो शुक्लध्यान होते हैं और केवली के अन्त के दो शुक्ल ध्यान होते हैं। यहां पूर्वधर के आदि के दो शुक्ल ध्यान होते हैं ऐसा कथन करने से सभी पूर्वधरों के शुक्ल ध्यान प्राप्त हुआ किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि श्रेणी पर आरोहण करने के पूर्व धर्म्यध्यान होता है और श्रेणी में शुक्लध्यान होता है, इसलिये यहां ऐसे ही पूर्वधर लेने चाहिये जो उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में स्थित हों। इसमें भी शुक्लध्यान का पहला भेद उपशम श्रेणि के सब गुणस्थानों में और क्षपक श्रेणि के दसवें गुणस्थान तक होता है तथा दूसरा भेद बारहवें गुणस्थान में होता है। इसी प्रकार शुक्लध्यान का तीसरा भेद सयोगकेवली के और चौथा भेद अयोगकेवली के होता है।

योग की अपेक्षा तीनों योगवाला प्रथम ध्यान का स्वामी है। अर्थात् प्रथम ध्यान के रहते हुए योग बदल सकता है। दूसरा योग तीन योगों में से किसी एक योगवाले के होता है। तीसरा ध्यान सिर्फ काययोगवाले के और चौथा ध्यान अयोगी के होता है।

अन्य ध्यानों के समान शुक्लध्यान के भी चार भेद किये गये हैं।

भेद

जिनके क्रम से ये नाम हैं—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कअवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति।

प्रथम दो शुक्लध्यान पूर्वधारी के होते हैं। इसी से वे एकाश्रयी और सवितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित कहे गये हैं। तथापि इनमें इतना अन्तर है। वह यह कि प्रथम में पृथक्त्व अर्थात् भेद है और दूसरे में एकत्व अर्थात् अभेद है। इसी तरह प्रथम में वीचार अर्थात् अर्थ, व्यजन और योग का संक्रम है जब कि दूसरा वीचार से रहित है। इसी कारण से इन ध्यानों के नाम क्रमशः पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कअवीचार रखे गये हैं। तथा तीसरा ध्यान सूक्ष्म काययोग के समय और चौथा ध्यान क्रिया अर्थात् योग क्रिया के उपरत हो जाने पर होता है। इसी से इनके नाम क्रमशः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति रखे गये हैं। यह इनके नामकरण की सार्थकता है। अब इनका स्वरूप और कार्य बतलाते हैं—

पृथक्त्ववितर्कवीचार

जब उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर आरोहरण करनेवाला कोई एक पूर्वज्ञानधारी मनुष्य श्रुतज्ञान के बल से किसी भी परमाणु आदि जड़ या आत्मरूप चेतन द्रव्य का चिन्तवन करता है और ऐसा करते हुए वह उसका द्रव्यास्तिक दृष्टि से या पर्यायास्तिक दृष्टि से चिन्तवन करता है। द्रव्यास्तिक दृष्टि से चिन्तवन करता हुआ पुद्गलादि विविध द्रव्यों में किस दृष्टि से साम्य है और इनके अवान्तर भेद भी किस प्रकार से हो सकते हैं इत्यादि बातों का विचार करता है। पर्यायास्तिक दृष्टि से विचार करता हुआ वह उनकी वर्तमानकालीन विविध अवस्थाओं का विचार करता है। और श्रुतज्ञान के आधार से कभी यह जीव किसी एक द्रव्यरूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप अर्थ पर, एक द्रव्यरूप अर्थ पर से किसी एक पर्याय-

रूप अर्थ पर, एक पर्यायरूप अर्थ पर से दूसरे पर्यायरूप अर्थ पर या एक पर्यायरूप अर्थ पर से किसी एक द्रव्यरूप अर्थ पर ज्ञानाधारा को संक्रमित करके चिन्तवन के लिये प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार कभी अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर या किसी एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर चिन्तवन के लिये प्रवृत्त होता है। तथा ऐसा करता हुआ यह कभी मनोयोग आदि तीन में से किसी एक योग का आलम्बन लेता है, और फिर उसे छोड़ कर अन्य योग का आलम्बन लेता है तब उसके होनेवाला वह ध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार कहलाता है। तात्पर्य यह है कि इस ध्यान में वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान का आलम्बन लेकर विविध दृष्टियों से विचार किया जाता है इसलिये तो यह पृथक्त्ववितर्क हुआ और इसमें अर्थ, व्यंजन तथा योग का संक्रमण होता रहता है इसलिये यह वीचार हुआ; इस प्रकार इस ध्यान का पूरा नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार पड़ा है। इस ध्यान द्वारा यह जीव मुख्य रूपसे चारित्र मोहनीय का या तो उपशमन करता है या क्षपण और इस बीच में अन्य प्रकृत्तियों का भी क्षपण करता है।

एकत्ववितर्क अवीचार

तथा जब उक्त जीव क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त होकर वितर्क अर्थात् श्रुत के आधार से किसी एक द्रव्य या पर्याय का ही चिन्तवन करता है और ऐसा करते हुए वह जिस द्रव्य, पर्याय, शब्द या योग का अवलम्बन लिये रहता है उसे नहीं बदलता है तब उक्त ध्यान एकत्ववितर्कअवीचार कहलाता है। इस ध्यान द्वारा यह जीव घातिकर्म की शेष प्रकृतियों का क्षपण कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

शंका—जब कि पृथक्त्व का अर्थ विविधता है और वीचार का अर्थ संक्रमण तब इन दोनों शब्दों को रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी तरह एकत्व और अवीचार इन दो शब्दों को रखने की

भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनमें से किसी एक शब्द के देने से दूसरे का काम चल जाता है ?

समाधान—विविधता तो अधिकारी भेद से भी हो सकती है। पर यहां ध्यान के आलम्बनभूत विषय और योग की विविधता की दृष्टि से ये शब्द दिये गये हैं। पृथक्त्ववितर्क में विषय और योग दोनों में संक्रमण होता है पर एकत्ववितर्क में ऐसा नहीं होता।

जब सर्वज्ञ देव योग निरोध करते हुए दूसरे सब योगों का अभाव कर सूक्ष्म काययोग को प्राप्त होते हैं तब सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान होता है। तब काय वर्गणाओं के निमित्त से आत्मप्रदेशों का अतिसूक्ष्म परिस्पन्द शेष रहता है इसलिये इसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान कहते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति

किन्तु जब कायवर्गणाओं के निमित्त से होनेवाला आत्मप्रदेशों का अतिसूक्ष्म परिस्पन्द भी शेष नहीं रहता और आत्मा सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाता है तब व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है। उस समय किसी भी प्रकार का योग शेष न रहने के कारण इस ध्यान का उक्त नाम पड़ा है। इस ध्यान के होते ही साता वेदनीय कर्म का आस्रव रुक जाता है और अन्त में शेष रहे सब कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है।

व्युपरतक्रियानिवर्ति

ध्यान में स्थिरता मुख्य है। यद्यपि पिछले सब ध्यानों में ज्ञानधारा की आपेक्षिक स्थिरता ली गई है पर इन दो ध्यानों में श्रुतज्ञान न होने के कारण ज्ञानधारा की स्थिरता नहीं बन सकती, इसलिये क्रिया की स्थिरता और क्रिया के अभाव की एकरूपता की अपेक्षा से इन्हें ध्यान संज्ञा प्राप्त है ॥ ३९-४४ ॥

दस स्थानों में कर्म निर्जरा का तरतमभाव—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः॥४५॥

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धि वियोजक, दर्शन मोह क्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये दस स्थान अनुक्रम से असंख्येय गुण निर्जरावाले होते हैं।

सात तत्त्वों में एक निर्जरातत्त्व भी है। यद्यपि इसका पहले दो बार उल्लेख आ चुका है पर अबतक इसका व्यवस्थित वर्णन नहीं किया है अतः व्यवस्थित वर्णन करने के लिये प्रस्तुत सूत्र की रचना हुई है। कर्मों का अंशतः क्षय ही निर्जरा है। जो सब कर्मों के क्षय को मोक्ष बतलाया है सो सब कर्मों का क्षय कुछ एक साथ तो होता नहीं है, होता तो है वह निर्जरा के क्रम से ही। हाँ अन्त में जो समग्र निर्जरा होती है उसी का नाम मोक्ष है, इस प्रकार विचार करने पर निर्जरा मोक्ष का ही पूर्व रूप प्राप्त होता है। यद्यपि यह निर्जरा सब संसारी जीवों के पाई जाती है पर यहाँ ऐसे जीवों की निर्जरा का ही उल्लेख किया है जो उत्तरोत्तर मोक्ष में सहायक है। ऐसे जीव दस प्रकार के बतलाये हैं। वास्तव में देखा जाय तो ये दस अवस्थाएँ हैं जो एक जीव को भी प्राप्त हो सकती हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि यह प्रथम और जिन यह अन्तिम अवस्था है अर्थात् सम्यग्दृष्टि से यह असंख्यातगुणी निर्जरा का क्रम चालू होकर जिन अवस्था के प्राप्त होने तक चालू रहता है। परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि ही इसका कारण है। जिसके जितनी अधिक परिणामों की विशुद्धि होगी उसके उतनी ही अधिक कर्मों की निर्जरा भी होगी, इस हिसाब से विचार करने पर सम्यग्दृष्टि के सबसे कम और जिनके सबसे अधिक परिणामों की विशुद्धि रहती है। इसका यह अभिप्राय है कि सम्यग्दृष्टि

के सबसे कम और जिनके सबसे अधिक कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का यह तरतम भाव जिन दस अवस्थाओं में पाया जाता है उनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

१ जो दर्शनमोह का उपशम कर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है वह सम्यग्दृष्टि है। २ जो विरताविरत नामक पाँचवें गुणस्थान को प्राप्त है वह श्रावक है। ३ जो सर्वविरति को प्राप्त है वह विरत है। ४ जो अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर रहा है वह अनन्त वियोजक है। ५ जो दर्शनमोह की क्षपणा कर रहा है वह दर्शनमोहक्षपक है। ६ उपशमश्रेणि पर आरूढ़ प्राणी उपशमक कहलाता है। ७ उपशान्तमोह गुणस्थान को प्राप्त जीव उपशान्तमोह कहलाता है। ८ क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ प्राणी क्षपक कहलाता है। ९ क्षीणमोह गुणस्थान को प्राप्त जीव क्षीणमोह कहलाता है। १० और जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो वह जिन कहलाता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि के सिवा शेष नौ स्थानों में अपने पूर्व पूर्व स्थान से असंख्यातगुणी निर्जरा का क्रम बन जाता है पर सम्यग्दृष्टि के किससे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है यह सूत्र में नहीं बतलाया है फिर भी यह दर्शनमोह की उपशामना का प्रारम्भ करनेवाले जीव की होनेवाली निर्जरा की अपेक्षा जानना चाहिये। आशय यह है कि दर्शनमोह की उपशामना का प्रारम्भ करनेवाले जीव के जितनी कर्म निर्जरा होती है उससे असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा सम्यग्दृष्टि के होती है॥ ४५॥

निर्ग्रन्थ के भेद—

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं।

उपधि या ग्रन्थ ये एकार्थवाची शब्द हैं। व्युत्सर्ग तप का वर्णन

करते समय इसके दो भेद बतला आये हैं—बाह्य उपधि और आभ्यन्तर उपधि। बाह्य उपधि में क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य दासी, दास, कुप्य और भाण्ड ये दस आते हैं तथा आभ्यन्तर उपधि से मिथ्यात्व, क्रोधादि चार, हास्यादि छह और तीन वेद ये चौदह लिये जाते हैं। जिसने इन दोनों प्रकार की उपधियों का त्याग कर दिया है वह निर्ग्रन्थ है। यहाँ इस निर्ग्रन्थ के तरतम रूप होनेवाले भावों की अपेक्षा पाँच भेद किये गये हैं जिनका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है—

१ जो उत्तर गुणों को उत्तमता से नहीं पालते किन्तु मूल गुणों में भी पूर्णता को नहीं प्राप्त हैं वे पुलाक निर्ग्रन्थ हैं। पुलाक पयाल को कहते हैं। वह जैसे सारभाग रहित होता है वैसे ही उन निर्ग्रन्थों को जानना चाहिये। २ जो व्रतों को पूरी तरह पालते हैं किन्तु शरीर और उपकरणों को संस्कारित करते रहते हैं, ऋद्धि और यश की अभिलाषा रखते हैं, परिवार से लिपटे रहते हैं और मोह जन्य दोष से युक्त हैं वे बकुश निर्ग्रन्थ हैं। ३ कुशील निर्ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जिनकी परिग्रह से आसक्ति नहीं घटी है, जो मूलगुणों और उत्तरगुणों को पालते हैं तो भी कदाचित् उत्तरगुणों की विराधना कर लेते हैं वे प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ हैं। जो अन्य कषायों पर विजय पा कर भी संज्वलन कषाय के आधीन हैं, वे कषायकुशील निर्ग्रन्थ हैं। ४ जिन्होंने रागद्वेष का अभाव कर दिया है और अन्तर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं वे निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थ हैं। ५ और जिन्होंने सर्वज्ञता को पा लिया है वे स्नातक निर्ग्रन्थ हैं॥ ४६॥

आठ बातों द्वारा निर्ग्रन्थों का विशेष वर्णन—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः॥ ४७॥

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों का व्याख्यान करना चाहिये ।

पहले जो निर्ग्रन्थों के पाँच भेद बतला आये हैं उन्हीं का इन आठ बातों द्वारा विशेष विवरण जानने की प्रस्तुत सूत्र में सूचना की गई है । विवरण नीचे लिखे अनुसार है—

१ संयम

पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम होते हैं । कषायकुशीलों के यथाख्यात के सिवा चार संयम होते हैं तथा शेष दो निर्ग्रन्थों के एक यथाख्यात संयम होता है ।

२ श्रुत

उत्कृष्ट से पुलाक, वकुश और कुशील अभिन्नदसपूर्वधर तथा कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ चौदहपूर्वधर होते हैं । जघन्य से पुलाक आचार वस्तु के ज्ञाता, वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ आठ प्रवचन माता (पाँच समिति तीन गुप्ति) के ज्ञाता होते हैं । तथा स्नातक सर्वज्ञ होने से श्रुत रहित ही होते हैं ।

३ प्रतिसेवना

पुलाक पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन विरमण इन छहों में से किसी एक व्रत का दूसरे के दबाव या बलात्कार के कारण विराधना करनेवाला होता है । वकुश दो प्रकार का होता है — उपकरण वकुश और शरीरवकुश । उपकरणवकुश अच्छे अच्छे उपकरण चाहते हैं और मिले हुए उपकरणों की टीपटाप करते रहते हैं । शरीरबकुश शरीर का संस्कार करते रहते हैं । प्रतिसेवना कुशील मूलगुणों की तो यथावत् रक्षा करते हैं किन्तु उत्तरगुणों की कुछ विराधना कर बैठते हैं । शेष निर्ग्रन्थ विराधना नहीं करते ।

४ तीर्थ

पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ सभी तीर्थकरों के तीर्थकाल में होते हैं ।

५ लिङ्ग

लिङ्ग द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। भाव लिंग की अपेक्षा पाँच ही निर्ग्रन्थ होते हैं अर्थात् सभी के सर्वविरति रूप परिणाम होते हैं किन्तु द्रव्यलिंग सबका एकसा नहीं होता, किसी के पीछी कलण्डलु होता है और किसी के नहीं होता।

६ लेश्या

पुलाक के तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील के अन्त की चार लेश्याएँ होती हैं। उसमें भी सूक्ष्मसाम्परायिक कषायकुशील के और शेष निर्ग्रन्थों के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। स्नातकों में अयोगियों के कोई लेश्या नहीं होती।

७ उपपाद

उत्कृष्ट से पुलाकका उपपाद सहस्रार कल्प में उत्कृष्ट स्थितिवाले देवों में होता है। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील का उपपाद आरण और अच्युत कल्प में बाईस सागरोपम प्रमाण स्थितिवाले देवों में होता है। तथा कषायकुशील और निर्ग्रन्थों का उपपाद सर्वार्थसिद्धि में तेतीस सागर की स्थितिवाले देवों में होता है। जघन्य से इन सबका उपपाद सौधर्मकल्प में दो सागरोपम प्रमाण स्थितिवाले देवों में होता है। किन्तु स्नातक तो नियम से निर्वाण जाते हैं। इनका अन्यत्र उपपाद नहीं होता।

८ स्थान

स्थान शब्द से यहाँ संयमस्थान लिये गये हैं। पूर्ण विरति रूप परिणाम का नाम संयम है। वह सबका एक-सा नहीं होता। किसी का कषाय मिश्रित होता है और किसी का कषाय रहित। यह दोनों प्रकार का संयम कषाय और आलम्बन के भेद से असंख्यात प्रकार का होता है। इससे संयमस्थानों के असंख्यात भेद हो जाते हैं॥ ४७॥

दसवाँ अध्याय

अब तक छह तत्त्वों का निरूपण किया जा चुका है अब केवल मोक्ष तत्त्व का निरूपण बाकी है जो इस अध्याय में किया गया है।

केवलज्ञान की उत्पत्ति में हेतु—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

मोह के क्षय से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के क्षय से केवल ज्ञान प्रकट होता है।

परमात्मा अर्थात् परम विशुद्धि को प्राप्त हुए आत्मा दो तरह के होते हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। कल का अर्थ शरीर है। जो कल अर्थात् शरीर सहित होकर भी परमात्म पद को प्राप्त हो गया है वह सकल परमात्मा है। इसकी अरहन्त, जिन और सर्वज्ञ इत्यादि अनेक संज्ञाएँ हैं। तथा जिसने अन्त में इस शरीर का भी अभाव करके मोक्ष पद को पा लिया है वह निकल परमात्मा है। निकल परमात्मा होने के पहले सकल परमात्म पद की प्राप्ति नियम से होती है। इस पद को पाकर यह जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है। इसी का नाम कैवल्य प्राप्ति है। इस कैवल्य प्राप्ति के लिये उसके प्रतिबन्धक कर्मों का दूर किया जाना आवश्यक है क्योंकि उनको दूर किये बिना इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। वे प्रतिबन्धक कर्म चार हैं। जिनमें से पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है। यद्यपि मोहनीय कर्म कैवल्य अवस्था का सीधा प्रतिबन्ध नहीं करता है, तथापि इसका अभाव हुए बिना शेष कर्मों का अभाव नहीं होता, इसलिये यहाँ इसे भी कैवल्य अवस्था का प्रतिबन्धक माना है। इस प्रकार मोहनीय का अभाव हो

जाने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में तीन कर्मों का नाश होता है और तब जाकर कैवल्य अवस्था की प्राप्ति होती है। इस अवस्था की प्राप्ति हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं इस लये मोक्ष का वर्णन करने के पहले इसका वर्णन किया है ॥ १ ॥

मोक्ष का स्वरूप—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

बन्धहेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

संसार की परिपाटी उस नौका के समान है जिसमें से पानी तो निकाला जा रहा हो पर पानी आने का स्रोत बन्द न हो। यह जीव प्रति समय नवीन कर्मों का बन्ध करता रहता है और पूर्वबद्ध कर्मों के फल को भोगकर उनकी निर्जरा भी करता रहता है। पर जब तक नवीन कर्मों का बन्ध न रुके तब तक बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसके लिये निर्जरा की अपेक्षा कर्मों के होनेवाले बन्ध को रोकना अत्यन्त आवश्यक है। पर यह नवीन बन्ध तब रुक सकता है जब बन्ध के हेतुओं का अभाव किया जाय। पहले बन्ध के हेतु पाँच बतलाये हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनके दूर कर देने से नवीन बन्ध नहीं होता है और तब जाकर संचित कर्मों की निर्जरा भी पूरी तरह से की जा सकती है। इसी कारण से प्रस्तुत सूत्र में सब कर्मों का आत्यन्तिक अभाव करने के लिये बन्ध के हेतुओं का अभाव और निर्जरा का होना आवश्यक बतलाया है। आशय यह है कि यद्यपि कैवल्य प्राप्ति के समय मोहनीय आदि चार कर्मों का अभाव बतला आये हैं पर उसके बाद भी इसके वेदनीय आदि चार कर्म शेष रहते हैं और बन्ध के हेतुओं में योग शेष रहता है जिससे मोक्ष नहीं होता। जब जाकर यह

जीव पहले योग का अभाव करता है और तत्पश्चात् शेष बचे चार कर्मों की समग्र निर्जरा करता है तब इसे मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि विजातीय द्रव्य से सम्बन्ध छूट कर आत्मा का निर्मल आत्म स्वरूप में स्थित हो जाना ही तो मोक्ष है ॥ २ ॥

मोक्ष होते समय और जिन वस्तुओं का अभाव होता है उनका निर्देश—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

तथा औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भाव के अभाव होने से मोक्ष होता है।

पर केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व भाव का अभाव नहीं होता।

मोक्ष प्राप्ति में जैसे पौद्गलिक कर्मों का अत्यन्त अभाव आवश्यक है वैसे ही कुछ अन्य भावों का अभाव भी आवश्यक है। यहाँ ऐसे भावों की गिनती कराते हुए औपशमिक भाव और भव्यत्व भाव इनका तो नामोल्लेख किया है किन्तु शेष भावों का अभाव बतलाने के लिये औपशमिक के आगे आदि पद दे दिया है। अब देखना यह है कि वे सब भाव कितने हैं और क्यों उनका अभाव मोक्षमें आवश्यक है। कुल भाव पाँच प्रकार के गिनाये हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। इनमें से औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये भाव कर्मों के सद्भाव में ही होते हैं, क्योंकि औपशमिक भावों में कर्मों का सत्ता में मौजूद रहना क्षायोपशमिक भावों में किन्हीं का सत्ता में रहना और किन्हीं का स्वमुखेन या किन्हीं का परमुखेन उदय होना तथा औदयिक भावों में कर्मों का उदय होना आवश्यक है। अब जब कि कर्मों का सर्वथा अभाव हो गया तो उनके सद्भाव में होनेवाले ये भाव किसी भी हालत में नहीं हो सकते यह

निश्चित है, इसलिये तो मोक्ष प्राप्त होने के पहले इन भावों का अभाव बतलाया। अब रहे पारिणामिक भाव सो ये जीव के निज भाव हैं, इनके होने में कर्म अपेक्षित नहीं हैं इसलिये मोक्ष में पारिणामिक भावों को बाधक नहीं माना है, तथापि भव्यत्व और अभव्यत्व ये पारिणामिक भाव होते हुए भी जीव के स्वभाव न होकर आपेक्षिक भाव हैं। इनका सद्भाव मुक्त जाने की योग्यता और अयोग्यता पर निर्भर है, इसलिये मोक्ष प्राप्त होने के पहले भव्यत्व भाव का अभाव माना है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त होने के पहले किन भावों का अभाव हो जाता है इसका विचार किया। तथापि इन भावों में क्षायिक भाव भी सम्मिलित हैं और उनका कथन कर्मसापेक्ष है, इसलिये मोक्ष में उनका भी अभाव प्राप्त होता है जो कि इष्ट नहीं है, इसलिये इसी बात के बतलाने के लिये 'अन्यत्र केवल' इत्यादि सूत्र की रचना हुई है। बात यह है कि जितने भी क्षायिक भाव हैं वे सब आत्मा के निज भाव हैं पर संसार दशा में वे कर्मों से घातित रहते हैं और ज्यों ही उनके प्रतिबन्धक कर्मों का अभाव होता है त्यों ही वे प्रकट हो जाते हैं, इसलिये यद्यपि वे क्षायिक कहलाते हैं तथापि निज भाव होने से उनका मोक्ष में अभाव नहीं होता। यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में ऐसे कुछ ही भाव गिनाये हैं पर इनके समान क्षायिक वीर्य, क्षायिक सुख आदि और भी जितने क्षायिक भाव हों उन सब का मोक्ष में अभाव नहीं होता ऐसा प्रकृत में यहाँ समझ लेना चाहिये ॥ ३–४ ॥

मोक्ष होते ही जो कार्य होता है उसका विशेष वर्णन—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

सब कर्मों का वियोग होने के बाद ही मुक्त जीव लोक के अन्त तक ऊपर जाता है।

पूर्व प्रयोग से, संग का अभाव होने से, बन्धन के टूटने से और वैसा गमन करना स्वभाव होने से (मुक्त जीव ऊपर जाता है।)

घुमाये गये कुम्हार के चक्र के समान, लेप से मुक्त हुई तूँबड़ी के समान, अण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान—

धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव लोकान्त से और ऊपर नहीं जाता।

मुक्त होने के पहले जीव कर्मों से बँधा था इसलिये उसकी सारी क्रिया कर्मों के उदयानुसार होती थी, किन्तु कर्मों से मुक्त होने के बाद वह क्या करता है ? कहाँ रहता है इत्यादि प्रश्न होते हैं इन्हीं प्रश्नों का हेतु और दृष्टान्तपूर्वक यहाँ उत्तर दिया गया है—

कर्मों से मुक्त होते ही जीव ऊपर लोक के अन्त तक गति करता है और फिर वहाँ ठहर जाता है। बात यह है कि मुक्ति मनुष्यगति से ही होती है अन्य गति से नहीं और मनुष्यों का सद्भाव ढाई द्वीप और उनके बीच में आये हुए दो समुद्रों में पाया जाता है। इस समस्त क्षेत्र का विष्कम्भ पेंतालीस लाख योजन है। लोक भी, जहाँ मुक्त जीव रहते हैं, इतना ही ठीक इसके ऊपर है, इसलिये मुक्त होते ही जीव ठीक अपनी सीध में ऊपर चला जाता है और उसके सबसे ऊपर के आत्मप्रदेश लोक के अन्तिम प्रदेशों से जा लगते हैं। मुक्त जीव की यह लोकान्तप्रापिणी गति क्यों होती है इसमें सूत्रकार ने चार हेतु और उन हेतुओं की पुष्टि में चार उदाहरण दिये हैं। जिनका खुलासा निम्न प्रकार है—

१ एक तो मुक्त जीव पूर्व प्रयोग से गति करता है। पूर्व प्रयोग का

अर्थ है पूर्व संस्कार से प्राप्त हुआ वेग। जैसे कुम्हार के डण्डे से घुमाने के बाद डण्डे और हाथ के हटा लेने पर भी पूर्व में मिले हुए वेग के कारण चक्र घूमता रहता है वैसे ही कर्म मुक्त जीव भी पूर्व में कर्मों के उदय से प्राप्त आवेश के कारण कर्म के छूट जाने पर भी स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही करता है। २ दूसरे, संग का अभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगति करता है। जैसे तूँबड़ी पर मिट्टी आदि द्रव्य का लेप कर देने पर वह पानी में नीचे चली जाती है किन्तु लेप के दूर होते ही वह पानी के ऊपर आ जाती है। वैसे ही कर्म भार से आक्रान्त हुआ आत्मा उसके आवेश से संसार में परिभ्रमण करता रहता है किन्तु उस कर्मभार के दूर होते ही वह ऊपर ही जाता है। ३ तीसरे, बन्धन के टूटने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगति करता है। जैसे फली में रहा हुआ एरण्ड बीज फली का बन्धन टूटते ही छटक कर ऊपर जाता है वैसे ही कर्म बन्धन से मुक्त होते ही यह जीव ऊपर जाता है। ४ चौथे, ऊपर गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगति करता है। जैसे वायु का झोका लगने से अग्नि की शिखा वायु के झोके के अनुसार तिरछी चारों ओर घूमती है किन्तु वायु के झोके के दूर होते ही वह स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है वैसे ही जब तक जीव कर्मों के झमेले में फँसा रहता है तब तक वह नरक निगोद आदि अनेक गतियों में परिभ्रमण करता रहता है किन्तु कर्म के दूर होते ही वह स्वभाव से ऊपर जाता है। इस प्रकार इन हेतुओं और दृष्टान्तों से यद्यपि यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्त होने के बाद जीव की ऊर्ध्वगति होती है तब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि ऊर्ध्व गति करके भी वह लोक के अन्त में ही क्यों ठहर जाता है? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये सूत्रकार ने यह बतलाया है कि लोकान्त से आगे गति न होने का कारण धर्मास्तिकाय का अभाव है क्योंकि जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक जीव और पुद्गल की गति होती है आगे नहीं ऐसा नियम है।

बारह बातों द्वारा सिद्धों का विशेष वर्णन—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह बातों द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं।

सब सिद्धों का स्वरूप एकसा होता है, इसकी अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं है। इसलिये जिन बारह बातों को लेकर यहाँ विचार करनेवाले हैं उनकी अपेक्षा तत्त्वतः सिद्धों में कोई भेद नहीं होता, फिर भी इस विचार से उनके अतीत जीवन के सम्बन्ध में और यथा सम्भव वर्तमान जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा सकता है इसीलिये प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार ने सिद्ध जीवों के सम्बन्ध में विचार करने की सूचना की है। यहाँ क्षेत्र आदि बारह बातों के द्वारा विचार करते समय भूत और वर्तमान इन दोनों दृष्टियों से विचार करना चाहिये। जो नीचे लिखे अनुसार है—

१ क्षेत्र

वर्तमान का कथन करनेवाले नयकी अपेक्षा सभी के सिद्ध होने का क्षेत्र सिद्धिक्षेत्र, आत्मप्रदेश या आकाशप्रदेश है। तथा भूत का कथन करनेवाले नयकी दृष्टि से जन्म की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमि और संहरण की अपेक्षा मनुष्यलोक सिद्धक्षेत्र है।

२ काल

वर्तमान का कथन करनेवाले नयकी दृष्टि से जो जिस समय में कर्मों से मुक्त होता है वही उसके मुक्त होने का काल है। तथा भूत का कथन करनेवाले नयकी दृष्टि से अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी में जन्मे हुए सिद्ध होते हैं। इसमें भी विशेष विचार करने पर अवसर्पिणी के सुषमदुःषमा काल के अन्तिम भाग में

और दुःषमसुषमा काल में जन्मे हुए सिद्ध होते हैं। किन्तु दुःषमा में जन्मे हुए दुःषमा में सिद्ध नहीं होते। संहरण की अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सब कालों में सिद्ध होते हैं।

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध गति में ही सिद्ध होते हैं। तथा भूतकाल की दृष्टि से यदि अनन्तरगति की अपेक्षा विचार करें तो मनुष्यगति से ही सिद्ध होते हैं और यदि एक गति का अन्तर देकर विचार करें तो चारों गतियों से आकर जीव सिद्ध होते हैं।

३ गति

लिंग से वेद और चिन्ह दोनों लिये जाते हैं। पहले अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अपगतवेदी ही सिद्ध होते हैं। भूतकाल की दृष्टि से भाववेद की अपेक्षा तीनों वेदों से सिद्ध हो सकते हैं किन्तु द्रव्यवेद की अपेक्षा पुलिंग से ही सिद्ध होते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से निर्ग्रन्थ लिंग से ही सिद्ध होते हैं और अतीतकाल की दृष्टि से तो निर्ग्रन्थ लिंग या सग्रन्थ लिंग दोनों से सिद्ध होते हैं।

४ लिंग

तीर्थ की अपेक्षा विचार करने पर कोई तीर्थंकर पद को प्राप्त कर और कोई इस पद को नहीं प्राप्त कर सिद्ध होते हैं। जो इस पद को नहीं प्राप्त कर सिद्ध होते हैं उनमें से कोई तीर्थंकरके सद्भाव में सिद्ध होते हैं और कोई उनके असद्भाव में सिद्ध होते हैं।

५ तीर्थ

वर्तमान दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध किस चारित्र से होते हैं यह नहीं कहा जा सकता, सिद्ध होने के समय में पाँच चारित्रों में से कोई चारित्र नहीं होता। भूत दृष्टि से यदि चौदहवें गुणस्थान का अन्तिम समय लें तब तो यथाख्यात चारित्र से सिद्ध होते हैं और उसके पहले के समयों को लें तो तीन, चार तथा पाँच चारित्रों से सिद्ध होते हैं।

६ चारित्र

प्रत्येक बोधित और बुद्ध बोधित दोनों सिद्ध होते हैं। जो किसी के उपदेश के बिना स्वयं अपनी ज्ञान शक्ति से ही बोध पाकर सिद्ध होते हैं वे प्रत्येक बोधित या स्वयं बोधित कहलाते हैं और जो अन्य ज्ञानी से बोध प्राप्त कर सिद्ध होते हैं वे बुद्धबोधित कहलाते हैं।

७ प्रत्येक बोधित और बुद्धबोधित

वर्तमान दृष्टि से सिर्फ केवलज्ञानी ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से दो, तीन और चार ज्ञानवाले भी सिद्ध होते हैं। दो से मति और श्रुत ये दो ज्ञान लिये जाते हैं। तीन से मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मनःपर्यय ये तीन ज्ञान लिये जाते हैं और चार से मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान लिये जाते हैं।

८ ज्ञान

अवगाहना का अर्थ है आत्म प्रदेशों में व्याप्त कर अमुक आकार से स्थित रहना वर्तमान दृष्टि से जिसका जो चरम शरीर है उससे कुछ न्यून अवगाहना से सिद्ध होते हैं। भूतदृष्टि से जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम जिसे जो अवगाहना प्राप्त हो उससे सिद्ध होते हैं। जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन अरत्नि (हाथ) प्रमाण है, उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है और मध्यम अवगाहना अनेक प्रकार की है।

९ अवगाहना

सिद्ध दो प्रकार के होते हैं—एक निरन्तर सिद्ध और दूसरे सान्तर सिद्ध। प्रथम समय में किसी एक के सिद्ध होने पर तदनन्तर दूसरे समय में जब कोई सिद्ध होता है तो उसे निरन्तर सिद्ध कहते हैं और जब कोई लगातार सिद्ध न होकर कुछ अन्तराल से सिद्ध होता है तब उसे सान्तर सिद्ध कहते हैं। निरन्तर सिद्ध होने का जघन्य काल दो समय और उत्कृष्ट काल आठ समय है। तथा सान्तर सिद्ध होने का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है।

१० अन्तर

एक समय में कम से कम एक जीव सिद्ध होता है और अधिक से अधिक एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं। मध्य के अनेक विकल्प हैं।

११ संख्या

क्षेत्र और काल आदि जिन ग्यारह बातों को लेकर विचार किया गया है उनमें से प्रत्येक के आधार से न्यूनाधिकता का विचार करना अल्पबहुत्व है। वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होनेवालों का सिद्ध क्षेत्र में अल्पबहुत्व नहीं बनता। भूत दृष्टि से क्षेत्र की अपेक्षा विचार करने पर क्षेत्र सिद्ध दो प्रकार के होते हैं— जन्मसिद्ध और संहरणसिद्ध। जो जिस क्षेत्र में जन्मते हैं उसी क्षेत्र से उनके सिद्ध होने पर वे जन्मसिद्ध कहलाते हैं और अन्य क्षेत्र में जन्मे हुए जीवों को अपहरण करके अन्य क्षेत्र में ले जाने पर यदि वे उस क्षेत्र से सिद्ध होते हैं तो वे संहरणसिद्ध कहलाते हैं। इनमें से संहरण सिद्ध थोड़े होते हैं और जन्मसिद्ध संख्यातगुणे होते हैं। इसी प्रकार ऊर्ध्व-लोक सिद्ध सबसे थोड़े होते हैं, अधोलोक सिद्ध उनसे संख्यातगुणे होते हैं और तिर्यग्लोक सिद्ध उनसे संख्यातगुणे होते हैं। समुद्र सिद्ध सबसे थोड़े होते हैं और द्वीपसिद्ध उनसे संख्यातगुणे होते हैं। इसी तरह काल आदि की अपेक्षा भी अल्पबहुत्व का विचार किया जाता है।

१२ अल्पबहुत्व

हिन्दी विवेचन सहित

तत्त्वार्थसूत्र

समाप्त